राष्ट्रीय कवि दिनकर और उनकी काव्यकला

(गुजरात युनिवर्सिटी की पी-एच० डी० उपाधि के लिए स्वीकृत शोध-प्रबंध)

डा० शेखरचंद्र जैन
अध्यक्ष हिन्दी विभाग,
आर्ट्स एण्ड कॉमर्स कालिज, भावनगर

जयपुर पुस्तक सदन : जयपुर

शुभाशंसा

"राष्टीय कवि दिनकर और उनकी काव्य कला" डॉ० शेखर चन्द्र जैन का गुजरात विश्वविद्यालय की पी-एच० डी० उपाधि के लिए स्वीकृत शोध प्रबध है।

प्रस्तुत कृति में डा० जैन ने राष्ट्रीयता और राष्ट्रीय काव्यधारा के संदर्भ में हिन्दी के यशस्वी कवि "दिनकर" के व्यक्तित्व और कृतित्व की समग्रतया निरुपित करते हुए यह सिद्ध करने का प्रयास किया हैं कि मैथिली शरण गुप्त के पश्चात "दिनकर" ही एक ऐसे कवि है जिन्हें निविकार रूप से हिन्दी की राष्ट्रीय काव्याधारा का प्रतिनिधि कवि कहा जा सकता है।

विद्वान लेखक ने दिनकर की काव्यकला के विधायक तत्त्वों का सम्यक अनुशीलन प्रस्तुत ग्रन्थ मे किया है। इस ग्रंथ की एक ध्यान पात्र विशेषता यह है कि लेखक ने अपने पूर्ववर्ती लेखकों द्वारा प्रस्तुत तथ्यों का परीक्षण किया है और यथासंभव कितनी ही भ्रन्तियों का निराकरण भी किया है। इस प्रकार से दिनकर की भाषा छन्द योजना, अलकार योजना तथा उनकी कृतियों के काव्यरूप सबंधी तथ्यों का वैज्ञानिक अनुशीलन करके उन्हें संशोधित रुपमें प्रस्तुत करने का लेखक ने स्तुत्य प्रयास किया है।

यह एक संयोग है कि डा० जैन का शोध-प्रबंध ऐसे अवसर पर प्रकाशित हो रहा है जब कविवर रामधारी सिंह 'दिनकर' की कामाध्यात्म की रचना "उर्वशी" ज्ञानपीठ पुरस्कार से पुरस्कृत हुई।

मुझे विश्वास है प्रस्तुत शोध प्रबंध 'दिनकर' की काव्यकला को समझने के लिए एक नया परिप्रेक्ष्य प्रस्तुत करेगा।

(डा०) अम्बा शंकर नागर
अध्यक्ष हिन्दी विभाग
गुजरात युनिवर्सिटी, अहमदाबाद

समर्पित

पू. पिताजी एवं माताजी को

दो शब्द

डॉक्टर शेखरचन्द्र जैन ने "राष्ट्रीय कवि दिनकर और उनकी काव्य-कला" नाम से मेरे साहित्य के एक पक्ष पर जो थीसिस लिखी है, उसे मैंने देखा है। उनके परिश्रम की मैं प्रशंसा करता हूँ। इस ग्रन्थ के विषय में मुझे इससे अधिक कुछ नहीं कहना चाहिए।

प्राचीन काल मे जो शास्त्र बने, उनमें कहा यह गया था कि जब तक कवि जीवित है, उसके आशय का वर्णन मत करो। किन्तु अब तो शास्त्र की इस आज्ञा का पालन कहीं नहीं हो रहा है।

फिर भी यही बात सच है कि जब तक कवि जीवित है, तब तक उसकी सही समीक्षा नहीं हो सकती। काल जब कवि के शरीर को मच पर से नेपथ्य मे खींच लेता है, तब जनता के सामने कवि नहीं रहता, केवल उसकी कविता बच जाती है। उस समय कविता की जो समालोचना होती है, कवि का जो मूल्यांकन होता है, वही इतिहास का अंग बनता है।

डॉ० शेखरचन्द्र जैन को मैं आशीर्वाद देता हूँ कि वे खूब फूलें-फलें और साहित्य-सेवा के क्षेत्र मे डटे रहें।

पटना-१६ —रामधारीसिंह दिनकर

५-१-७२

विषयानुक्रमणिका

खण्ड—१

गौण पुरुष पात्र : परशुराम, श्रीकृष्ण, इन्द्र, आयु नारीपात्र :
तर्कशीला, रूपसी, प्रेयसी : उर्वशी
आदर्श पत्नि : औशीनरी, सुकन्या
वात्सल्यमयी माँ : कुन्ती
गौण नारी पात्र : चित्रलेखा, मेनका, अन्य अप्सराएँ
निपुणिका एवं मदनिका
ऐतिहासिक पात्र : अशोक
युगीन पात्र : गांधी, विनोबा, जयप्रकाश, राजेन्द्रबाबू,
यतीन्द्रनाथ दास, जवाहरलाल आदि

●●● दिनकर के काव्य में रस-दर्शन :
अंगी रस : वीर रस, शृङ्गार रस,
अन्य रस : रौद्र रस, करुण रस, शान्त रस, अद्भुत रस,
वीभत्स रस, भयानक रस, वात्सल्य रस

●●● जीवन-दर्शन एवं विचार-धारा :
दिनकर-काव्य मे युद्ध-दर्शन :
प्रारम्भिक युद्ध-भावना : ध्वंसात्मक क्रांति का स्वीकार,
युद्ध का चिंतन प्रधान पक्ष, युद्ध के कारण एव अनिवार्यता,
युद्ध मे द्वन्द्व पाप, युद्ध का समाधान शांति एवं साम्य की
भावनाएँ, युद्ध पशुता का चिह्न—नया दृष्टिकोण

●●● दिनकर-काव्य में सौन्दर्य :
सौन्दर्य का बाह्य पक्ष, सौन्दर्य का द्विधा-ग्रस्त चित्रण,
नारी का मांसल सौन्दर्य, 'उर्वशी' मे सौन्दर्य का बाह्य
रूप,
सौन्दर्य का आन्तरिक पक्ष 'उर्वशी' में सौन्दर्य का
आन्तरिक पक्ष

●●● दिनकर-काव्य में प्रेम :
प्रेम का स्वरूप : प्रेम का राष्ट्रीय रूप,
प्रेम का रूमानी रूप : 'उर्वशी' से पूर्व प्रेम का रूमानी रूप,
'उर्वशी' में प्रेम का स्वरूप . दैवी रूप, मानवीय रूप
प्रेम का आदर्श रूप : हृदय के परिष्कार रूप मे, मानवता-
वादी रूप में, मैत्री-रूप में, वात्सल्य-रूप में, दाम्पत्य-रूप में

●●● दिनकर काव्य में काम-चेतना :
काम : भारतीय दृष्टि

भूमिका

छायावादोत्तर-कालीन कवियो मे कवि-वर रामधारी सिह 'दिनकर' का स्थान विशिष्ट है। दिनकर जी के काव्य मे राष्ट्र की युगीन प्रवृत्तियाँ विशेष रूप से प्रतिबिम्बित हुई है। आधुनिक काल के कवियो मे हिन्दी काव्य की राष्ट्रीय-धारा का सशक्त प्रतिनिधित्व जिन कवियो ने किया है, उनमे राष्ट्र-कवि मैथिलीशरण गुप्त के पश्चात् दिनकर का स्थान सर्वोपरि है।

विषय का नामकरण एवं मर्यादा :

हिन्दी के प्राय सभी समर्थ आलोचको ने दिनकर के काव्यो को राष्ट्रीय एव साँस्कृतिक काव्य-धारा के सन्दर्भ मे ही देखा है और दिनकर को राष्ट्रीय धारा के प्रमुख कवि के रूप मे स्वीकार भी किया है। यद्यपि दिनकर ने 'उर्वशी' जैसी काम एव सौन्दर्य-चेतना से अनुप्राणित सशक्त रचना भी हिन्दी-साहित्य को दी है, तदपि उनका वास्तविक रूप 'कुरुक्षेत्र' एव 'रश्मिरथी' जैसे राष्ट्रीय विचार-धारा के काव्यो के माध्यम मे ही व्यक्त हुआ है। चक्रवाल की भूमिका मे कवि ने स्वीकार किया है कि राष्ट्रीय और क्रातिकारी भावनाओ के प्रवाह मे उनका सारा अस्तित्व समाज और राष्ट्र की अनुभूतियो के आधीन हो गया। दिनकर-साहित्य के समग्र अध्ययन से भी यही स्पष्ट होता है कि अन्य भावनाओं के साथ राष्ट्रीय भावना ही कवि के कवि-कर्म की प्रधान भावना रही। यही कारण है कि मैंने प्रस्तुत प्रबध मे दिनकर को राष्ट्रीय कवि के रूप मे देखने का प्रयास किया है। राष्ट्रीय भाव-धारा से अनुप्राणित होते हुए भी, कवि की कृतियो मे जो काव्योत्कर्ष एव कलात्मकता दृष्टिगत हुई उसे भी मैं त्याग न सका अत मैंने प्रस्तुत अधिनिबध मे कवि की 'राष्ट्रीय' एवं 'काव्य-कला' दोनो की सम्यक विवेचना की है। प्रबध का शीर्षक भी इसीलिए 'राष्ट्रीय कवि दिनकर और उनकी काव्य-कला' रखा है। प्रबध का प्रतिपाद्य यही है कि पहले राष्ट्र और राष्ट्रीयता के सन्दर्भ मे हिन्दी की राष्ट्रीयता कविता मे दिनकर का स्थान निर्धारित किया जाये तदनन्तर कवि की समग्र काव्य-कृतियो के आधार पर काव्य-कला का अनुशीलन किया जाय।

काव्य-कला के अनुशीलन मे केवल राष्ट्रीयता तक ही सीमित रहना उचित नही समझा गया और उन सभी प्रेरक परिबलों की गवेषणा की गई है जिन्होंने कवि की कला एव काव्य की गुणवत्ता की अभिवृद्धि मे योग दिया है। कहने की आवश्य-

कता नही कि प्रस्तुत प्रबंध का विषय दिनकर की काव्य-कृतियो के अध्ययन तक ही मर्यादित है। गद्य का अध्ययन इस प्रबध का प्रतिपाद्य नही है।

मौलिकता :

मेरा विषय ही ऐसा है कि जिसमें किसी मौलिक गवेषणा का दावा नहीं किया जा सकता। अछूते विषयों पर कार्य करने वाले शोधार्थियों की तरह ऐसे विषयों में मौलिकता का दावा नही किया जा सकता। फिर भी मेरा यह प्रयास अवश्य रहा है कि दिनकर के राष्ट्रीय पक्ष और कला-पक्ष पर लिखा गया शोध-निबंध उनके कृतित्त्व के विविध पक्षों पर स्वच्छ, गभीर, तटस्थ तथा समाकलित प्रकाश डाल सके।

दिनकर जी प्रारभ से ही मेरे प्रिय कवि रहे हैं। फिर भी मैंने उनके कृतित्त्व की परीक्षा करते हुए एक निस्सग शोधक की दृष्टि को ही अपनाया है। मैंने दिनकर को न तो सर्वथा युगचारण या महाकवि ही मान लिया है और न दिग्भ्रमित मानकर पूर्वाग्रह से उनके कृतित्त्व की उपेक्षा ही की है। उनकी सम्पूर्ण काव्य-कृतियो का अध्ययन करके मैंने तटस्थता के साथ राष्ट्रीयता एव काव्य-कला को उद्घाटित करने का प्रयास किया है। सक्षेप मे कहा जाये तो समीक्षा के भारतीय एव पाश्चात्य मानदण्डो के आधार पर दिनकर की प्रतिभा एव उनके काव्योत्कर्ष एव कला को जांचने, परखने का प्रयास प्रस्तुत अध्ययन है।

उपलब्ध सामग्री :

कवि दिनकर पर कतिपय आलोचनात्मक ग्रथ प्रकाशित हुए हैं। प्राय. सभी ग्रंथ दिनकर की रचनाओं का सामान्य परिचयात्मक विवेचन ही प्रस्तुत करते हैं। इन ग्रंथो मे कुछ मे कविताओं के विश्लेषण एवं भाव-प्रकाशन का प्रयास भी किया गया है। ऐसे ग्रथों मे भी शोध-दृष्टि का अभाव, कवि की स्तुति ही अधिक दिखाई देती है। उदाहरणार्थ त्रिपाठी रामचन्द्र प्रवासी ने 'दिनकर' ने काव्य तथा मुरलीधर श्रीवास्तव ने दिनकर की काव्य साधना' दोनों कृतियों मे कवि की कृतियो का वर्णनात्मक विवरण प्रस्तुत करते हुए कवि की प्रसशा ही की है। इसी प्रकार प्रो० शिव बालक राय ने अपनी कृति 'दिनकर' तथा प० शिवचन्द्र शर्मा ने 'दिनकर और उनकी काव्य-कृतियाँ' नामक पुस्तक में दिनकर की राष्ट्रीय और शृंगारिक कृतियो का परिचयात्मक वर्णन मात्र प्रस्तुत किया है। डॉ० सावित्री सिन्हा ने अवश्य 'युगचारण दिनकर' ग्रंथ मे कवि के काव्य की पृष्ठभूमि एवं सौन्दर्य-चेतना को निरूपित करने का स्तुत्य प्रयास किया है। श्री विमल कुमार जैन ने महाकवि दिनकर' - उर्वशी तथा अन्य कृतियां, ग्रथ में 'उर्वशी' पर बड़ा ही सुन्दर एव शोधपूर्ण विवेचन प्रस्तुत किया है। श्रीमती एस० के० पद्मावती द्वारा प्रस्तुत ग्रथ 'दिनकर व्यक्तित्व एव कृतित्व' में भी कवि की राष्ट्रीय भावना एवं काव्य-कला पर विचार प्रस्तुत किए गये हैं।

इन ग्रंथों के उपरांत 'जनकवि दिनकर,' 'दिग्भ्रमित कवि दिनकर,' 'दिनकर एक पुनर्मूल्यांकन' आदि अनेक छोटे-बड़े आलोचनात्मक ग्रंथ प्रकट हुए हैं किसी ने कवि के व्यक्तित्व से प्रभावित होकर उनकी प्रशस्ति की है, तो किसी ने दिग्भ्रमित कहकर उनकी कटु-आलोचना की है। इन ग्रंथों के उपरांत 'दिनकर सृष्टि' और दृष्टि तथा 'दिनकर' शीर्षक ग्रंथ भी प्रकाशित हुए हैं, जिनमें कवि की कृतियों और विचारों पर विभिन्न लेखकों के स्फुट निबंध हैं। इस प्रकार दिनकर के कृतित्व और उपलब्ध समस्त आलोचनात्मक सामग्री का मैंने अध्ययन और अनुशीलन किया है, और उससे लाभान्वित भी हुआ हूँ। फिर भी विनम्रता के साथ मैं यह कहना चाहूँगा कि राष्ट्रीय काव्य-धारा के परिपेक्ष्य में दिनकर के काव्य के अनुशीलन का मेरा प्रयास सर्वथा नवीन है। साथ ही दिनकर की काव्य-कला के सौन्दर्य का उद्घाटन करने के लिए उनकी भाषा, छन्द एवं अलंकार योजना पर शोध दृष्टि से परीक्षण करने का मैंने प्रयास किया है।

अध्यायीकरण :

प्रस्तुत अधि-निबध तीन खण्डो और छ. अध्यायो मे विभक्त है। तीन खण्ड इस प्रकार है—

१—राष्ट्रीयता और दिनकर
२—दिनकर : व्यक्तित्व एव कृतित्व
३—दिनकर की काव्य-कला

प्रथम खण्ड 'राष्ट्रीयता और दिनकर' दो अध्यायों में विभाजित किया गया है। प्रथम अध्याय 'राष्ट्र और राष्ट्रीयता' है राष्ट्रीयता के संदर्भ मे कवि का अध्ययन, अनुशीलन करने से पूर्व राष्ट्र एवं राष्ट्रीयता के विधायक तत्वो को जान लेना उचित ही नही, अपितु आवश्यक है। इसी दृष्टि से प्रबध के प्रथम खंड के प्रथम अध्याय में मैंने राष्ट्र और राष्ट्रीयता का सम्यक् अनुशीलन किया है। इसी अध्याय के अन्तर्गत राष्ट्रीय जागरण को वेग देने वाली अन्य राजनीतिक, आर्थिक तथा सामाजिक परि-स्थितियों पर भी विचार किया गया है। यह अध्याय मेरी गवेषणा का प्रतिपाद्य न होते हुए भी विषय की भूमिका के रूप में मुझे आवश्यक प्रतीत हुआ है। आशा है इसका अवलोकन इसी दृष्टि से किया जायेगा।

द्वितीय अध्याय 'हिन्दी-साहित्य में राष्ट्रीयता और दिनकर' मे हिन्दी-साहित्य मे विकसित राष्ट्रीय काव्य-धारा पर विचार किया है। प्राचीन काल के अपभ्रंश और चारण-साहित्य मे उपलब्ध राष्ट्रीयता के स्वरूप का वर्णन करते हुए भक्ति-कालीन और रीति-कालीन साहित्य मे तत्सम्बंधी जो साक्ष्य उपलब्ध होते है, उन पर प्रकाश डाला गया है। अर्वाचीन साहित्य मे राष्ट्रीयता का अनुशीलन करने के लिए सुविधा की दृष्टि से उसे भारतेन्दु-कालीन साहित्य मे राष्ट्रीयता, द्विवेदी-कालीन-साहित्य में

कता नही कि प्रस्तुत प्रबंध का विषय दिनकर की काव्य-कृतियों के अध्ययन तक ही मर्यादित है। गद्य का अध्ययन इस प्रबंध का प्रतिपाद्य नही है।

मौलिकता :

मेरा विषय ही ऐसा है कि जिसमे किसी मौलिक गवेषणा का दावा नही किया जा सकता। अछूते विषयों पर कार्य करने वाले शोधार्थियो की तरह ऐसे विषयों में मौलिकता का दावा नहीं किया जा सकता। फिर भी मेरा यह प्रयास अवश्य रहा है कि दिनकर के राष्ट्रीय पक्ष और कला-पक्ष पर लिखा गया अधि-निबंध उनके कृतित्व के विविध पक्षों पर स्वच्छ, गभीर, तटस्थ तथा समाकलित प्रकाश डाल सके।

दिनकर जी प्रारंभ से ही मेरे प्रिय कवि रहे हैं। फिर भी मैंने उनके कृतित्व की परीक्षा करते हुए एक निस्संग शोधक की दृष्टि को ही अपनाया है। मैंने दिनकर को न तो सर्वथा युगचारण या महाकवि ही मान लिया है और न दिग्भ्रमित मानकर पूर्वाग्रह से उनके कृतित्व की उपेक्षा ही की है। उनकी सम्पूर्ण काव्य-कृतियो का अध्ययन करके मैंने तटस्थता के साथ राष्ट्रीयता एव काव्य-कला को उद्घाटित करने का प्रयास किया है। सक्षेप मे कहा जाये तो समीक्षा के भारतीय एवं पाश्चात्य मानदण्डो के आधार पर दिनकर की प्रतिभा एव उनके काव्योत्कर्ष एव कला को जाँचने, परखने का प्रयास प्रस्तुत अध्ययन है।

उपलब्ध सामग्री :

कवि दिनकर पर कतिपय आलोचनात्मक ग्रंथ प्रकाशित हुए हैं। प्राय: सभी ग्रंथ दिनकर की रचनाओं का सामान्य परिचयात्मक विवेचन ही प्रस्तुत करते हैं। इन ग्रंथों मे कुछ मे कविताओ के विश्लेषण एवं भाव-प्रकाशन का प्रयास भी किया गया है। ऐसे ग्रंथो मे भी शोध-दृष्टि का अभाव, कवि की स्तुति ही अधिक दिखाई देती है। उदाहरणार्थ त्रिपाठी रामधन प्रवासी ने 'दिनकर के काव्य तथा मुरलीधर श्रीवास्तव ने दिनकर की काव्य साधना' दोनो कृतियो मे कवि की कृतियो का वर्णनात्मक विवरण प्रस्तुत करते हुए कवि की प्रशंसा ही की है। इसी प्रकार प्रो० शिव बालक राय ने अपनी कृति 'दिनकर' तथा प० शिवचन्द्र शर्मा ने 'दिनकर और उनकी काव्य-कृतियाँ' नामक पुस्तक मे दिनकर की राष्ट्रीय और शृंगारिक कृतियों का परिचयात्मक वर्णन मात्र प्रस्तुत किया है। डॉ० सावित्री सिन्हा ने अवश्य 'युगचारण दिनकर' ग्रंथ में कवि के काव्य की पृष्ठभूमि एवं सौन्दर्य-चेतना को निरूपित करने का स्तुत्य प्रयास किया है। श्री विमल कुमार जैन ने महाकवि दिनकर' उर्वशी तथा अन्य कृतियाँ, ग्रंथ में 'उर्वशी' पर बडा ही सुन्दर एव शोधपूर्ण विवेचन प्रस्तुत किया है। श्रीमती एम० के० पद्मावती द्वारा प्रस्तुत ग्रंथ 'दिनकर व्यक्तित्व एवं कृतित्व' में भी कवि की राष्ट्रीय भावना एवं काव्य-कला पर विचार प्रस्तुत किए गये हैं।

इन ग्रंथों के उपरांत 'जनकवि दिनकर,' 'दिग्भ्रमित कवि दिनकर,' 'दिनकर एक पुनर्मूल्यांकन' आदि अनेक छोटे-बड़े आलोचनात्मक ग्रंथ प्रकट हुए हैं किसी ने कवि के व्यक्तित्व से प्रभावित होकर उनकी प्रशस्ति की है, तो किसी ने दिग्भ्रमित कह्कर उनकी कटु-आलोचना की है। इन ग्रंथों के उपरांत 'दिनकर सृष्टि' और दृष्टि तथा 'दिनकर' शीर्षक ग्रंथ भी प्रकाशित हुए हैं, जिनमें कवि की कृतियों और विचारो पर विभिन्न लेखको के स्फुट निबंध हैं। इस प्रकार दिनकर के कृतित्व और उपलब्ध समस्त आलोचनात्मक सामग्री का मैंने अध्ययन और अनुशीलन किया है, और उससे लाभान्वित भी हुआ हूँ। फिर भी विनम्रता के साथ मैं यह कहना चाहूँगा कि राष्ट्रीय काव्य-धारा के परिपेक्ष्य मे दिनकर के काव्य के अनुशीलन का मेरा प्रयास सर्वथा नवीन है। साथ ही दिनकर की काव्य-कला के सौन्दर्य का उद्घाटन करने के लिए उनकी भाषा, छन्द एव अलकार योजना पर शोध दृष्टि से परीक्षण करने का मैंने प्रयास किया है।

अध्यायीकरण :

प्रस्तुत अधि-निबंध तीन खण्डों और छः अध्यायो मे विभक्त है। तीन खण्ड इस प्रकार है—

१—राष्ट्रीयता और दिनकर
२—दिनकर : व्यक्तित्व एवं कृतित्व
३—दिनकर की काव्य-कला

प्रथम खण्ड 'राष्ट्रीयता और दिनकर' दो अध्यायों में विभाजित किया गया है। प्रथम अध्याय 'राष्ट्र और राष्ट्रीयता' है राष्ट्रीयता के संदर्भ मे कवि का अध्ययन, अनुशीलन करने से पूर्व राष्ट्र एव राष्ट्रीयता के विधायक तत्त्वो को जान लेना उचित ही नही, अपितु आवश्यक है। इसी दृष्टि से प्रबध के प्रथम खंड के प्रथम अध्याय में मैंने राष्ट्र और राष्ट्रीयता का सम्यक् अनुशीलन किया है। इसी अध्याय के अन्तर्गत राष्ट्रीय जागरण को वेग देने वाली अन्य राजनीतिक, आर्थिक तथा सामाजिक परिस्थितियों पर भी विचार किया गया है। यह अध्याय मेरी गवेषणा का प्रतिपाद्य न होते हुए भी विषय की भूमिका के रूप मे मुझे आवश्यक प्रतीत हुआ है। आशा है इसका अवलोकन इसी दृष्टि से किया जायेगा।

द्वितीय अध्याय 'हिन्दी-साहित्य मे राष्ट्रीयता और दिनकर' मे हिन्दी-साहित्य मे विकसित राष्ट्रीय काव्य-धारा पर विचार किया है। प्राचीन काल के अपभ्रंश और चारण-साहित्य मे उपलब्ध राष्ट्रीयता के स्वरूप का वर्णन करते हुए भक्ति-कालीन और रीति-कालीन साहित्य मे तत्सम्बधी जो साक्ष्य उपलब्ध होते है, उन पर प्रकाश डाला गया है। अर्वाचीन साहित्य मे राष्ट्रीयता का अनुशीलन करने के लिए सुविधा की दृष्टि से उसे भारतेन्दु-कालीन साहित्य मे राष्ट्रीयता, द्विवेदी-कालीन-साहित्य मे

राष्ट्रीयता, हिन्दी द्विवेदीकाल के परवर्ती साहित्य में राष्ट्रीयता तथा स्वातन्त्र्योत्तर-साहित्य में राष्ट्रीयता—इन चार विभागों में विभक्त करके प्रस्तुत किया गया है।

इसी अध्याय में दिनकर के काव्यों में व्यक्त राष्ट्रीयता की चर्चा की गई है। कवि को राष्ट्रीयता की ओर प्रेरित करने वाले तत्वों, कवि और साहित्यकारों तथा युगीन परिस्थितियों की गवेषणा की गई है और यह बताने का प्रयास किया गया है कि किन प्रेरणाओं तथा परिबलों से प्रेरित होकर कवि क्रांति का आराधक, अतीत का गायक एवं वर्तमान का वैतालिक बन गया। यह भी प्रस्तुत किया गया है कि सन् १९४७ के पश्चात् कवि राष्ट्रदेवता का विसर्जन कर किस प्रकार अन्तरराष्ट्रीयता में एकाकार हो गया।

द्वितीय खण्ड 'दिनकर : व्यक्तित्व एवं कृतित्व' क्रमशः तृतीय और चतुर्थ दो अध्यायों में विभक्त है। तृतीय अध्याय 'दिनकर : व्यक्तित्व' में दिनकर के व्यक्तित्व पर प्रकाश डाला गया है। जीवन की संक्षिप्त रूप-रेखा देकर कवि के व्यक्तित्व के विकास का क्रम प्रस्तुत किया गया है। कवि की राष्ट्रीय और साहित्यिक चेतना का विकास प्रस्तुत करते हुए समकालीन व्यक्तियों और घटनाओं का कवि पर जो प्रभाव पड़ा उसे भी प्रस्तुत किया गया है।

चतुर्थ अध्याय के अन्तर्गत कवि के कृतित्व का आलोचनात्मक परिचय प्रस्तुत किया गया है। इस अध्याय में दिनकर की काव्य-कृतियों का मुक्तक, प्रबंध आदि विधाओं के अन्तर्गत विभाजन करके परिचय दिया गया है, जिससे दिनकर के समग्र काव्य-कृतित्व को हृदयंगम किया जा सके। कवि के द्वारा अनूदित रचनाओं का भी संक्षिप्त परिचय प्रस्तुत किया गया है।

तृतीय खण्ड के अन्तर्गत दिनकर की काव्य-कला के विवेचन को पंचम और षष्ठ अध्यायों में विभाजित करके प्रस्तुत किया गया है। पंचम अध्याय में दिनकर के कृतित्व के भावपक्ष का शोधपूर्ण विवेचन किया गया है। कवि के काव्यों के पौराणिक और ऐतिहासिक कथानकों और उनकी योजना में निहित कवि की प्रतिभा पर प्रकाश डाला गया है। दिनकर का चरित्र-चित्रण, रस योजना, प्रेम-निरूपण, नारी-भावना, जीवन-दर्शन, प्रकृति-चित्रण आदि पर समुचित रूप से विचार किया गया है।

षष्ठ अध्याय के अन्तर्गत काव्य-कृतियों में दिनकर के कृतित्व कला पक्ष अर्थात् भाषा, अलंकार, छंद, गीति-योजना आदि शिल्पतत्वों का विश्लेषण किया गया है। अब तक हिन्दी के समीक्षकों ने छन्द एवं अलंकार-योजना के सम्बन्ध में जो निर्देश एवं विधान किए हैं, इस अध्याय में उनकी समीक्षा एवं परीक्षा की गई है। आशा है, इससे दिनकर के काव्य के सौन्दर्य को समझने के लिए एक नई दिशा समुपलब्ध होगी।

अन्त मे 'उपसंहार' के अन्तर्गत संक्षेप मे अध्ययन से प्राप्त निष्कर्ष प्रस्तुत किए गए हैं।

'परिशिष्ट' के अन्तर्गत दिनकर की काव्य-कृतियो की सूची तथा सदर्भ-ग्रथ-सूची प्रस्तुत की गई है।

आभार-दर्शन :

प्रबन्ध को इस शोधपूर्ण रूप मे प्रस्तुत करने मे मुझे जिससे सतत प्रेरणा, सर्वाधिक मार्गदर्शन एव स्नेह प्राप्त हुआ है, उन अपने गुरुदेव डॉ० अम्बाशंकर जी नागर का मैं सर्वाधिक ऋणी हूँ। उनकी प्रेरणा एव सहानुभूति के किंचित अभाव मे इस प्रबंध का इस रूप मे पूरा होना सम्भव न होता। अपने मार्गदर्शन गुरुदेव के प्रति मैं अपनी हार्दिक कृतज्ञता प्रकट करता हूँ। सरदार पटेल युनि० आणद के रीडर श्री डा० सुरेश भाई त्रिवेदी एव डॉ० श्रीराम नागर का आभारी हूँ जिन्होंने पूरी थीसिस को टकन से पूर्व पढकर उसकी त्रुटियो को सुधारने मे सहयोग दिया, उनका कृतज्ञ हूं। तदुपरात मित्र-सम विद्यार्थी श्री प्रेमचन्द अटेरवाल बी० ए० का आभारी हूँ जिन्होंने लेखन आदि कार्य मे पूर्ण मदद की। उन सभी गुरुजनो एवं मित्रो का आभारी हूँ, जिन्होंने किसी न किसी रूप मे मेरे कार्य की पूर्णता मे सहयोग प्रदान किया है।

२१ फरवरी, १९६९।

डॉ० शेखरचन्द्र जैन
अध्यक्ष, हिन्दी विभाग
आर्ट्स एण्ड कॉमर्स कॉलेज
भावनगर।

इन तत्वों के आधार पर यह स्पष्ट होता है कि किसी भौगोलिक इकाई पर बसा हुआ समुदाय जिसकी अपनी सभ्यता तथा संस्कृति हो, अपनी भाषा, धर्म और परम्परा हो तथा जिसकी अपनी राजनीतिक एकता और कानून हो—वही राष्ट्र है। इन सबके मूल में एकत्व और अखण्डता की साधना का संकेत है।

मनोवैज्ञानिक दृष्टि से भी यह सत्य है, कि 'मानव की कबीलों में रहने की भावना विकसित होकर राज्य बनी।' वे निश्चित सीमा में रहने लगे और उस पर शासन द्वारा प्रभुत्व पाने का जो विकास हुआ, यही विकास राष्ट्र-निर्माण का पोषक बना। लोगों को राजनीतिक एकता की आवश्यकता प्रतीत हुई। एतदर्थ राष्ट्र सामाजिक विकास के सर्वोच्च प्रतिफल का प्रतीक बन गया।

राष्ट्रीयता

भारतीय दृष्टिकोण :

राष्ट्र शब्द की भाँति राष्ट्रीयता का स्वरूप विविध रूपों में प्राचीन ग्रन्थों में उपलब्ध है।

अथर्ववेद के 'पृथ्वीसूक्त' के अनेक सूत्र राष्ट्रीयता के परिचायक हैं। धरती को जन्मदायिनी एवं कल्याणी माँ के रूप में मानकर उसकी प्रशंसा की गई है। इसमें देश के भौगोलिक सौन्दर्य के साथ पशु-पक्षी एवं विविध धर्म एवं भाषा के लोगों की शुभ कामना की गई है।[1] आर्य लोग वैविध्य को एक ही स्रोतस्विनी की विभिन्न जल-धारायें मानकर एकता की पवित्र गंगा में विलीन होने की मंगल-कामना करते थे। उनकी भावनाओं का मूल लोक-कल्याण और सर्वोदय-भावना से अनुप्राणित था। अथर्ववेद में—"अभिवर्धताम् पयसामि राष्ट्रेण वर्धताम्।"[2] अर्थात् मनुष्य दुग्धादि पदार्थों से बढ़े, राज्य से बढ़े कह कर व्यक्ति और राज्य की समृद्धि की कामना की है।

'अह्निक सूत्रावलि' के स्नान-प्रसंग में उत्तर से दक्षिण तक की सभी नदियों का स्मरण विशाल भावनाओं का परिचायक है।

उत्तर से दक्षिण के पर्वतों को भारत-माता के विशाल देह की पसलियाँ और रीढ़ की हड्डी माना है, तथा अयोध्या से लेकर काँची, अवन्तिका और द्वारका जैसे यात्रा-धामों को मोक्ष दिलाने वाले स्थान मान कर पूरे भारत को महत्व प्रदान किया है।

इन उल्लेखों में विशाल राष्ट्रीयता की कल्पना मिलती है। ईश्वर की वन्दना के साथ-साथ राष्ट्र की वन्दना हमारी संस्कृति की विशेषता रही है।

---

१. पृथ्वी सूक्त।

२. अथर्ववेद · ६।७८।२।

भारत में राष्ट्रीयता के रूप में संयुक्त कुटुम्ब की भावना महती रूप से विद्यमान है। ऋग्वेद मे ऐसी भावनाओ के दर्शन किए जा सकते हैं—

"समगच्छध्वं संवदध्वं संवो मानांसि जानताम्।
देवा भागं यथा पूर्वे सञ्जानाना उपासते॥"[१]

भावार्थ है कि हम सबकी गति एक ही प्रकार की हो। हम एक साथ चलें। हम एक प्रकार की वाणी बोलें। हम सबके मन में एक से भाव प्रकट हों। जैसे देवता पहले से करते आए हैं उसी प्रकार समान भाव करो।

भारतीय सिद्धान्त के अनुसार धर्म और संस्कृति हमारी राष्ट्रीयता के प्राणाधार रहे। वाल्मीकि व्यास, भवभूति, कालिदास आदि के साहित्य मे राष्ट्रीयता का ऐसा ही रूप अंकित हुआ है।

भारत की एकसूत्रता के विषय में 'संस्कृति के चार अध्याय' में दिनकरजी ने भारत की प्राचीन राष्ट्रीयता पर अपने विचार व्यक्त करते हुए लिखा है—"उत्तर को आर्यों का देश और दक्षिण को द्रविडों का देश समझने का भाव यहाँ कभी नहीं पनपा। क्योंकि आर्य और द्रविड नाम से दो जातियों का विभेद यहाँ हुआ ही नहीं था। समुद्र से उत्तर और हिमालय से दक्षिण वाला विभाग यहाँ हमेशा से एक देश माना जाता रहा है।"[२]

उपरोक्त चर्चा से यह स्पष्ट होता है कि वेदो, पुराणों और शास्त्रों में राष्ट्रीयता का जो स्वरूप उपलब्ध है उसमे भारत की अखण्ड भौगोलिक एकता, धार्मिक एकसूत्रता और सास्कृतिक गरिमा के दर्शन होते हैं। जन्म-भूमि को स्वर्ग से भी महान् मानने के साथ-साथ अन्य देशों के प्रति जो सद्भावना और अनाक्रमकता की भावनायें अंकित है वे अन्तर्राष्ट्रीयता की पोषक हैं।

पाश्चात्य दृष्टिकोण :

पश्चिमी विद्वानो ने राष्ट्रीय भावनाओ का सम्बन्ध मनोविज्ञान से स्थापित किया है। जे० हॉलैण्ड रोज ने राष्ट्रीयता का अन्तःचेतना से सम्बन्ध स्थापित करते हुए राष्ट्रीयता को अनुभूति का विषय माना है।[३] इस व्याख्या द्वारा इस भावना को महत्त्व दिया गया है कि व्यक्ति जब यह भावना अपने अन्तर में स्थापित कर लेता है कि यह मेरा देश है तब वह उसके रक्षण एवं उन्नति के लिए सदैव अग्रसर रहता हैं। जिस राष्ट्र मे यह भावना जितनी बलवती होगी, वह राष्ट्र उतना ही बलवान होगा।

---

१. ऋग्वेद : १०।१६१।२।
२. संस्कृति के चार अध्याय : रामधारीसिंह 'दिनकर' : पृ० ६७-६८।
३. 'Nationality is History ; J. Holland : P. 147।

गिल क्राइस्ट, गेटेल जैसे विद्वानों ने भी मनोवैज्ञानिक तथ्य को स्वीकार करते हुए भाषा, धर्म, ऐतिहासिक परम्पराओं एवं साहचर्य की भावनाओं को राष्ट्रीयता के सन्दर्भ में स्वीकार किया है।

अन्य विद्वान हेज, नील, ज़ीमर्न आदि की व्याख्याओं में भी ऐसे ही मिलते-जुलते तथ्य विद्यमान हैं।

पश्चिमी दृष्टिकोण से विचार करने पर राष्ट्रीयता के पोषक तत्वों में अखण्ड देश, समान भाषा आदि तत्वों का महत्व ही स्वीकृत दिखाई देता है। पश्चिमी व्याख्याओं में मानसिक भावनाओं के ऐक्य पर विशेष बल दिया गया है जबकि भारतीय मनीषा में सांस्कृतिक एवं धार्मिक एकता का विशेष बल है। मानसिक ऐक्य की अलग से व्याख्या करना इन्होंने उचित नहीं समझा। वस्तुत. मानसिक ऐक्य का इसमें स्वत. समावेश हो जाता है।

राष्ट्रीयता के पोषक तत्व

राजनीति-शास्त्र के विद्वानों ने जिन तत्वों को वैज्ञानिक ढंग से निरूपित कर राष्ट्रीयता के विकास के मुख्य तत्वों के रूप में स्वीकार किया है वे इस प्रकार हैं—

(१) भौगोलिक एकता, (२) जातीय एकता, (३) सांस्कृतिक ऐतिहासिक परम्परा की एकता (४) भाषा की एकता, (५) धर्म की एकता, (६) आर्थिक हितों की एकता, तथा (७) राजनीतिक एकता।

भौगोलिक एकता

भौगोलिक एकता से किसी देश की निश्चित सीमा के कारण, आबोहवा के साम्य से, समान रंग-रूप, रहन-सहन के कारण लोगों के मन में अपने देश के प्रति मर-मिटने की भावना बनी रहती है। भूमि-प्रेम की प्रधानता इसमें मुख्य है। विशाल देश के अनेक प्रदेश-भेद भी इस भूमि-प्रेम के कारण राष्ट्रीयता को बनाए रखते हैं।

जातीय एकता .

जातीय एकता के अन्तर्गत रक्त के सम्बन्ध पर बल दिया गया है, रक्त का परस्पर सम्बन्ध मानव समूह में स्वाभाविक एकता उत्पन्न करने वाला परिबल है। इसकी रक्षा और प्रतिष्ठा के लिये व्यक्ति सदैव सन्नद्ध रहता है। भारत में आने वाली जातियाँ यहाँ पर एकाकार स्थापित कर रक्त के सम्बन्ध से आबद्ध होती गई और इसीलिए अनेक रूप में द्रष्टव्य जातियां एकता के गुलदस्ते-सी सजी दिखाई देती हैं। इस विषय में प० जवाहर लाल नेहरू का कथन माननीय है—"आर्य जाति ने इतिहास के अनेक उतार-चढ़ाव देखने पर भी अपने स्वरूप को बनाए रखा। जो जातियाँ बाहर

से आई वे आज तक भिन्न-भिन्न रीति-रिवाजों तथा भिन्न-भिन्न धर्म विश्वासों का पालन करती चली आ रही हैं परन्तु फिर भी वे भारतीय ही हैं।"[1]

सांस्कृतिक ऐतिहासिक परम्परा की एकता :

संस्कृति और इतिहास-परम्परा की एकता के अन्तर्गत व्यक्तियों में अपनी संस्कृति, उज्ज्वल अतीत, महापुरुषों के प्रशस्य-कार्य, सभ्यता, भाषा, कला, धर्म, संगीत आदि के प्रति गौरव होना है। वह पुरातन को अपनी थाती मानकर उसकी रक्षा के लिए सदैव जागृत रहता है। भारत जैसे विशाल देश में अनेक संस्कृतियाँ पनपी, परन्तु विशेषता यह रही कि वे परस्पर टकराहट न बनकर त्रिवेणी संगम की तरह अपने वैविध्य को अक्षुण्ण रखकर भी एकाकार हो गईं। सांस्कृतिक एकता में प्राचीन साहित्य और प्राचीन इतिहास के अंचल में सुरक्षित गाथायें राष्ट्रीयता को प्रज्ज्वलित बनाती है।

भाषा की एकता :

भाषा की एकता राष्ट्रीयता के विकास का महत्वपूर्ण अंग है। राष्ट्रीयता आध्यात्मिक वस्तु है। वह ईश्वर के मानस का आविर्भाव है जिसकी एकता का मुख्य बंधन भाषा है। जब तक व्यक्ति राष्ट्र की भाषा को नहीं समझता, तब तक वह राष्ट्र के हृदय में प्रवेश नहीं कर सकता। समान भाषा लोगों में एकता उत्पन्न करती है। लोगों में अपनत्व के भाव प्रकट होते है। प्रत्येक देश को अपनी भाषा से उतना ही प्यार होना चाहिए जितना मातृभूमि से। विशाल राष्ट्रों मे जहाँ अनेक भाषायें बोली जाती हैं वहाँ राष्ट्रीय एकता के हेतु सरल और बहुसंख्यक लोगों में प्रचलित भाषा को राष्ट्र-भाषा के रूप में स्वीकृत किया जाता है।

धार्मिक एकता :

धार्मिक एकता पुरातन-काल से राष्ट्रीय एकता की द्योतक रही है। धर्म की रक्षा का प्रश्न उसके अनुयायियों में एकसूत्रता स्थापित करता है। धर्म की एकता में आबद्ध लोग राजनीतिक एकता में भी शीघ्र बँध जाते हैं। इतिहास में अनेक प्रमाण हैं जिनमें युगों से धर्म की एकता के कारण कुछ जातियाँ अपना अस्तित्व बनाये रख सकी हैं। यहूदी जाति इसका प्रमाण है। कभी-कभी यह धार्मिक तथ्य जब साम्प्रदायिक बन जाता है तब संगठन के स्थान पर वह विघटनकारी-सा दृष्टिगत होता है। परन्तु ऐसे समय राष्ट्रीय-स्तर पर धर्म को व्यक्तिगत मानकर उसे राष्ट्रीयता में बाधक नहीं बनाया जाना चाहिए। प्रत्येक धर्म के प्रति सहिष्णुता की भावना राष्ट्रीयता का सबल संबल है।

---

१. 'भारतदर्शन', पं० जवाहरलाल नेहरू, पृ० ५४३।

आर्थिक हितों की एकता :

समान आर्थिक आकांक्षायें, समस्यायें और उन्हें सुलझाने का सामूहिक प्रयास राष्ट्रीय एकता को दृढ बनाता है। कार्ल मार्क्स की साम्यवादी राष्ट्रीयता इसका ज्वलंत प्रमाण है। अंग्रेजो की शोषक-नीति ने भारत के शोषितो को एक सूत्र मे बंधकर लड़ने के लिए सदैव प्रोत्साहित किया।

राजनीतिक एकता :

राजनीतिक एकता राष्ट्रीयता का सर्वाधिक सशक्त पहलू है। कोई भी व्यक्ति पराजित बनकर नहीं रहना चाहता। देश को स्वतंत्र बनाने की आकांक्षा देशवासियो मे और विशेषकर वीरो मे प्रेरणा प्रदान करती है।

ये समस्त मुख्य तत्व किसी भी देश के निवासी मे रागात्मक अनुभूति मे उत्पन्न करते है; देश के प्रति श्रद्धा, पक्षपात उत्पन्न करते हैं, जिससे प्रत्येक नागरिक मे राष्ट्रीयता विकसित होती है और राष्ट्र के रक्षण की भावना सदैव जागृत रहती है।

भारत में राष्ट्रीयता का विकास

प्राचीन काल में राष्ट्रीयता :

भारतीय राष्ट्रवाद या राष्ट्रीय विकास का अर्थ है—भारत की संस्कृति एवं सभ्यता के विकास का इतिहास। भारतीय संस्कृति के मूल मे धार्मिक भावनाओं का वैशिष्ट्य रहा जो दार्शनिकता के माध्यम से व्यक्त हुआ।

इस देश मे अनेक जातियाँ आईं और यहाँ की संस्कृति मे समाहित हो गईं। पंडित जवाहरलाल नेहरु ने प्राचीन एकता का वर्णन करते हुए लिखा है— 'ईरानी और यूनानी लोग, पार्थियन और बैक्ट्रियन लोग, सीथियन और हूण लोग, मुसलमानों से पहले आने वाले तुर्क और ईसा की प्रारम्भिक सदियो मे आने वाले ईसाई, यहूदी, पारसी ये सब एक के बाद एक भारत मे आये और सभी भारतीय संस्कृति मे आकर समा गए और उनका कोई अलग अस्तित्व न रहा।"[1]

चन्द्रगुप्त मौर्य के समय मे राष्ट्रीयता के सुयोजित रूप का विवेचन चाणक्य द्वारा लिखित अर्थशास्त्र मे उपलब्ध होता है।

'गुप्तवंश' का 'स्वर्णयुग' इसी राजनीतिक राष्ट्रीय एकता का परिचायक है।

गुप्त साम्राज्य के पश्चात् राष्ट्रीयता का व्यवस्थित एवं विकसित स्वरूप हर्षवर्धन के काल मे मिलता है। ह्वेनसांग ने इसका सांगोपांग वर्णन किया है।

१. 'भारत-दर्शन' प० जवाहरलाल नेहरु, पृ० ५७।

हर्षवर्धन के पश्चात् अनेक वर्षों तक किसी प्रतापी तथा दीर्घद्रष्टा राजा के न होने पर देश अनेक टुकड़ों में विभक्त हो गया। उनकी राष्ट्रीयता सीमित होने लगी।

आधुनिक काल में राष्ट्रीयता :

सातवीं शती से भारत पर मुसलमानो के आक्रमण होने लगे। भारत के निवासियो ने पवित्र भूमि की रक्षा की भावना से संघर्ष भी किए, परन्तु उनके प्रयास इकाई-रूप मे ही रहे।

सोलहवीं शताब्दी मे अकबर के शासन मे अवश्य एकता की राष्ट्रीय भावनायें अंकुरित हुईं; परन्तु उसके परवर्ती धर्मांध उत्तराधिकारियों की सकुचितता के कारण देश पुनः छोटी-छोटी इकाइयों मे विभक्त दिखाई देने लगा।

सत्रहवीं शताब्दी में फ्रांसीसी, डच, पुर्तगाली एवं अँग्रेज विदेशी व्यापारियों ने यहाँ की फूट का लाभ उठाकर भारत को गुलाम बनाना प्रारम्भ कर दिया। अन्य विदेशियों की तुलना मे अँग्रेज ही सफल रहे। मराठो की शक्ति के क्षय होने से तथा अन्तिम मुगल बादशाहो की निर्बलता के कारण देश अँग्रेजो का गुलाम बन गया। भारत को स्वतंत्र बनाने के छिटपुट प्रयास हैदर और टीपू जैसे बहादुरों ने किए, परन्तु सगठित विदेशियों के सामने खडित भारत टिक न सका।

अँग्रेजों के अत्याचार, पक्षपात और शोषण से दबे हुए देश की प्रजा ने अनुभव किया कि वे अपने ही घर मे बंदी है। इस भावना से प्रेरित होकर उनका सामूहिक स्वतंत्रता का प्रयास १८५७ के प्रथम स्वातन्त्र्य संग्राम के रूप मे प्रस्फुटित हुआ।

१८५७ का प्रथम स्वातंत्र्य संग्राम :

राजनीतिक दृष्टि से प्राय पूर्ण भारत परतन्त्र हो ही चुका था। तदुपरान्त ईस्ट इण्डिया कपनी की पक्षपात-पूर्ण शोषण-नीति ने देश के उद्योगो की कमर तोड़ दी थी। 'फोडो और राज्य करो' की कुटिल नीति से देश मे धर्म एव जाति, अमीर एव गरीब तथा ऊँच-नीच के भेद-भावों के कारण देश मे पारस्परिक द्वेष पनप रहे थे। सर्वाधिक रूप से धार्मिक भावनाओं को ठेस पहुँचा कर अँग्रेज हिन्दु-मुसलमानो को सदैव के लिये अलग करने का प्रयास कर रहे थे।

इन सब कुटिल नीतियो को देख कर देश को स्वतत्र करने की भावना से रानी लक्ष्मी बाई, तात्या टोपे तथा नाना साहब जैसों के नेतृत्व मे पूरा देश प्रतिकार के लिए मचल उठा।

भारत के पास आधुनिक शस्त्र नही थे, युद्ध का आधुनिक ज्ञान नही था, युद्ध निश्चित तिथि से पूर्व प्रारम्भ हो गया था, सपूर्ण देश के लिए योग्य नेतृत्व का

अभाव था तथा पूरे देश मे सपूर्ण एकता की कमी थी तदुपरान्त अँग्रेजो की कुटिल नीति के कारण सग्राम मे निष्फलता मिली और देश पहले से भी अधिक अधीनता के बंधन मे आबद्ध हो गया। परन्तु इस युद्ध मे देश की जिस एकता के दर्शन हुए वे कालान्तर के लिए स्मरणीय बन गये। अँग्रेजो की क्रूरता के विषय मे प० नेहरू के शब्द बडे ही मार्मिक हैं—" . . अँग्रेजो ने इस समय जो कत्ले-आम की, वह चगेज और नादिर की कत्ले-आम को भी मात करती है। कहा जाता है कि नील नामक एक अँग्रेज सेनापति इलाहाबाद से कानपुर तक रास्ते भर आदमियों को फाँसी लटकाता हुआ चला गया। यहाँ तक कि सडक के किनारे एक भी पेड ऐसा नही बचा जो फाँसी का झूला न बना दिया गया हो।"[1]

यद्यपि अमानुषिक अत्याचारो ने यह सग्राम दबा जरूर दिया गया परन्तु यही स्वतत्रता देवी तक पहुचाने वाला मार्ग बन गया।

१८५७ के पश्चात् का पुनर्जागरण काल :

१८५७ के पश्चात् भारत का राज्य-भार इगलैंड की पार्लियामेंट के हस्तगत होने के पश्चात् यहाँ की राज्य-व्यवस्था के लिए अँग्रेजी का प्रचार किया जाने लगा। भारत के अग्रगण्य नेताओ ने भी यह महसूस किया किया कि नवीन ज्ञान-विज्ञान से परिचित होने के लिये, नवीन विश्व के साथ कदम मिलाने के लिये अँग्रेजी का ज्ञान आवश्यक है। इसमे प्रमुख रूप से राजा राममोहन राय का योग रहा। देश मे नये विश्वविद्यालयों की स्थापना होने लगी। राजा साहब आधुनिक विचारो के प्रसारण के लिये वर्तमान पत्रों के विकास के प्रयत्नो मे लग गये। देश के युवक नवीन ज्ञान-विज्ञान के साथ पश्चिमी देशो की राष्ट्रीय क्रान्तियो से अवगत होने लगे। इग्लैंड की औद्योगिक क्रांति ने देश को यह प्रेरणा प्रदान की कि देश के विकास के लिये नये उद्योगों की स्थापना आवश्यक है।

राजा राममोहन राय ने ब्रह्म समाज की स्थापना कर देश मे प्रचलित सामाजिक कुरीतियाँ, जैसे कि सती-प्रथा, बाल-वृद्ध-विवाह, अनेकेश्वरवाद, बहुविवाह, छुआ-छूत आदि के उन्मूलन का प्रयास किया। देवेन्द्रनाथ ठाकुर द्वारा 'तत्व-बोधिनी-सभा' द्वारा ऐसे ही प्रयास किए गये। ईश्वरचन्द्र विद्यासागर ने विधवा-विवाह का प्रचार किया। दक्षिण भारत मे महादेव रानाडे ने प्रार्थना समाज की स्थापना कर जागृति का शखनाद फूंका, स्वामी दयानन्द सरस्वती ने आर्यसमाज की स्थापना द्वारा देशवासियो को वेदो की ओर आकर्षित किया। वेदो को जन-जन के अध्ययन की वस्तु बतलाते हुए अछूतों को भी उसकी ओर प्रेरित किया। भारत की अतीत की गौरवमयी सस्कृति की ओर आकर्षित किया। स्वदेशी की भावनायें उसके प्रचार का मूल

---

1. विश्व इतिहास की झलक . पं० जवाहरलाल नेहरू, पृ० २४६-४७।

ही बन गया। वे सम्पूर्ण भारत को एक ध्वज के नीचे लाना चाहते थे। उन्होंने एक राष्ट्रभाषा हिन्दी का समर्थन किया।

आर्यसमाज की भाँति 'रामकृष्ण मिशन' देश मे आध्यात्मिक उन्नति के साथ राष्ट्रीय जागरण की प्रेरणा दे रहा था। विवेकानन्द ने हिन्दू धर्म और भारतीय संस्कृति का डका विश्व मे बजाया। उन्होंने ईश्वर-भक्ति के साथ स्वदेश-प्रेम व स्वाधीनता के साथ जोड दिया। वे भारत में लोहे की मांस-पेशियाँ और फौलाद की नाड़ी तथा धमनी देखना चाहते थे। श्री दिनकरजी के उद्गार, दृष्टव्य हैं— "विवेकानन्द वह सेतु है जिस पर प्राचीन और नवीन भारत परस्पर आलिगन करते हैं। विवेकानन्द वह समुद्र है जिसमे धर्म और राजनीति, राष्ट्रीयता और अन्तर्राष्ट्रीयता तथा उपनिषद् तथा विज्ञान सबके-सब समाहित होते है।"[१]

रवीन्द्रनाथ, महर्षि अरविन्द, सुभाष बाबू सभी ने विवेकानन्द के धर्म को राष्ट्रीय-धर्म के रूप मे ही स्वीकार किया।

'थियोसोफीकल सोसायटी' की भारत मे स्थापना द्वारा श्रीमती एनीबेसेन्ट ने राष्ट्रीय स्वतंत्रता की हिमायत की। उनके विचार थे कि भारत की रक्षा हिन्दुत्व के विकास मे ही सन्निहित है। उनकी हिन्दुत्व की कल्पना तमाम भारतवासियों तक विस्तृत थी।

इन सास्कृतिक आदोलनो के प्रभाव के विषय मे श्री रामधारीसिंह दिनकर अपने विचार व्यक्त करते हुए लिखते है—

"...... "इतना अवश्य हुआ कि आधिभौतिकता की टकराहट से भारत की ऊँघती हुई बूढी सभ्यता की नींद खुल गई, और वह इस भाव से अपने घर के सामानों पर नजर दौडाने लगी कि जो चीजें लेकर यूरोप भारत आया है, वे हमारे घर मे हैं या नही ? भारतीय सभ्यता का यही जागरण भारत का नवोत्थान था।"[२]

देश मे प्रचलित ये समस्त धार्मिक आदोलन भक्तिकाल के धार्मिक आदोलनो की भाँति धर्म तक सीमित न रहकर देश के समस्त पहलुओं मे आमूल परिवर्तन कर रहे थे। इनका मूल लक्ष्य देश मे नवीन चेतना और स्वतंत्रता की भावनाओ का उत्कर्ष था। जो देश के एक छोर से दूसरे छोर तक लहरा उठा था।

हिन्दुओं के उपरात मुसलमानो मे भी नये विचार पनप रहे थे। नई शिक्षा बढ रही थी। पारसी इस देश को अपना मानकर इसकी स्वतंत्रता के लिए पूर्ण योग दे रहे थे।

---

१. संस्कृति के चार अध्याय : रामधारीसिंह दिनकर : पृ० ५६३।
२. संस्कृति के चार अध्याय, रामधारीसिंह दिनकर : पृ० ५३८।

निष्कर्षतः यह कहना योग्य ही है कि १८५६ के पश्चात् देश के हिन्दू, मुसलमान, पारसी सभी देश को स्वतंत्र देखने के लिए लालायित हो उठे। कंधे से कंधा मिलाकर लड़ने के लिए जाग उठे।

१८५७ के पश्चात् राष्ट्रीय विकास में विविध परिस्थितियों का योगदान

राजनीतिक परिस्थिति :

१८५७ के पश्चात् भारत का राज्य-तंत्र इंग्लैंड की पार्लियामेंट के हाथ में चला गया। देशवासियों को विक्टोरिया के घोषणा-पत्र के अंतर्गत दिए गए आश्वासन भ्रम सिद्ध हुए।

स्वतन्त्रता के लिए १८७६ में 'इण्डियन एसोसियेशन' की स्थापना करके सुरेन्द्रनाथ बनर्जी देशवासियों को स्वतंत्र होने के लिए प्रेरित करने लगे। भारतीयों पर अनेक बन्धन कानून द्वारा कसे जाने लगे। 'वर्नाक्युलर प्रेस एक्ट' ने देश की वाणी को अवरुद्ध कर दिया जिसमें लोगों में विरोध की भावनाएँ जागृत हुईं।

भारतीयों की रक्षा के लिए प्रस्तुत 'इल्बर्ट बिल' जब अपने मूल रूप में पारित न हो सका तब भारतीयों ने यह अनुभव किया कि उनका प्रतिनिधित्व करने वाली कोई अखिल भारतीय संस्था होनी चाहिए। सन् १८८५ में ह्यूम नामक अंग्रेज ने यह सोचकर कि कहीं भारतीय ज्वालामुखी अंग्रेजी राज को भस्म न कर डाले—देश हितैषियों को एकत्र कर 'इण्डियन नेशनल कांग्रेस' की स्थापना की जिसका प्रारंभिक उद्देश्य प्रतिवर्ष सम्मेलन बुलाकर सामाजिक प्रश्नों की चर्चा करना घोषित किया गया। क्रमशः सामाजिकता से आगे बढ़कर राजनैतिक अधिकारों की माँग भी इसका लक्ष्य बनने लगा। प्रारम्भ में ऊँचे लोगों की यह संस्था भविष्य में समस्त भेदभावों से ऊपर उठकर जनसाधारण की बन गई।

१९०५ में शासकीय सुविधा का बहाना बताकर अंग्रेजों ने हिन्दू-मुसलमानों को अलग करने की नीति के संदर्भ में बंगाल का विभाजन किया। जिससे देश में विरोध की लहर दौड़ गई। अंग्रेजों और अंग्रेजी वस्तुओं का देश-व्यापी बहिष्कार होने लगा। फलस्वरूप बंगाल में क्रांति-दल की स्थापना हुई जो बंगाल में पूरे देश में छा गया। क्रान्तिकारियों ने अनेक राजनीतिक हत्यायें कीं, बम फेंके, सरकारी खजाने लूटे और देश की स्वतन्त्रता एवं एकता के लिए फाँसी के फंदे को हँसते-हँसते स्वीकार कर लिया। क्रांति की तैयारियाँ अनेक क्रांतिवीर विदेशों में जाकर करने लगे। क्रांति के समर्थन में तिलक और अरविंद घोष जैसों को कारावास भोगना पड़ा। 'वंदेमातरम्' क्रांतिकारियों का पूजागीत बन गया।

१९०६ में सर्वप्रथम दादाभाई नौरोजी ने स्वराज्य की माँग अंग्रेजी शासन के अन्तर्गत की। जिसका तिलक और लालाजी जैसे नेताओं ने राजनीतिक भिख-मंगा कह कर विरोध किया। इस प्रकार काग्रेस नरम दल और गरम दल में विभक्त हो गई।

अंग्रेजों की हिन्दु-मुसलमानों को अलग रखने की नीति के फलस्वरूप १९०७ में 'मुस्लिम-लीग' की स्थापना हुई। जो अथ से इति तक वैमनस्य वमन करती रही।

१९१४ में श्रीमती एनीबेसन्ट ने 'होमरूल-लीग' की स्थापना कर स्वतंत्रता की गूंज देश के कोने-कोने मे फैला दी।

१९१५ मे गाँधीजी ने भारतीय राजनीति मे प्रवेश किया। सर्वप्रथम सत्याग्रह के माध्यम से उन्होंने 'गिरमित-प्रथा, तीन कठिया प्रथा' को बन्द कराया। १९१८ के खेडा सत्याग्रह से उन्हे अखिल भारतीय स्तर पर प्रसिद्धी मिली। गाँधीजी ने सत्य और अहिंसा को ही स्वतन्त्रता संग्राम के शस्त्र के रूप मे स्वीकार किया।

१९१९ के 'रोलेट एक्ट' के काले कानून का विरोध गांधीजी ने उपवास द्वारा और देश ने हड़ताल द्वारा किया।

१९२० का जलियाँवाला हत्याकाण्ड देश के मुंह पर एक तमाचा था। हत्याकाण्ड की तटस्थ-जांच न होने पर गांधीजी ने प्रसिद्ध असहयोग आन्दोलन किया जिसमे विदेशी का वहिष्कार और स्वदेशी को स्वीकार किया गया। काग्रेस ने गाँधीजी को 'सविनय अविज्ञा भंग की लड़त की पूर्ण सत्ता प्रदान की। चौराचौरी की हिंसात्मक घटना के पश्चात् गाँधीजी ने सत्याग्रह को स्थगित कर दिया।

१९२७ मे भारतीयों का प्रतिनिधित्व न होने के कारण सम्पूर्ण देश ने 'साइमन कमीशन' का विरोध किया। देश को लालाजी जैसे नेताओं का भोग देना पडा।

१९३० मे 'लाहोर-अधिवेशन' मे पूर्ण स्वराज्य की घोषणा की गई। २६ जनवरी १९३० का दिन स्वतन्त्रता दिन के रूप मे मनाया गया।

सुभाष बाबू गाँधीजी से मतभेद होने के कारण काग्रेस से अलग हो गए और 'आजाद हिन्द-फौज' की स्थापना द्वारा देश-विदेश मे घूम कर स्वतन्त्रता के प्रयत्न करने लगे।

१९३७ मे आम चुनाव हुए। काग्रेसी और लीगी मन्त्रि-मडल बने। परन्तु, १९३९ मे द्वितीय विश्व युद्ध मे बिना किसी सूचना के भारत को उसमे सम्मिलित घोषित किए जाने के विरोध मे कांग्रेसी मन्त्रि-मण्डल ने त्याग-पत्र दिया। परन्तु लीग ने मुक्ति-दिन मनाया। लीग अब साम्प्रदायिक राष्ट्र की माँग पर अडिग थी। जिसने गांधीजी के समझौते के समस्त प्रयासो को ठुकरा दिया।

निष्कर्षतः यह कहना योग्य ही है कि १८५६ के पश्चात् देश के हिन्दू, मुसलमान, पारसी सभी देश को स्वतंत्र देखने के लिए लालायित हो उठे। कंधे से कंधा मिलाकर लड़ने के लिए जाग उठे।

१८५७ के पश्चात् राष्ट्रीय विकास में विविध परिस्थितियों का योगदान

राजनीतिक परिस्थिति :

१८५७ के पश्चात् भारत का राज्य-तंत्र इंग्लैंड की पार्लियामेंट के हाथ में चला गया। देशवासियों को विक्टोरिया के घोषणा-पत्र के अंतर्गत दिए गए आश्वासन भ्रम सिद्ध हुए।

स्वतंत्रता के लिए १८३६ में 'इण्डियन एसोसियेशन' की स्थापना करके सुरेन्द्रनाथ बनर्जी देशवासियों को स्वतंत्र होने के लिए प्रेरित करने लगे। भारतीयों पर अनेक बन्धन कानून द्वारा कसे जाने लगे। 'वर्नाक्युलर प्रेस एक्ट' ने देश की वाणी को अवरुद्ध कर दिया जिससे लोगों में विरोध की भावनाएँ जागृत हुई।

भारतीयों की रक्षा के लिए प्रस्तुत 'इल्बर्ट बिल' जब अपने मूल रूप में पारित न हो सका तब भारतीयों ने यह अनुभव किया कि उनका प्रतिनिधित्व करने वाली कोई अखिल भारतीय संस्था होनी चाहिए। सन् १८८५ में ह्यूम नामक अंग्रेज ने यह सोचकर कि कहीं भारतीय ज्वालामुखी अंग्रेजी राज्य को भस्म न कर डाले—देश हितैषियों को एकत्र कर 'इण्डियन नेशनल कांग्रेस' की स्थापना की जिसका प्रारंभिक उद्देश्य प्रतिवर्ष सम्मेलन बुलाकर सामाजिक प्रश्नों की चर्चा करना घोषित किया गया। क्रमशः सामाजिकता से आगे बढ़कर राजनैतिक अधिकारों की मांग भी इसका लक्ष्य बनने लगा। प्रारम्भ में ऊँचे लोगों की यह संस्था भविष्य में समस्त भेदभावों से ऊपर उठकर जनसाधारण की बन गई।

१९०५ में शासकीय सुविधा का बहाना बनाकर अंग्रेजों ने हिन्दू-मुसलमानों को अलग करने की नीति के संदर्भ में बंगाल का विभाजन किया। जिससे देश में विरोध की लहर दौड़ गई। अंग्रेजों और अंग्रेजी वस्तुओं का देश-व्यापी बहिष्कार होने लगा। फलस्वरूप बंगाल में क्रांति-दल की स्थापना हुई जो बंगाल से पूरे देश में छा गया। क्रान्तिकारियों ने अनेक राजनीतिक हत्याएँ कीं, बम फेंके, सरकारी खजाने लूटे और देश की स्वतंत्रता एवं एकता के लिए फांसी के फंदे को हँसते-हँसते स्वीकार कर लिया। क्रांति की तैयारियाँ अनेक क्रांतिवीर विदेशों में जाकर करने लगे। क्रांति के समर्थन में तिलक और अरविंद घोष जैसों को कारावास भोगना पड़ा। 'वंदेमातरम्' क्रांतिकारियों का पूजागीत बन गया।

१६०६ मे सर्वप्रथम दादाभाई नौरोजी ने स्वराज्य की माँग अंग्रेजी शासन के अन्तर्गत की। जिसका तिलक और लालाजी जैसे नेताओं ने राजनीतिक भिखमंगा कह कर विरोध किया। इस प्रकार काग्रेस नरम दल और गरम दल में विभक्त हो गई।

अंग्रेजो की हिन्दु-मुसलमानों को अलग रखने की नीति के फलस्वरूप १६०७ में 'मुस्लिम-लीग' की स्थापना हुई। जो अथ से इति तक वैमनस्य वमन करती रही।

१६१४ मे श्रीमती एनीबेसन्ट ने 'होमरूल-लीग' की स्थापना कर स्वतंत्रता की गूंज देश के कोने-कोने मे फैला दी।

१६१५ मे गाँधीजी ने भारतीय राजनीति मे प्रवेश किया। सर्वप्रथम सत्याग्रह के माध्यम से उन्होंने 'गिरमित-प्रथा, तीन कठिया प्रथा को बन्द कराया। १६१८ के खेडा सत्याग्रह से उन्हे अखिल भारतीय स्तर पर प्रसिद्धी मिली। गाँधीजी ने सत्य और अहिंसा को ही स्वतन्त्रता संग्राम के शस्त्र के रूप मे स्वीकार किया।

१६१६ के 'रोलेट एक्ट' के काले कानून का विरोध गाँधीजी ने उपवास द्वारा और देश ने हड़ताल द्वारा किया।

१६२० का जलियाँवाला हत्याकाण्ड देश के मुँह पर एक तमाचा था। हत्याकाण्ड की तटस्थ-जाँच न होने पर गाँधीजी ने प्रसिद्ध असहयोग आन्दोलन किया जिसमें विदेशी का बहिष्कार और स्वदेशी को स्वीकार किया गया। काग्रेस ने गाँधीजी को 'सविनय अविज्ञा भंग की लडत की पूर्ण सत्ता प्रदान की। चौराचौरी की हिंसात्मक घटना के पश्चात् गाँधीजी ने सत्याग्रह को स्थगित कर दिया।

१६२७ मे भारतीयो का प्रतिनिधित्व न होने के कारण सम्पूर्ण देश ने 'साइमन कमीशन' का विरोध किया। देश को लालाजी जैसे नेताओ का भोग देना पड़ा।

१६३० मे 'लाहोर-अधिवेशन' मे पूर्ण स्वराज्य की घोषणा की गई। २६ जनवरी १६३० का दिन स्वतन्त्रता दिन के रूप मे मनाया गया।

सुभाष बाबू गाँधीजी से मतभेद होने के कारण काग्रेस से अलग हो गए और 'आजाद हिन्द-फौज' की स्थापना द्वारा देश-विदेश मे घूम कर स्वतन्त्रता के प्रयत्न करने लगे।

१६३७ मे आम चुनाव हुए। काग्रेसी और लीगी मंत्रि-मडल बने। परन्तु, १६३६ मे द्वितीय विश्व युद्ध मे बिना किसी सूचना के भारत को उसमे सम्मिलित घोषित किए जाने के विरोध मे काग्रेसी मंत्रि-मण्डल ने त्याग-पत्र दिया। परन्तु लीग ने मुक्ति-दिन मनाया। लीग अब साम्प्रदायिक राष्ट्र की माँग पर अडिग थी। जिसने गाँधीजी के समझौते के समस्त प्रयासो को ठुकरा दिया।

१९४२ में 'भारत-छोडो' आन्दोलन प्रचण्डता से प्रारम्भ हो गया। इंग्लैण्ड की सरकार ने युद्ध-समाप्ति पर स्वराज्य देने की घोषणा की जिसमें पाकिस्तान का सैद्धान्तिक रूप स्वीकार था। और देशी राज्यों की स्वतन्त्रता भी मान्य थी।

१९४७ की १५ अगस्त को अखण्ड भारत हिन्दुस्तान और पाकिस्तान नामक दो टुकड़ों में बँटकर भीषण रक्त-पात बहा कर स्वतन्त्र हुआ। वल्लभभाई पटेल के प्रयत्नों से स्वतन्त्र भारत अवश्य अखण्ड बन सका। १९० वर्ष के गुलाम भारत ने स्वतन्त्रता के दर्शन किए।

आर्थिक परिस्थिति

'ईस्ट इण्डिया कम्पनी' के वर्चस्व में भारत के गृह-उद्योग मृत होने लगे। भारत का कच्चा माल कौड़ियों के मोल खरीद कर इंग्लैण्ड का तैयार माल यहाँ सोने के भाव बेचा जाने लगा। भारत को प्रतिद्वन्द्वी मानकर उसके पतन का प्रयत्न अंग्रेजों का ध्येय बन गया। प० जवाहरलाल नेहरू ने सच ही कहा है—"...... अंग्रेजों के हाथ में सत्ता होने के कारण अपने असली प्रतिद्वन्द्वियों की हत्या कर डाली।"[1]

मुक्त व्यापार की आड़ में परदेशी माल ही देश के बाजारों में भर रहा था। देश के उद्योग टूटने के कारण निराश कारीगर गाँव में लौटने लगे और भूमि छोटे-छोटे टुकड़ों में बँट गई। भूमि-कर उत्तरोत्तर बढ़ने लगा। बेकारी और भुखमरी के साथ-साथ अकाल और महामारी—जैसी बीमारियाँ फैलने लगीं। १९वीं शती के प्रारम्भ में फैले अकाल में दो करोड़ व्यक्ति मर गए। एक ओर भारतवासी भूख से मर रहे थे, दूसरी ओर विक्टोरिया की स्वर्ण-जयंती मनाने के लिए सरकार लाखों रुपये पानी की तरह बहा रही थी।

यद्यपि देश में नए उद्योग स्थापित हुए परन्तु कारीगर अब मात्र मजदूर था और मालिकों का गुलाम भी।

सरकारी नौकरियों में भारतीयों के प्रति भेदभाव मानकर, उन्हें तुच्छ समझ कर कम वेतन दिया जाता। नौकर-वर्ग में यह भेद-भाव असन्तोष जागृत कर रहा था।

देश के मजदूरों और किसानों के अत्याचारों के विरुद्ध गाँधीजी और वल्लभभाई जैसे नेताओं के नेतृत्व में अनेक सत्याग्रह हुए। मजदूरों की स्थिति सुधारने के लिए अनेक ट्रेड-यूनियनें स्थापित हुई जिन पर रूसी क्रांति का विशिष्ट प्रभाव था।

मजदूरों और किसानों के इन संगठनों ने असहयोगादि आन्दोलनों में महत्व-पूर्ण योग दिया।

---

१. संक्षिप्त विश्व इतिहास की झलक . पं० जवाहरलाल नेहरू : पृ० २५१।

सामाजिक-सांस्कृतिक स्थिति :

आर्थिक सघर्ष के कारण देश का नैतिक पतन भी होने लगा । स्वाभिमान की भावनायें भूख की चिन्ता में रुँध गई । सामाजिक मर्यादायें टूटने लगी । रुढियों और अन्धविश्वासो के निर्वाह हेतु होने वाले व्यय ने उनकी स्थिति और भी दयनीय बना दी । दहेज का दूषण समाज को कलकित बना रहा था । समाज मे व्यभिचार पनप रहा था । आर्थिक वैषम्य के कारण समाज मे द्वेष और सघर्ष बढ रहे थे ।

अग्रेजी भाषा का प्रभाव और लोभ से नवयुवको मे अग्रेजियत के प्रति अन्ध-श्रद्धा बढ़ रही थी और धर्म-परिवर्तन भी जोरो से हो रहे थे । धर्म-परिवर्तन करने वाले भारतीय अपने देशवासियो को ही जाहिल और अशिक्षित मानते थे जिनसे पारस्परिक द्वेष ही बढ़ता था ।

समाज मे छूत-अछूत और ऊँच-नीच के भेदभाव देश मे खण्डितता का वातावरण उत्पन्न कर रहे थे । सास्कृतिक जागरण के कारण और गांधीजी जैसे नेताओ के प्रयत्न से इन भेदभावों को दूर करने का प्रयास किया गया ।

नारी जो चारदीवारी मे कैद थी वह भी कर्म-क्षेत्र मे उतर आयी । नारी का सहयोग स्वातन्त्र्य-सग्राम मे महत्वपूर्ण योगदान देता रहा ।

निष्कर्षत हम यह कह सकते है कि भारत के राष्ट्रीय सग्राम और उसके स्वरूप के विकास मे सभी परिस्थितियो का न्यूनाधिक रूपक मे योगदान रहा । यही परिस्थितियाँ थी जो युगीन कवियों को प्रेरणा प्रदत्त करती रही और कवि परिस्थितियो का चित्रण अपने काव्य मे निरूपित कर देश-वासियो की प्रेरणा का सन्देश देता रहा और कुरीतियों का खण्डन करता रहा ।

द्वितीय अध्याय

हिन्दी साहित्य में राष्ट्रीयता और दिनकर

प्रथम अध्याय में हम संक्षिप्त किन्तु गवेषणात्मक ढंग से राष्ट्र एवं राष्ट्रीयता की व्युत्पत्ति एवं व्याख्या प्रस्तुत कर चुके हैं। राष्ट्रीयता के पोषक तत्वों का उल्लेख भी हो चुका है।

भारत में राष्ट्रीयता की पृष्ठभूमि के रूप में प्रवृत्त प्रवृत्तियों का विश्लेषण करते हुए उसके विकास की संक्षिप्त रूपरेखा भी प्रस्तुत की है।

द्वितीय अध्याय में हम हिन्दी साहित्य में उपलब्ध राष्ट्रीयता पर दृष्टिपात करते हुए दिनकर के काव्यों में राष्ट्रीयता पर सविस्तार विवेचना करेंगे।

(अ) हिन्दी साहित्य में राष्ट्रीयता

अपभ्रंश-साहित्य में राष्ट्रीय तत्व :

चारण-काल से पूर्व राष्ट्रीयता के तत्व अपभ्रंश-साहित्य में मिलते हैं। इसका समय-निर्धारण सामान्यतः छठी सदी से ग्यारहवीं-बारहवीं सदी तक माना गया है। अधिकांशतः अपभ्रंश में जैन-साहित्य ही लिखा गया है।

अपभ्रंश के प्रथम कवि स्वयंभू ने 'पद्म चरित' में तथा पुष्पदन्त ने अपने प्रसिद्ध ग्रन्थ 'महापुराण' में धार्मिक भावनाओं के साथ वीरों के उत्साह तथा शत्रु के विनाश की भावनाओं का वीरतापूर्ण वर्णन किया है। विशेष उल्लेखनीय यह है कि *पुरुषों की तरह नारियाँ भी शत्रुओं के दमन के लिए लालायित दीख पड़ती हैं।*[1]

'महापुराण' में राष्ट्र की कल्पना उसकी समृद्धि और सुख की कल्पना करते हुए कवि सामन्ती व्यवस्था को ललकारता है।

इस काल में लिखे गए हेमचन्द्र के 'प्राकृत व्याकरण', विद्यापति के 'कीर्ति-लता' ग्रन्थ में अनेक वीरता-पूर्ण वर्णन उपलब्ध हैं। इनके उपरान्त शार्ङ्गधर, बब्बर आदि कवियों की रचना में भी मातृभूमि के उत्कर्ष की ओर रक्षण की प्रबल भावना के दर्शन होते हैं।

---

१. महापुराण (सं०-डॉ० पी० एल० वैद्य) भाग २ पृ० ५२।

अपभ्रंश साहित्य के रोमाचकारी युद्ध-वर्णन राष्ट्रीय उन्नति मे प्रेरणा-सूत्र के रूप में कार्य करते रहे। वीर भावना ही इस युग की राष्ट्रीयता का प्रधान अग वनी रही। इस युग का वीरतापूर्ण वर्णन चारण-काल के लिए पृष्ठभूमि के रूप मे प्रेरणादायी बना रहा।

चारण-साहित्य में राष्ट्रीयता :

अपभ्रश के पश्चात् राष्ट्रीय तत्त्वो से युक्त डिंगल-साहित्य चारण-साहित्य के नाम से प्रसिद्ध हुआ। मुसलमानो के आक्रमण और देशी राजाओ के प्रतिकार की भावनाओ तथा युद्धों से इस साहित्य का प्रादुर्भाव हुआ। यह साहित्य जाति और देश के गौरव को बनाये रहा तथा मृत हृदयों मे भी शक्ति का संचार करता रहा।

दलपति विजय का 'खुमान रासो' तथा नरपति नाल्ह का 'बीसलदेव रासो' इस काल की प्रारंभिक प्रसिद्ध रचनायें है।

चारण-साहित्य का सर्वाधिक प्रसिद्ध एवं तत्कालीन परिस्थितियो को अंकित करने वाला ग्रन्थ 'पृथ्वीराज रासो' है। यद्यपि इस ग्रन्थ की प्रामाणिकता संदिग्ध है, तथापि तत्कालीन परिस्थितियों के सन्दर्भ मे हम इस कृति को राष्ट्रीय काव्य-धारा को व्यक्त करने वाली कृति कह सकते हैं।

रासो काव्य-साहित्य विशेष रूप मे प्रेम और शौर्य का साहित्य है। परन्तु, उसमें तत्कालीन सामाजिक, आर्थिक एव अन्य युगीन परिस्थितियों का वर्णन उपलब्ध होता है। आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी ने इस युग के साहित्य को तत्कालीन युग की परिस्थितियो का वृहद् कोश मानते हुए इसे तत्कालीन भारतीय समाज का काव्यात्मक इतिहास माना है।[1]

रासो-साहित्य के उपरान्त 'आल्हा खण्ड', 'विजयपाल रासो', 'रणमल छंद' आदि भी इस युग की प्रमुख राष्ट्रीय विचारधारा से अनुप्राणित काव्य-कृतियाँ हैं।

इस काल के चारण कवि राजाश्रित थे और वे राजाओं का गुणगान करने मे ही अपने काव्य की इतिश्री समझते थे। राजा लोग भी छोटे राज्यों मे बँटकर, आपस में लड़-झगड कर राष्ट्रीयता का महती भावना को संकुचित कर रहे थे। इस युग मे नारी भी प्रायः उपेक्षित थी।

इन त्रुटियो के बावजूद उस काल के साहित्य मे जो उद्बोधन एव जागृति-युक्त वीरगीत, रासा आदि लिखे गए, वे भारत की अतीत से चली आ रही राष्ट्रीयता की अखण्ड धारा में आप्लावित प्रतीत होते है। यही भावनायें पतनोन्मुख देश को संघर्ष करते रहने और जीवनोत्सर्ग करने की प्रेरणा देती रही।

१. हिन्दी साहित्य का आदि काल : आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी : पृ०

यद्यपि इस समय का राष्ट्रीय काव्य परवर्ती राष्ट्रीय काव्य की तरह क्रांतिकारी तो नहीं है, परन्तु उसमें परोक्षरूपेण देश की स्वतन्त्रता का महत्तम उद्घोष है।

इस युग के साहित्य में राष्ट्रीयता के तत्व सामाजिक एवं सांस्कृतिक जागरण के परिवेश में ही प्रस्फुटित हुए हैं।

भारतेन्दु-युग में जो राष्ट्रीय साहित्य लिखा गया, उसमें मूलतः

१—अतीत का गुणगान तथा,

२—वर्तमान परिस्थिति के प्रति क्षोभ व्यक्त किया गया है।

अतीत का गुणगान

भारत जब सभी क्षेत्रों में परतन्त्र होकर हीन दशा में आँसू बहा रहा था, उस समय भारत की विशाल भूमि, उसकी अतीत की समृद्धि और गौरव-गाथाओं द्वारा ये कवि देश को नवीन चेतना प्रदान कर रहे थे।

भारतेन्दु ने तथा अन्य युगीन कवियों ने अपने काव्यों में अतीत की गौरव-गाथाओं को अंकित किया है।

भारतेन्दु कभी भारत के सौन्दर्य का स्मरण करते हैं, कभी अतीत के महापुरुषों का स्मरण करते है जिन्होंने इस देश को गौरव प्रदान किया था।[1]

प्रेमघन 'सर्वस्व' के काव्यों में देश के प्रति उत्कट अनुराग एवं उसके उज्ज्वल अतीत की स्मृतियाँ संचित है।[2]

इसी प्रकार से भाव प्रतापनारायण मिश्र, बालमुकुन्द गुप्त आदि अन्य युगीन कवियों की कृतियों में भी द्रष्टव्य है।

वर्तमान के प्रति क्षोभ :

इस युग के कवियों ने देखा कि जिस देश में कभी सोना बरसता था, आज उसी देश के लोग रोटी के टुकड़ों के लिए तरस रहे हैं। देश की कृषि और उद्योग शासक-वर्ग के शोषण से नष्ट हो रहे हैं। ऐसी स्थिति को देखकर इन कवियों ने इस पतन के प्रति अपना दर्द और क्षोभ व्यक्त किया। प्रतापनारायण मिश्र की इन पंक्तियों में युग के ऐसे विषम वातावरण को वाणी मिली है—

> "तबहिं लख्यौ जँह रह्यो एक दिन कंचन बरसत,
> तहँ चौथाई जन रूखी रोटी को तरसत।
> जहाँ कृषि, वाणिज्य, शिल्प, सेवा सब याहीं,
> देसिन के हित कछू तत्व कहुँ कैसेहु नाहीं।"[3]

---

१. देखिये—भारतेन्दु नाटक-कालीन (नीलदेवी)।

२. प्रेमघन सर्वस्व (प्रथम भाग) : पृ० ६२६।

३. कविता कौमुदी (नन्दन) प्रतापनारायण मिश्र : पृ० ६५।

प्राय: समस्त कवियों ने ऐसे ही विषमता दर्शक चित्र प्रस्तुत कर देश की यथार्थ परिस्थिति का युगाकन करते हुए देशवासियो को जागृति की प्रेरणा प्रदान की।

भारतेन्दु-युग की राष्ट्रीय कविताओं में इन दो विशेषताओं के उपरान्त स्वदेशी का समर्थन भी पर्याप्त मात्रा में किया गया है। उन्होंने पाश्चात्य वेशभूषा, रीति-रिवाज अपनाने वाले भारतीयों पर व्यग भी किए है।[1]

जागरण-गीत भी इस युग मे लिखे गए हैं। स्वयं भारतेन्दुजी ने 'नील देवी' नाटक में बहादुरों को तलवार खीचकर केसरिया बाना पहनकर कुल की मर्यादा बचाने के लिए एवं देश को स्वतन्त्र करने के लिए उत्तेजित किया है।[2]

अनेक जागरण-गीतों में वन्देमातरम् की गूँज और देश के आशापूर्ण भविष्य के स्वर सुनाई देते है। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने इस युग की राष्ट्रीय काव्य-धारा के विषय मे अपने विचार व्यक्त करते हुए लिखा है—"नवीन-धारा के बीच भारतेन्दु की वाणी का सबसे ऊँचा स्वर देश-भक्ति का था। 'नीलदेवी', 'भारत दुर्दशा' आदि नाटको के भीतर आयी हुई कविताओं मे देश-दशा की जो मार्मिक व्यंजना है, वह तो है ही; बहुत-सी स्वतन्त्र कवितायें भी उन्होंने लिखी, जिनमे कही देश की अतीत गौरव-गाथा का गर्व, कही वर्तमान अधोगति की क्षोभ-भरी वेदना, कही भविष्य की भावना से जगी हुई चिन्ता आदि अनेक पुनीत भावों का संचार पाया जाता है।"[3]

हिन्दू-मुसलमानो की एकता के समर्थन मे इन कवियो ने अनेक कवितायें लिखी। और प्राय भारत मे निवास करने वाली हर जाति की एकता पर जोर दिया।

इस प्रकार की राष्ट्रीय रचनाओं के उपरान्त इस युग के कवियों ने अँग्रेजों की प्रशस्ति मे भी अनेक रचनायें लिखी और अँग्रेजो द्वारा किए गए कार्यो की प्रशसा भी की।[4] इस प्रकार के काव्यो मे भी देश की दशा का वर्णन तो शासको तक पहुँचाया ही गया।

राष्ट्रीय जागरण की दृष्टि से अनेक आलोचको ने इस युग के काव्य-साहित्य को पूर्ण स्वस्थ नही माना। श्री शिवदानसिंह चौहान जिन्होने यह तो स्वीकार किया है कि हिन्दी की आधुनिक कविता राष्ट्रीयता के क्रोड़ मे पनपी है, परन्तु वे यह भी मानते है कि उसके पोषण मे भारतेन्दु-युग का प्रदान अधिक महत्वपूर्ण नही था—

१. देखिये–भारतेन्दु ग्रन्थावली : पृ० ७३५-७३७।
२. भारतेन्दु नाटकावलि (नीलदेवी) : पृ० ६७३।
३. हिन्दी साहित्य का इतिहास, रामचन्द्र शुक्ल : पृ० ५४२।
४. देखिये–भारतेन्दु का 'रिपनाष्टक' तथा 'विजयवल्लरी' तथा प्रतापनारायण मिश्र का 'ब्रैडला-स्वागत'।

" ... कोई व्यापक राष्ट्रीय भावना भारतेन्दु-युग के लेखकों में नहीं मिलती। अंग्रेजों के आर्थिक शोषण, भुखमरी और अकाल का उल्लेख उनकी तुकबन्दियों में यत्र-तत्र अवश्य मिलता है। ... "भारतेन्दु और उनके समकालीन लेखक हिन्दी और हिन्दू जाति के उद्धार के लिए आन्दोलन करने वाले देश-प्रेमी पत्रकार और प्रचारक ही अधिक थे, कवि या साहित्यकार कम।"[1]

श्री शिवदानसिंह चौहान की आलोचना किन्हीं अंशों तक ठीक हो सकती है। क्योंकि हम स्पष्ट कर चुके है कि इन कवियों द्वारा की गई साम्राज्य-प्रशंसा उनका लक्ष्य नहीं था। क्योंकि इन प्रशस्तियों में भी देश-दशा का वर्णन अंकित कर ये कवि शासक-वर्ग का ध्यान आकर्षक करना चाहते थे। दूसरे देशों में अभी राष्ट्रीय-जागरण का प्रारम्भ था। लोगों को स्वतंत्र होने की ओर प्रेरित करने से पूर्व समाज के आन्तरिक दूषणों को दूर करना जरूरी था। सच तो यह है कि भारतेन्दु-युगीन कविता राष्ट्रीयता के सम्बन्ध में एक ऐसी कड़ी है जिसने राष्ट्रीय आन्दोलन और सामाजिक जागरण के प्रवर्तन में अपना ऐतिहासिक योगदान दिया। इसी पृष्ठभूमि पर द्विवेदी-युगीन काव्य विकसित हुआ।

द्विवेदीकालीन साहित्य में राष्ट्रीयता

आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी के साहित्य-क्षेत्र में पदार्पण करने के पश्चात् हिन्दी साहित्य को नई दिशा मिली। भारतेन्दु-युग में निर्मित काव्य-पृष्ठभूमि का विस्तार हुआ। इस काल में भी सामाजिक उत्कर्ष को लक्ष्य बना कर पर्याप्त काव्य सृजन हुआ। राष्ट्रोन्नति की भावना काव्य का माध्यम बनने लगी। भाषा और भावों की गहराई साहित्य में बढ़ने लगी।

देश की राजनीतिक हलचल जोरों पर थी। क्रान्तिकारी प्रवृत्तियों का यौवन-काल था। हिन्दी साहित्य राष्ट्रीय-तत्वों से पर्याप्त रूपेण प्रभावित हो चुका था। देश हर प्रकार के संकीर्ण दायरे को त्याग कर स्वतन्त्रता की कामना ही का ध्येय बना चुका था। पश्चिमी साहित्य के अनुवादों द्वारा वहां की क्रान्तियों का अध्ययन करने के पश्चात् युवक-वर्ग क्रान्ति की भावना में जुट गया था। भारतेन्दु-युग में अंकुरित राष्ट्रीयता की लता लहलहा उठी।

द्विवेदी-युगीन काव्यों में राष्ट्रीयता की प्रवृत्तियां निम्न रूप में दृष्टव्य हैं।

१. अतीत का गुणगान :

भारतेन्दु युगीन कवियों ने अतीत के जो स्वर छेड़े थे, इस युग के कवियों ने उन स्वरों में गूंज उत्पन्न कर दी। भारत की वन्दना माँ और भवानी के रूप में की गई। देश का भव्य रूप अंकित करते हुए उनके विश्व-व्यापी रूप का उत्कर्षपूर्ण

---

१ हिन्दी साहित्य के अस्सी वर्ष, शिवदानसिंह चौहान : पृ० २४-२६।

चित्र निरूपित किया गया। देश के उन वीरों का स्मरण किया गया, जिन्होंने स्वतन्त्रा की रक्षा करने के लिए सर्वस्व बलिदान किया था। इस प्रकार के चित्र सर्वाधिक रूप मे मैथिलीशरण गुप्त की कविताओ मे विशेष रूप से अंकित हुए है।
यथा—

"नीलाबर परिधान हरित पट पर सुन्दर है
सूर्य, चन्द्र युग मुकुट मेखला रत्नाकर है
नदियाँ प्रेम प्रवाह फूल तारे मण्डन है
बदी जन खग-वृन्द शेष-फन सिंहासन है
करते अभिषेक पयोद है, बलिहारी इस वेष की।
हे मातृभूमि ! तू सत्य ही सगुण मूर्ति सर्वेश की।"[1]

अतीत का गुणगान रामनरेश त्रिपाठी, ठा० गोपालशरण सिंह, हरिऔध, सियारामशरण गुप्त, मन्मन द्विवेदी आदि सभी कवियो ने बडी ही तन्मयता से किया है। अतीत की इन गाथाओ ने सचमुच वर्तमान वीरों के प्राणो मे चैतन्य की ज्योति जगाई।

वंदना-गीत :

'वदना गीत' की परम्परा का प्रारम्भ श्रीधर पाठक के 'हिन्द-वंदना' गीत से मिलता है। कवि ने इन वंदना गीतों मे भारत की शक्ति, शौर्य, धन, वैभव, धर्म एव भक्ति के साथ उसकी स्वाधीनता की जय-घोषणा की है। इन गीतो मे स्तवन की सी तन्मयता मिलती है।

वग-भंग के पश्चात् स्वदेशी आन्दोलन के साथ वदना-गीतो का भी विस्तार हुआ। 'वन्देमातरम्' का स्वर रणघोष की भाँति प्राणोत्तेजक हो गया। प्रायः सभी कवियो के काव्यो मे वंदेमातरम् तथा भारत की वदना के स्वर निनादित हुए।

वंदना-गीतो का स्वर क्रान्ति-वाहक और प्रसारक स्वर बन गया।

जागरण गीत :

इस काल के कवियों ने जागरण-गीत लिखकर देश के युवक-वर्ग को चेतना प्रदान की। गाधीवाद से प्रभावित अहिंसा और सत्य का जयघोष करने वाले जागरण-गीत मैथिलीशरण गुप्त की रचनाओं मे विशेष रूप मे मिलते है।[2]

प्राय प्रत्येक कवि ने देश के नौजवानों में स्वदेशाभिमान जागरण किया और मुक्ति का संदेश प्रेषित किया। इनके गीतों मे आक्रोश और करुणा के स्वर मिश्रित है।[3] सुभद्राकुमारी चौहान ने 'वीरों का कैसा हो वसत' और 'झाँसी की रानी' जैसे गीत लिखकर प्रेरणा की चिनगारी फूंक दी।

---

१. मंगलघट, मैथिलीशरण गुप्त : पृ० ६।
२. देखिये—भारत-भारती, मंगलघट, किसान आदि।
३ देखिये—हिमकिरीटिनी, हिमतरंगिनी : माखनलाल चतुर्वेदी।

द्विवेदी युग के जागरण-गीतों में क्षोभ का रूप गौण ही रहा, उसमें क्षोभ से अधिक करुणा ही थी। डॉ० सुधीन्द्र ने ठीक ही लिखा है—

"जिस समय राष्ट्र में स्वराज्य या स्वशासन की सार्वभौम आकांक्षा जन-कण्ठ से मुखरित हो रही थी, देश-प्रेम की यह भावना जो केवल मानस के कक्ष में उच्छ्वास बनकर मँडरा रही थी, अब प्राणों की उत्कट चेतना लेकर वज्र की भाँति गर्जन करने लगी। उस वज्रनाद को सुनकर हिन्दी राष्ट्रीय-वीणा में स्वाधीनता के तार बजने लगे।"[1]

अभियान गीत :

जागरण गीतों की भाँति अभियान गीत भी इस युग में राष्ट्रीय चेतना को उत्तेजित करने के हेतु लिखे गए। इन गीतों में राष्ट्र का दर्प और ओज ही प्रतिध्वनित हुआ। इनमें सेवा, त्याग और कर्मयोग की भावनाएँ सर्वोपरि थीं जिनमें स्वराज्य के जन्मसिद्ध होने का भाव मुखरित हो रहा था। प्राय प्रत्येक कवि 'बढ़े चलो' की प्रेरणा देकर कठिनाइयों, दुर्गमताओं को पार करने का मंत्र प्रदान कर रहा था।

क्रान्ति एवं बलिदान के गीत :

इस काल में गांधी की सत्य और अहिंसा की नीति के साथ क्रान्ति और बलिदान के गीत भी पर्याप्त मात्रा में लिखे गए। न्याय के लिये इन कवियों ने क्रान्ति का आह्वान किया और वीर-पूजा के माध्यम से उसकी आराधना की।

गुप्तजी जैसे गांधीवादी कवि का स्वर भी स्फूर्ति से भर उठा।[3] रामनरेश त्रिपाठी द्वारा युवक का क्रुद्ध रूप दृष्टव्य है—

"क्रुद्ध सिंह-सम निकल प्रकट कर,
अतुलित भुजबल विषम पराक्रम।
युद्ध-भूमि में भी वे वैरी का,
दर्प दलन कर लेते हैं हम।
या स्वतन्त्रता की वेदी पर
कर देते हैं प्राण निछावर।"[4]

वर्तमान के प्रति क्षोभ एवं आक्रोश :

भारतेन्दु-युग के कवियों ने देश के उज्ज्वल अतीत के सन्दर्भ में वर्तमान दशा के प्रति क्षोभ प्रकट किया था। उसी परम्परा का विकास इस काल में किया

१. हिन्दी कविता में युगान्तर, डॉ० सुधीन्द्र . पृ० १७६।
२. मर्म स्पर्श, हरिऔध . पृ० १०७।
३. स्वदेश संगीत, मैथिलीशरण गुप्त पृ० ५६।
४. स्वप्न : रामनरेश त्रिपाठी ·

गया। नाथूराम शंकर की कविताओं में उज्ज्वल अतीत और अंधकारमय वर्तमान के तुलनात्मक चित्र मिलते है ।[१]

मैथिलीशरण गुप्त ने 'भारत भारती' द्वारा देश की वर्तमान अवनति, अधोगति को प्रस्तुत कर अपना क्षोभ प्रकट किया है। कवि ने देश की शोचनीय दशा का शब्दांकन बड़े ही मार्मिक शब्दों में किया है। भारत भारती ने तो जैसे देश को सजीविनी शक्ति ही प्रदान की। भारत भारती के विषय में आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी के शब्द उल्लेखनीय है—"इसमे वह सजीवनी शक्ति है जिसकी प्राप्ति हिन्दी के और किसी भी काव्य से नही हो सकती। इससे हम लोगो की मृतप्राय नसों मे शक्ति का सचार होता है; क्योंकि हम क्या थे और अब क्या है इसका मूर्तिमान चित्र इसमें देखने को मिलता है।"[२]

इस युग के कवियों ने देश की दरिद्रावस्था एवं भूख से पीडित वर्तमान का चित्रण कर अपनी करुणा और आक्रोश को व्यक्त किया है।

इन प्रवृत्तियो के उपरान्त इस युग के कवियो की कविताओं मे कृषक और मजदूर-समस्या की वकालत मिलती है। कृषको और मजदूरों की दयनीय और शोषित-स्थिति का वर्णन कर इन कवियो ने इस वर्ग के प्रति देश की सहानुभूति प्रकट की।[३]

असहयोग आन्दोलन, धर्म और जाति की एकता, छूत-अछूत का विरोध, सामाजिक रूढियों का खण्डन तथा राष्ट्रभाषा के रूप मे हिन्दी का स्वीकार के स्वर इस युग की काव्य-प्रवृत्तियों मे मुखरित हुए। हिन्दी के उपरान्त इस युग के उर्दू शायर हाली, अकबर, हफीज जालधरी, सागर निज़ामी आदि के काव्यों मे भी उपरोक्त समस्त प्रवृत्तियां न्यूनाधिक रूप में चित्रित हुईं।

निश्चय ही युग के कवि राष्ट्रीय कवि थे। भारतमाता की पूजा और वन्दना ही उनके काव्यो का प्रधान स्वर था। राष्ट्रीय भावों से प्रेरित होकर ही उन्होंने नवयुग का निर्माण किया तथा देश एव जाति को राष्ट्रीय जीवन का सदेश देकर पुन: जीवित और स्वतत्र रहने के योग्य बना दिया। इनका यह राष्ट्रीय प्रयास भारतीय साहित्य तथा इतिहास के गौरव को सदा अमरता प्रदान करता रहेगा।

छायावादी काव्य में राष्ट्रीयता :

वर्तमान क्षोभ, निराशा कोलाहल से ऊबा हुआ कवि क्षणिक एकान्त एवं शान्त वातावरण मे जाकर शान्ति पाना चाहता था। यद्यपि छायावाद का काव्य सौन्दर्य, प्रेम का काव्य है तथापि उसमे राष्ट्रीयता के स्वर भी समाहित हुए है।

१. सचिता . नाथूराम शकर : पृ० ६५।
२. सरस्वती : (अगस्त १९१४) महावीरप्रसाद द्विवेदी।
३. देखिए—गुप्तजी का 'किसान' खंड काव्य, सनेहीजी का 'कृषक-क्रंदन'।

सौन्दर्य का आराधक कवि युग में व्याप्त राष्ट्रीय आन्दोलन के प्रति आँखें बन्द नहीं रख सका। और यही कारण है कि छायावादी काव्य में भी राष्ट्रीयता का अंकन हुआ। श्री शिवदानसिंह चौहान ने छायावाद की कविता को राष्ट्रीय जागृति में ही पनपी हुई काव्य-धारा के रूप में स्वीकार किया है—"जब छायावादी कविता को मान्यता प्राप्त हो गई तो हिन्दी के आलोचकों ने यह स्वीकार किया कि छायावादी कविता हमारे देश की राष्ट्रीय जागृति की हलचल में ही पनपी और फूली-फली है और इसकी मुख्य प्रेरणा राष्ट्रीय और सांस्कृतिक है।"[1]

छायावादी राष्ट्रीय काव्य-धारा में निम्नलिखित प्रवृत्तियाँ मुख्य रूप से दृष्टव्य हैं।

१. प्रशस्ति गान—प्रसाद, निराला और पंत के गीतों में देश की प्रशस्ति के स्वर सुन्दरता से व्यक्त हुए हैं। निरालाजी देश को जड़ प्रतीक न मानकर उसे सजीव, दिव्य और सौन्दर्य का प्रतीक मानते हैं।[2]

प्रसादजी ने अपने नाटकों और अनेक गीतों में भारत का मंगलमय चित्र प्रस्तुत किया है। 'चन्द्रगुप्त' नाटक की ये पंक्तियाँ मननीय हैं—

"अरुण यह मधुमय देश हमारा,
जहाँ पहुँच अनजान क्षितिज को—
मिलता एक सहारा
सरस तामरस-गर्भ विभा पर
नाच रही तरु शिखा मनोहर
छिटका जीवन हरियाली पर
मंगल कुंकुम सारा।"[3]

'स्कन्दगुप्त' में कवि देश पर सर्वस्व न्यौछावर करने का राष्ट्रीय सन्देश देता है।[4]

पंतजी ने भारतमाता को ग्रामवासिनी के रूप में अंकित कर गाँधी-नीति का समर्थन किया है। जन्मभूमि को स्वर्ग से महान् मानकर उसका स्तवन किया है जिसमें अतीत का गौरव-गान भी है।[5]

देश का मनोरम उज्ज्वल अतीत :

पूर्व परम्परा की भाँति छायावादी कवियों ने भी देश के उज्ज्वल अतीत के

---

१. *हिन्दी साहित्य के अस्सी वर्ष : शिवदानसिंह चौहान : पृ० ६१।*
२. गीतिका : निराला : पृ० ६८।
३. चन्द्रगुप्त : जयशंकर प्रसाद : पृ० १००।
४. स्कन्दगुप्त : वही : पृ० १५०-५१।
५. स्वर्ण-धूलि : सुमित्रानन्दन पंत : पृ० २१।

गीत गाये है। निरालाजी पुनः-पुन. कृष्ण को पुकारते है।[1] वे वरदे 'वीणा वादिनी' जैसे प्रार्थना-गीतों मे सरस्वती माँ से देश के बन्धनो को तोड़कर प्रकाश का पुंज बहाने की प्रार्थना करते है।

डा० रामकुमार वर्मा अतीत के शहीदो का स्मरण करते हुए युवको को प्रेरणा देते हैं।[2]

छायावादी कवियों ने मातृभूमि पर बलिदान होने वाले वीरो की प्रशस्ति और उन्हें जागृत करने के लिए जागरण गीत भी लिखे।[3] इन गीतो मे कही-कही देश की दुर्दशा को दूर करने के लिए क्रांति-कुमारी की आराधना भी की गई है।[4]

वर्तमान का चित्रण एवं आक्रोश :

छायावाद के कवि देश की आर्थिक विषमता, मजदूर और किसानो की दयनीय दशा, गाँव के उजड़े रूप आदि विषयो पर भी काव्य सृजन कर लोगो मे प्रेरणा भरते रहे। निराला ने 'भिक्षुक' और पंत ने 'बूढ़े ककाल' का ऐसा ही जर्जरित चित्र प्रस्तुत किया। कवि पत गरीबो की पशुओं से भी अधिक बदतर हालत देखकर साम्यवाद के प्रशंसक बन जाते है।[5]

छायावादी कवियो ने गाँधीवाद के प्रति भी अपनी श्रद्धा व्यक्त की है।[6] प्रसाद तो गाँधीजी की स्वदेशी भावना से इतने प्रभावित थे कि 'कामायनी' की नायिका श्रद्धा भी तकली पर सूत कातती हुई दिखाई देती है।[7]

नारी स्वातन्त्र्य का समर्थन :

छायावादी कवियो ने युग-युग से वन्दिनी नारी को श्रद्धा के रूप मे देखने की कामना की है और उसे मुक्त करने का सदेश प्रवाहित किया है। प्रसाद के प्रायः सभी नारी-पात्र सौन्दर्य और स्वतन्त्रता के समन्वय है। निराला, पत, महादेवी इन सभी की रचनाओं मे नारी की पवित्रता एव महानता व्यक्त हुई है।

सचमुच छायावादी युग मे लिखी गई राष्ट्रीय रचनायें प्रेरणादायी और ग्राह्य बन गई। छायावादी सौन्दर्य काव्य-सरिता मे राष्ट्रीय तत्त्व से सभर रचनायें द्वीप की तरह अपना व्यक्तित्व बनाए हुए है।

---

१. परिमल : निराला : पृ० ४६।
२. आकाश गगा : डा० रामकुमार वर्मा : पृ० ८९।
३. चन्द्रगुप्त : प्रसाद : पृ० १९४।
४. देखिए—परिमल : निराला : पृ० १७६।
५. युगवाणी : पत : पृ० २९।
६. पल्लविनी : वही : पृ० २५६।
७. कामायनी : प्रसाद।

१९२१ के पश्चात् विस्तृत राष्ट्रीय स्वर :

सन् १९२१ के पश्चात् राष्ट्रीय काव्य-धारा में क्रांति की तीव्र झंझा उठने लगी। कवि अब मात्र युगद्रष्टा नहीं था, वह 'मोहन' के साथ कारागृह में जाने में गौरव का अनुभव करने लगा। स्वतंत्रता के गीत उसके अनुभव के गीत थे। बलिदान और क्रांति इन गीतों के मुख्य स्वर थे। श्री विद्यानाथ गुप्त के शब्द उल्लेखनीय हैं—"भारतेन्दु-काल में स्वतंत्रता-यज्ञ की तैयारी मात्र थी, द्विवेदी-काल में यज्ञ की अग्नि प्रज्ज्वलित हो चुकी थी। परन्तु, प्राणों की आहुतियाँ डालकर यज्ञ को सम्पूर्ण करना तो नवीन युग में ही सम्भव हो सका।"[1]

इस युग की राष्ट्रीय काव्य-प्रवृत्तियों के अन्तर्गत क्रांति के स्वरों की गूंज और बलिदान की भावना के स्वर ही मुख्य थे।

क्रांति के स्वरों की गूंज :

इस युग के कवियों ने देश की विशालता और अतीत का स्मरण करते हुए उसके हिमालय से हुँकार उठने की प्रार्थना की।[2] और दिनकर ने उज्ज्वल अतीत का स्मरण करते हुए वर्तमान दुर्दशा का अन्त करने के लिए पुनः पुनः क्रांति-कुमारी की आराधना की है।

सोहनलाल द्विवेदी, श्यामनारायण पाण्डेय, सुमन, नवीन, बच्चन, नेपाली आदि कवियों ने वर्तमान में व्याप्त असमानता, शोषण, संकुचितता को नष्ट करने तथा स्वतंत्रता की प्राप्ति के लिए एकमात्र मार्ग के रूप में क्रांति को ही स्वीकार किया। इन कवियों की वाणी देश के नतमस्तक को देखकर गरल उगलने लगती है।

बलिदान की भावना :

इस युग के कवियों की रचनाओं में देश के वीरों के बलिदान और अंग्रेजों के दमन में लगी होड़ की साकार अभिव्यक्ति हुई है। बलिदान देने में ही कवि जीवन का श्रेय मानता है।[3] वह बलिदान परम्परा में मस्तक रूपी पुष्प अर्पित करना चाहता है।[4]

बलिदानों की परम्परा का यह काल बड़ा ही उत्तेजना पूर्ण रहा। जन्मभूमि पर मिटने वाले सदैव अजर अमर होते हैं—यह मानकर कवियों ने शहीदों को अंजलियाँ अर्पित कीं और साथ ही साथ सर्वस्व न्योछावर करने की प्रेरणा भी प्रदत्त की। बलिदान के ऐसे स्वर प्राय सभी कवियों ने बड़ी ही उत्तेजनापूर्ण भावना से अभिव्यक्त किए हैं।

---

१. हिन्दी कविता में राष्ट्रीय भावना : विद्यानाथ गुप्त पृ० ३०७।
२. रेणुका : हिमालय : पृ० ८।
३. द्वन्द्वगीत : दिनकर : पृ० ५७।
४. भैरवी : सोहनलाल द्विवेदी : पृ० २।

इन कवियों ने राष्ट्रीय एकता के रूप में हिन्दू-मुस्लिम एकता पर विशेष जोर दिया। स्वदेशी का प्रचार गांधीजी द्वारा प्रचलित आन्दोलनों को भी अभिव्यक्ति दी।

इस धारा के कवियों को विद्रोहात्मक स्वरों में ही उथल-पुथल मचाना योग्य प्रतीत हुआ। नवीनजी की 'कवि कुछ ऐसी तान सुनाओ जिससे उथल-पुथल मच जाये' पंक्तियाँ तो उत्साही युवकों के लिए प्रार्थना-गीत बन गईं।

निष्कर्ष-रूप यह कहा जा सकता है कि इन क्रांति के स्वरों में स्वतंत्र होने की प्रेरणा और शहादत की भावना अंकित होती रही। विजय का जय-घोष आकाश छूता रहा। वस्तुत: भारतेन्दु-काल से प्रवाहित यह काव्य-धारा निरन्तर प्रगति करती हुई देश स्वतंत्र होने तक अनवरत गति से प्रवाहित होती रही।

स्वातन्त्र्योत्तर साहित्य में राष्ट्रीयता

राजनीतिक परिस्थिति :

१८५७ से प्रारम्भ किया गया राष्ट्रीय स्वतन्त्रता संघर्ष अनेक आरोहों-अवरोहों से गुजरता हुआ नब्बे वर्ष की लम्बी अवधि के पश्चात् लाखों बलिदान लेकर अखण्ड भारत को खण्डित रूप में प्राप्त कर, १९४७ की १५ अगस्त को पूर्ण हुआ। शताब्दियों की गुलामी के पश्चात् देश ने स्वतन्त्रता के दर्शन किए। भारत की स्वतन्त्रता एशिया के लिए नया सन्देश लेकर अवतरित हुई। एशिया खंड में स्वतन्त्रता की दुन्दुभी बज उठी।

स्वतन्त्रता-संग्राम में कवियों की वाणी ने जिस ओजस्वी रश्मियों का आलोक फैलाया था वे ही मंगलगीत रूपी ज्योति से स्वतन्त्रता-देवी की आरती उतारने लगे। उनके गीत जनतंत्र के विकास और समृद्धि के लिए लिखे जाने लगे। वे अब भारत तक ही सीमित न रहकर विश्व की स्वतन्त्रता और उसके कल्याण का स्वरोच्चार करने लगे। भारत का जनतन्त्र तैंतीस करोड़ जनता के लिए था—

> "सबसे बिराट जनतंत्र जगत का आ पहुँचा,
> तैंतीस कोटि हित सिंहासन तैयार करो,
> अभिषेक आज राजा का नहीं प्रजा का है,
> तैंतीस कोटि जनता के सिर पर मुकुट धरो।"[१]

कवि जिस भव्य उज्ज्वल भविष्य की प्रतीक्षा में आस लगाये बैठा था, जिस कल्पना का संसार उसने अपनी भावनाओं में संजोया था वह धूमिल होने लगा। समाजवाद की कल्पना करने वाले कवि ने अमीरी और गरीबी की बढ़ती हुई खाइयाँ देखीं। जिन नेताओं को उन्होंने देश का कर्णधार और नवसर्जक माना था, वे भी

१. नील कुसुम, (जनतंत्र का जन्म) दिनकर : पृ० ६६।

(आ) दिनकर के काव्य में राष्ट्रीयता

'दिनकर के राष्ट्रीय काव्य की पृष्ठ-भूमि

कवि अपने युग का प्रतिनिधित्व करता है। उसके व्यक्तित्व एवं कृतित्व में युग प्रतिबिम्बित होता है। स्वयं कवि ने स्वीकार किया है—"कवि मानवता का वह चेतन यंत्र है जिस पर प्रत्येक भावना अपनी तरंग उत्पन्न करती है; जैसे भूकम्प-मापक यंत्र में पृथ्वी के अंग में कहीं भी उठने वाली सिहरन आप-से-आप अंकित हो जाती है।'

राजनैतिक परिस्थिति—दिनकर के राष्ट्रीय काव्यों की विवेचना करने से पूर्व पृष्ठ-भूमि के रूप में युग की परिस्थितियों का सिंहावलोकन करना होगा। इन परिस्थितियों ने ही कवि के रूप में विशेष ख्याति प्रदान की। कवि दिनकर ने काव्य-जगत में जब प्रवेश किया, उस समय भारतीय राजनीति हलचल के दौर से गुजर रही थी। देश में वामपंथी नीति का जोर था। अंग्रेजों का दमन-चक्र क्रूरता से चल रहा था। गाँधी-नीति और क्रान्ति-नीति के बीच संघर्ष-सा छिड़ा था। यदि गांधीजी अहिंसा से स्वराज्य लेने के पक्षपाती थे तो सुभाष खून देकर आजादी लेने के समर्थक थे। १९२० के जलियांवाले बाग के हत्याकांड ने देश के यौवन में क्रान्ति पैदा कर दी थी। मजदूर और किसानों के स्वर में 'इन्कलाब—जिन्दाबाद' के स्वर का जयघोष हो रहा था। साइमन कमीशन का विरोध करते हुए १९२८ में नेहरूजी ने देशवासियों को 'साथियो' (कामरेड) कहकर सबोधित किया। देश जैसे हड़ताल और बहिष्कार में ही गौरव मान रहा था। इस कमीशन ने 'लालाजी' जैसों की जान ली। १९३० में पूर्ण स्वराज्य की मांग का प्रस्ताव पास हुआ, और बापू की प्रसिद्ध डांडी-यात्रा से सविनय भंग का युद्ध प्रारम्भ हो गया। भगतसिंह की फाँसी ने देश में क्षोभ का वातावरण उत्पन्न कर दिया। अँग्रेजों की 'फोड़ो और राज्य करो' की नीति से साम्प्रदायिक दंगों की आग भड़क उठी। सुभाष बाबू की आजाद हिन्द फौज की गूँज देश-देशान्तर में फैलने लगी। १९४२ से १९४५ तक का समय बड़ा ही संघर्षपूर्ण रहा। १९४६ में 'लीग' की सीधी कार्यवाही के फलस्वरूप देश में खून की नदियाँ बह गईं। अन्त में देश दो टुकड़ों के रूप में विभाजित होकर स्वतन्त्र हुआ।

आर्थिक-स्थिति—देश की आर्थिक दशा जैसा कि हम इससे पूर्व देख चुके हैं बड़ी ही करुणा-जनक और भयावह रही है। स्वार्थी, सेठ-साहूकार और जमींदार अपना घर भरने में लगे रहे। देश की गरीब प्रजा कुत्तों की मौत भूख से बिलबिला कर मरती रही।

---

१. चक्रवाल, (भूमिका) दिनकर पृ० १४।

देश को राजनीतिक स्वतन्त्रता-प्राप्ति की ओर अग्रसर करने के साथ-साथ गाँधीजी जैसे राजनीतिज्ञ एवं युग के कवि और साहित्यकारों ने सामाजिक कुरीतियों एवं सकुचितताओं को दूर करने का भगीरथ प्रयत्न किया।

दिनकरजी ने काव्य-क्षेत्र मे जब पदार्पण किया, उस समय देश क्षुब्ध परिस्थितियों से गुजर रहा था। देश की राजनीतिक, सामाजिक एव आर्थिक दृष्टि से हम इससे पूर्व विवेचन कर ही चुके हैं। आन्दोलन की प्रतिक्रिया और स्वतन्त्र होने का मतवालापन देश पर छा चुका था था। १८५७ से प्रारंभित स्वतत्रता युद्ध का प्रभाव भी कवि पर था। इतिहास के पृष्ठ उसके मन मे आन्दोलन जगा रहे थे और वर्तमान उसे क्राति की ओर प्रेरित कर रहा था। कवि अपनी वैयक्तिक अनुभूतियो मे खो गया।" · "मुझ जैसे लोग राष्ट्रीय एव क्रातिकारी भावनाओ के प्रवाह मे बह गये। मेरी वैयक्तिक अनुभूतियाँ धरी रह गई; और मेरा सारा अस्तित्व समाज और राष्ट्र की अनुभूतियो के अधीन हो गया।"[१]

कवि ने भूख और गरीबी को भोगा था। आर्थिक वैपम्य उसे सतत सघर्ष-शील बनाये रहा; और इसी से प्रेरित होकर उसने अनेक स्थानों पर इस शोषण-नीति के प्रति अपना पुण्य-प्रकोप प्रकट किया है।

सामाजिक स्थिति :

कवि ने समाज मे फैली कुरीतियो को, हिन्दू-मुसलमानो मे फैले वैपम्य को दूर करने का भी प्रयत्न किया। उसने नारी स्वतन्त्रता को स्वीकार कर उसका समर्थन किया। इस प्रकार राष्ट्रीयता की ओर कवि को मात्र राजनीतिक पराधीनता और अत्याचारो ने ही प्रभावित नही किया बल्कि अन्य परिस्थितियाँ भी राष्ट्रीयता की ओर अभिमुख करती रही। कवि ने स्वयं स्वीकार किया है, "राष्ट्रीयता मेरे व्यक्तित्व के भीतर से नही जन्मी, उसने बाहर आकर मुझे आक्रान्त किया।"[२]

दिनकर को राष्ट्रीयता की ओर प्रेरित करने वाले कवि साहित्यकार :—

कवि दिनकर को काव्य पठन के प्रति बाल्यावस्था से ही अभिरुचि रही। रामायण का पठन-पाठन वे बड़ी श्रद्धा से किया करते थे। चक्रवाल की भूमिका में उन्होंने लिखा है—"जहाँ तक कविता का संबंध है, मैंने प्रेमपूर्वक पहले-पहल तुलसी-कृत रामायण ही पढ़ी थी। ……… …. रामायण का गान करने मे मुझे स्वयं आनंद आता था।"[३] कविता लिखने की प्रेरणा उन्हें नाटक और रामलीला से प्राप्त हुई। वे नाटक और रामलीला की धुनों पर काव्य लिखने लगे।

---

१. चक्रवाल, (भूमिका) दिनकर : पृ० ३३-३४।
२. चक्रवाल (भूमिका) : पृ० ३३।
३. चक्रवाल : (भूमिका) : पृ० २४।

कवि पर श्री माखनलाल चतुर्वेदी की 'तिलक' की मृत्यु पर लिखी गई कविता का विशेष प्रभाव पड़ा। "यह भी प्रथम विश्व युद्ध की समाप्ति के आस-पास की बात है जब मैं आठ-दस साल का रहा होऊँगा। तब सन् १९२० ई० में कानपुर के 'प्रताप' में 'एक भारतीय आत्मा' की वह कविता छपी जिसे उन्होंने 'लोकमान्य तिलक' की मृत्यु पर लिखा था। इस कविता का मुझ पर अत्यन्त प्रभाव पड़ा।"[1] कवि का चाव इस काव्य के पश्चात् ऐसे ही राष्ट्रीय काव्यों के अध्ययन की ओर बढ़ता गया। वह 'छात्र सहोदर' में प्रकट राष्ट्रीय रचनाओं का चाहक बन गया।

कवि पर मैथिलीशरण गुप्त की कृतियों 'भारत-भारती', 'जयद्रथ-वध' 'शकुन्तला' एवं 'विमान,' रामनरेश त्रिपाठी के 'पथिक' का पर्याप्त प्रभाव पड़ा। कवि ने 'पथिक' के अनुकरण पर 'वीरबाला' तथा 'जयद्रथ-वध' के अनुकरण पर 'मेघनाद वध' खण्ड-काव्य लिखने के प्रयास किए किन्तु वे अपूर्ण हो रह गए। छायावादी युग में भी उनके प्रिय कवि तो राष्ट्रीय धारा के कवि ही रहे। "छायावादी युग में भी मेरे सबसे प्रिय कवि मैथिलीशरण गुप्त,' माखनलाल, सुभद्रा और रामनरेश त्रिपाठी ही थे।"[2] इन कवियों के उपरान्त कवि पर रवीन्द्र और नजरुल, इकबाल और जोश के राष्ट्रीय गीतों का पर्याप्त प्रभाव रहा। कवि की रुचि समकालीन कवियों में श्री भगवतीचरण वर्मा, बच्चन, सुमन एवं नेपाली जैसे कवियों के साथ रही। छायावाद से परिचित होने के अनन्तर भी दिनकरजी के राष्ट्रीय संस्कारों ने छायावाद को उनके भीतर टिकने न दिया।

युग की परिस्थितियों का दर्शन और श्रवण कर कवि की आत्मानुभूति करुणा और रोष से आप्लावित हो रही थी। राष्ट्रीय कवियों के सम्पर्क में आकर उनकी क्रान्ति भावनाएँ फूट-फूट कर बाहर निकलने को मचल उठी थी। कवि ने चक्रवाल की भूमिका में इस तथ्य को स्वीकार किया है कि "रेणुका और हुंकार सामधेनी और कुरुक्षेत्र, द्वन्द्वगीत और बापू, इनमें मैंने जो कुछ भी गाया है, कंठ फाड़कर गाया है, हृदय चीर कर गाया है।"[3]

इस प्रकार हम स्पष्ट रूप से कह सकते हैं कि दिनकर भले ही राष्ट्रीयता को 'बाहर से थोपी' वस्तु मानते रहे हों, वे अपने आपको चाहे सौंदर्य के निकट स्थापित करते रहे हों परन्तु जितनी सशक्त अभिव्यक्ति राष्ट्रीय रचनाओं में है— अन्यत्र नहीं। सौन्दर्यवादी काव्य युग में भी राष्ट्रीय कवि और काव्यों के प्रति उनकी आस्था उनकी राष्ट्रीय अभिरुचि की परिचायक है।

---

१. चक्रवाल (भूमिका) :पृ० २८।

२. चक्रवाल, भूमिका पृ० २६-२७।

३. वही पृ० ३०।

काव्य में राष्ट्रीय स्वर

कवि दिनकरजी को राष्ट्रीयता की ओर प्रेरित करने वाली परिस्थितियों और साहित्यिक प्रभावों की चर्चा हम कर चुके है। कवि ने अपने युग को बडी ईमानदारी से सशक्त स्वर मे वाणी दी है। शिवबालक राय के शब्द मननीय है—"भारतेन्दु ने अतीत गौरव का चित्रण कर देशवासियों की अलसाई आँखो को उन्मीलित करने का श्लाघनीय प्रयास किया है। मैथिलीशरण गुप्त ने अपनी 'भारत भारती' की गूँज से देश को सजग किया और दिनकर ने आलोक धन्वा की टंकार से उसे कर्त्तव्य पथ पर आरूढ किया।"[1]

कवि ने उन्मुक्त कठ से क्रान्ति के स्वरो का जयघोष सुनाया। कवि ने स्वयं अपने आपको समय का पुत्र स्वीकार किया—"ज्यो-ज्यो मेरी कविताएँ जन-समुदाय को आदोलित करती गई मेरा यह आत्मविश्वास जोर पकड़ता गया कि मै समय का पुत्र हूँ और मेरा सबसे बडा कार्य यह है कि मैं अपने युग के क्रोध और आक्रोश को, अधीरता और बेचैनियो को सबलता के साथ छदों मे बाँधकर सबके सामने उपस्थित कर दूँ। मेरे पीछे और मेरे चारों ओर भारतीय मानवता खडी थी जो पराधीनता के पास से छूटने को बेचैन थी।"[2] दिनकर ने अपने आपको विशाल भारतीय जनता की अनुभूति को व्यक्त करने वाला स्वीकार किया है। दिनकर के काव्यों मे व्यक्त राष्ट्रीयता का स्वर वैसा ही उत्साही है जैसा राजनीति मे इस युग के संवेदनशील नेता जवाहर, सुभाष जयप्रकाश और नरेन्द्रदेव की वाणी मे व्यक्त हो रहा था—'जिन्हें बिना स्वराज्य प्राप्त किए चैन नही था। युग का यथार्थ चित्राकन इनकी राष्ट्रीय स्वर धारा का मूल-मत्र रहा है।

दिनकरजी को राष्ट्रीय काव्य-धारा मे जहाँ भारतेन्दु युग की पुरानी परपरा का स्वीकार मिलता है वहाँ तत्कालीन भारतीय जीवन की विषमता का यथार्थ रूप भी अकित है। श्री जारकानाथ बाली ने ठीक ही लिखा है—"उन्होंने सामायिक चुनौती का प्रभावशाली उत्तर देने का प्रयास किया है। खुलकर क्रांति का नाद दिनकर की कविताओ मे मिलता है।"[3] कवि के राष्ट्रीय काव्य में युग का पूरा चित्र बिम्बित हुआ है।

कवि की राष्ट्रीय भावना की प्रमुख विशेषतायें हम इस प्रकार देख सकते हैं—

---

१. दिनकर : प्रो० शिवबालक राय : पृ० ३१।

२. चक्रवाल (भूमिका) : दिनकर : पृ० ३१।

३. दिनकर : सं० सावित्री सिन्हा (दिनकर की राष्ट्रीयता) : पृ० १०५। जारकनाथ बाली।

क्रांति की आराधना

काव्य के प्रारम्भ से कवि कविता को क्रांति-वाहिका के रूप में ग्रहण करता है। कवि ने क्रांति-कुमारी की अर्चना उग्रतावादी स्वरों द्वारा की है। उनकी प्रथम कृति 'रेणुका' में क्रांति का बीजारोपण हो चुका है। वे पराधीन देश की आत्मा में छिपी चिनगारी को निहार सके हैं—

"जदपि अन्तस बीच भी
यह सुलग रही है कौन आग।"[१]

रेणुका के 'मंगल आह्वान' प्रारंभिक काव्य में भी वह शृंगी फूंक कर सोए प्राणों को जगाना चाहता है—

'दो आदेश फूंक दूं शृंगी, उठे प्रभाती राग महान।
तीनों काल ध्वनित हो स्वर में, जागे सुप्त भुवन के प्राण॥
गत विभूति भावि की आशा, ले युग धर्म पुकार उठे।
सिंहों की घन-अन्ध गुहा में, जागृत की हुंकार उठे॥"[२]

कवि ऐसे स्वरों को गाना चाहता है। जिससे सारी सृष्टि सिहर उठे। कवि देश में व्याप्त अत्याचार, आडंबर और अहंकार को दूर करने के लिए शंकर के ताण्डव और तज्जन्य ध्वंस की कामना करता है—

सुन शृंगी-निर्घोष पुरातन, उठे सृष्टि-हृत् में नव स्पंदन।
विस्फारित लख काल नेत्र फिर, कांपे त्रस्त अतनु मन ही मन॥
स्वर-स्वर भर संसार, ध्वनित हो नगपति का कैलाश शिखर।
नाचो हे नाचो नटवर॥[३]

'कस्मैदेवाय' काव्य द्वारा कवि उस ज्वाला को सुलगाना चाहता है जो शोषण और अत्याचार को भस्मसात कर दे—

"क्रांति-धात्रि कविते! जागे, उठ आडम्बर में आग लगा दे।
पतन पाप पाखंड जले, जग में ऐसी ज्वाला सुलगा दे॥"[४]

मजदूर और कृषकों की समस्या का समाधान कवि साम्यवाद की स्थापना और क्रांति में ही ढूंढ़ता है क्रांति स्वयं 'दिगम्बरि' और 'विपथगा' बनकर कवि की राष्ट्रीयता से स्पन्दित होती है। वह क्रांति कुमारी को जगाता है—

"उठ भूषण की भाव तरंगिणी, लेनिन के दिल की चिनगारी।
युग मर्दित यौवन की ज्वाला, जाग-जाग री क्रांति कुमारी॥

१. रेणुका: पृ० ७।
२. वही: पृ० ख, ग।
३. वही (तांडव): पृ० ६।
४. वही (कस्मैदेवाय) पृ० ३२।

लाखों क्रौंच कराह रहे हैं, जाग आदि कवि की कल्याणी।
फूट फूट तू कवि कंठों से, बन व्यापक निज युग की वाणी॥"[1]

स्वतंत्रता की प्राप्ति के लिए देश में क्रांतिकारी दल जिस प्रकार की कार्यवाही मे संलग्न था, कवि उसका समर्थन करता है। उसे हिंसात्मक क्रांति में श्रद्धा है। उसे तो अर्जुन और भीम चाहिए—

"रे, रोक युधिष्ठिर को न यहाँ, जाने दे उनको स्वर्ग धीर।
पर फिरा हमे गाडीव-गदा, लौटा दे अर्जुन भीम वीर॥"[2]

कवि पुन:-पुन: हिमालय हुकार भर कर धरा हिला देने की प्रार्थना करता है। आज तप का नही ताडव का काल है।

'रेणुका' से 'हुकार' तक आते-आते क्रांति का यह स्वर स्थिरता और पूर्णता प्राप्त करता है। इस सबध मे श्री रामवृक्ष बेनीपुरी का कथन द्रष्टव्य है—"हमारे क्रांति-युग का सम्पूर्ण प्रतिनिधित्व कविता में, इस समय दिनकर कर रहा है। क्रांति-वादी को जिन-जिन हृदय-मंथनों से गुजरना होता है, दिनकर की कविता उनकी सच्ची तस्वीर रखती है।"[3]

हुंकार मे कवि पुन. अपने विकल गीतों को स्वतंत्रता-यज्ञ मे आहुति देने के निमित्त संयोजित करता है—

"रण की घड़ी जलन की बेला, तो मैं भी कुछ गाऊँगा।
सुलग रही यदि शिखा यज्ञ की, अपना हवन चढाऊँगा।
× × ×
नए प्रात के अरुण! तिमिर-उर मे मरीचि सधान करो।
युग के मूक शैल जागो हुंकारो, कुछ गान करो॥"[4]

हुंकार का कवि तूफान का आह्वान करता है। कवि स्वर्ग तक को जला देने की मतेच्छा व्यक्त करता है। 'आलोक धन्वा' काव्य मे दिनकर क्राति दृष्टा के रूप मे उपस्थित होते हैं। उनका रूप बडा दिव्य और ज्वलंत है—

"ज्योतिर्धर कवि मैं ज्वलित सौर मंडल का।
मेरा शिखण्ड अरुणाभ किरीट अनल का॥
रथ मे प्रकाश के अश्व जुते है मेरे।
किरणों में उज्ज्वल गीत गुंथे हैं मेरे॥"[5]

---

१. रेणुका (कस्मैदेवाय): पृ० ३१।
२. ,, (हिमालय): पृ० ७।
३. हुंकार की भूमिका (क्रांति का कवि) रामवृक्ष बेनीपुरी: पृ० २।
४. हुकार, (आमुख) दिनकर: पृ० २।
५. हुंकार: (आलोक धन्वा) पृ० १४।

क्रांति का कवि अपने आपको विभापुत्र मान कर कराल हुंकार भरने वाला यौवन मे भीषण ज्वार उत्पन्न करने वाला अंकित करता है। वह पंखुरियों के कोमल-स्वरों के स्थान पर शैलों की हुंकार ही सुनना चाहता है।

क्रांति का आविर्भाव उस समय होता है जब प्रजा की यातनाएं, कुण्ठाएं और बेबसी उग्र रूप धारण कर लेती है। प्रतिकार की भावना जब कुहासे को तोड़ कर बाहर आना चाहती है तब क्रांति-कुमारी का रूप निखरता है। 'दिगम्बरी' और 'विपथगा' रचनाओं द्वारा कवि ऐसी ही क्रांति की उद्भावना प्रस्तुत करता है—

"नए युग की भवानी आ गई वेला प्रलय की॥
दिगम्बरी ! बोल, अम्बर में विजय का नाद बोला।
× × ×
नवागम बोर से जागी बुझी ठंडी चिता भी।
नई भृगी उठाकर वृद्ध भारतवर्ष बोला।
दरारें हो गईं प्राचीर में बन्दी भवन के,
हिमाद्रि की दरी का सिंह भीमाकार बोला॥'[1]

भगवान की सन्तान जब दुःख और दरिद्रता मे सिसकती है तब कवि उसकी सृष्टि के ध्वंस के लिए तैयार हो जाता है—

"जरा तू बोल तो सारी धरा हम फूंक देंगे।
पड़ा जो पथ मे गिरि कर उसे दो टूक देंगे॥
कहीं कुछ पूछने बूढा विधाता आज आया।
कहेंगे, हाँ, तुम्हारी सृष्टि को हमने मिटाया॥'[2]

'दिगम्बरि' मे कवि का ओज-स्पर्श व्यक्तित्व, प्रलयकारी रूप और प्रभंजक क्षोभ अपनी पराकाष्ठा पर पहुँच गया है।"[3]

दिनकरजी की क्रांति की अभिव्यक्ति मात्र राजनीतिक असंतोष के पक्ष मे ही नहीं, आर्थिक शोषण के सदर्भ मे भी पर्याप्त मात्रा मे हुई है। कवि भीख के रूप मे भी विधाता से वह आग मांगता है जो देश की गुलामी, शोषण और अत्याचार को भस्म कर दे। कवि की कलम तो वीरो की जय बोलने मे ही गौरव मानती है। उसे तो उनकी ही प्रशस्ति भाती है जो देश के लिए सिर हथेली पर लेकर चलते हैं। 'विपथगा' काव्य मे कवि ने क्रांति का ताण्डवी और भैरवी रूप प्रस्तुत किया है। जिसके चिनक्षन मे शैल-शिखर तक टूटने लगते है असमानता क्रांति की जननी होती है।

---

१. हुंकार (दिगम्बरि) : पृ० २५।
२. वही।
३. दिनकर सृष्टि और दृष्टि, (युगचरण की पुकार रेणुका और हुंकार : हरप्रसाद श[illegible]) : पृ० १५७।

"श्वानों को मिलते दूध, वस्त्र, भूखे बालक अकुलाते हैं।
माँ की हड्डी से चिपक ठिठुर जाड़ों की रात बिताते हैं॥
युवती के लज्जा-वसन बेच जब ब्याज चुकाये जाते हैं।
मालिक जब तेल फुलेलों पर पानी सा द्रव्य बहाते हैं।
पापी महलों का अहंकार देता मुझको तब आमन्त्रण॥"[1]

क्रांति मृत्युंजय कुमारी पर होकर आगे बढ़ती है तब पार्लियामेंट की वे सरकारें जो कानून के नाम पर गुलामी को कायम रखना चाहती हैं और जो 'नीरो' और 'जार' जैसे शासकों द्वारा शासित हैं उनके प्राण सूख जाते हैं। यह विपथ-गामिनी न जाने कब किधर से आ जाये और अम्बर में आग लगा दे।

'सामधेनी' संग्रह के अन्तर्गत कवि की ऐसी ही क्रांति की रचनायें हैं जो क्रांति के रूप को मुखरित करती हैं। सन् १९४१ से लेकर सन् १९४६ तक का काल घोर संघर्ष का काल रहा है। 'जवानी' और 'साथी' काव्यों में कवि ने ऐसी ही भावनाओं का चित्रण किया है जिनमें वीरों ने मरना जाना है परन्तु हाथ का झण्डा नहीं झुकने दिया।

समसामयिक, सामाजिक और आर्थिक वैषम्य कवि की क्रांति को सदैव जगाता रहा। कवि इस शांति को कभी पसन्द नहीं करता जिसमें दबकर रहा जाय। वह तो युद्ध द्वारा उसका प्रतिकार चाहता है। वह नौनिहालों के सूखे होंठ नहीं देख सकता—

'दूध दूध! ओ वत्स! मंदिरों में बहरे पाषाण यहाँ हैं।
दूध दूध! तारे बोलो इन बच्चों के भगवान् कहाँ हैं।
× × ×
वे भी यहीं, दूध से जो अपने श्वानों को नहलाते हैं।
ये बच्चे भी यहीं, कब्र में दूध दूध जो चिल्लाते हैं।
× × ×
हटो व्योम के मेघ पंथ से स्वर्ग लूटने हम आते हैं।
दूध दूध ओ वत्स तुम्हारा दूध खोजने हम आते हैं॥[2]

आर्थिक विषमता का इतना करुण और क्रांतिकारी चित्र अन्यत्र दुर्लभ है। 'कुरुक्षेत्र' के अन्तर्गत कवि युद्ध को इसीलिए धर्म मानता है कि वह आर्थिक विषमता के संदर्भ में ही उद्भूत होता है।

क्रांति के संदर्भ में कवि ने लाल क्रांति को भी अपने काव्यों में स्थान दिया है। परन्तु वह हमेशा भारतीय क्रांति का पक्षपाती रहा है।

१. हुंकार, (विपथगा) : पृ० ७३।
२. हुंकार, (हाहाकार) : पृ० २२-२३।

अहिंसावादी राष्ट्रीयता के युग में हिंसा के स्वरों को जगाये रहना कवि के साहस का परिचायक है। दिनकर की राष्ट्रीयता पौरुष की दीप्त क्रांति की चिनगारी महानाश के तत्वों से निर्मित है।

कवि की स्वतन्त्रता पूर्व की रचनाओं में क्रांति का स्वर बड़ा ही उत्तेजना पूर्ण और क्रांति की ज्वालाओं से धधक उठा है। उसने अपने काव्य को अंगारों से सजाया और आहुति का संदेश दिया है। उसकी क्रांति प्रायः समस्त प्रकार की विषमताओं को देखकर फूट पड़ी है। वस्तुतः दिनकरजी राष्ट्रीय काव्य-धारा के सन्दर्भ में उतने ही प्रतिभाशाली पूर्ण हैं जितने राजनीति में तिलक।

अतीत का गुणगान

भारत जैसा देश जिसका अतीत उज्ज्वल और गौरवशाली रहा हो, वही जब गुलामी और शोषण के तले पिसने लगे तब उस देश की प्रजा और विशेषकर कवि उज्ज्वल अतीत का स्मरण भक्ति के समान करने लगता है। यह अतीत सदैव स्वतंत्र होने के लिए प्रेरित करता रहता है। *'जिस कवि को अपने राष्ट्र की अतीत गरिमा के प्रति गर्व नहीं, वह प्रगतिशील नहीं, अधोशील है।'* जब देश अनेक उपायों और संघर्षों के पश्चात् भी अपनी वर्तमान दशा को नहीं सुधार पाता है तब उस दुःख को भुलाने या कम करने के लिए उज्ज्वल अतीत की सुखद कल्पनाओं में खो जाना चाहता है।

कवि दिनकर के काव्यों में अतीत का उज्ज्वल रूप प्रेरणापूर्ण रहा है। "दिनकर के काव्य में अतीत को वाणी मिली है। इतिहास साकार होकर हमारे सामने अवतरित हुआ है। खण्डहरों के हृदय को प्रतिध्वनि और अनुप्राणित करने वाले हिन्दी साहित्य में ऐसे कितने कवि हैं? दिनकर की अतीत-भावना कहीं भगवान बुद्ध *की दिव्य आत्मा से आलोकित है, कहीं मौर्य और गुप्तकाल के भव्य ऐश्वर्य से* मुखरित है।"[1]

कवि समय पाते ही भारत की सांस्कृतिक गोद में अपनी सुध-बुध खो बैठता है और गति विभूति के साथ भावि की आशा में खो जाता है।

दिनकर के काव्यों में अतीत दो रूपों में मिलता है। एक खण्डहरों का वैभव-गान के रूप में और दूसरा महापुरुषों के गौरव-गान में।

खण्डहरों का गौरव-गान विराट की भूमि को लेकर विशेष रूप से किया है। बिहार को उन्होंने अतीत का तीर्थधाम माना है। अतीत-वर्णन के अन्तर्गत उनका वीर-रस निनाद तो गूँजता ही रहा है। कवि वर्तमान की चित्रपटी पर भूतकाल को चित्रित करना चाहता है—

१. दिनकर, (राष्ट्रीय भावना), शिवबालक राय . पृ० १८।
२. वही : पृ० २६।

प्रिय-दर्शन इतिहास कण्ठ में आज ध्वनित हो काव्य बने ।
वर्तमान की चित्रपटी पर भूतकाल सम्भाव्य बने ।।'[1]

अतीत का चित्रण 'हिमालय' काव्य मे बड़े ही सुन्दर रूप से व्यक्त हुआ है । तड़पते देश को देखकर कवि बार-बार आँखें खोलने का आग्रह करता है । इस हिमालय ने अनेकों बार आततायियों को रोका था । कवि चित्तौड़, राजस्थान, महाराणा प्रताप की याद करता है । वैशाली लिच्छिवियों के वियोग मे सूनी है और कपिलवस्तु बुद्ध के लिए बेचैन है । गण्डकी आज उदास स्वर मे विद्यापति के गीतों को याद कर रही है । कवि पुन: पुन: गौतम से अवतार लेने का आग्रह करते हैं । 'भारत के पराधीन काल में देश की दरिद्रावस्था के शूल से बिंधकर जो घाव या व्रण कवि के हृदय में हो गया था, उस पर यह वैभवशाली अतीत का मरहम लगा-लगा शांति पा लिया करता है । गंगा के तट पर बैठकर वह उससे बातें किया करता है । अतीत के सम्राटों की भारत के स्वर्ण-युग की ओर कभी-कभी खीझकर, रीझकर उसे दो चार खरी-खोटी सुनाने से भी चूकता नही ।'[2]

कवि को उस गौरवशाली अतीत की स्मृति बार-बार उद्वेलित कर देती है जिसमें देश, कला, कारीगरी, वाणिज्य और विद्या सभी मे चर्मोन्नति पर था ।

'जगती पर छाया करती थी कभी हमारी भुजा विशाल ।
बार-बार झुकते थे पद पर ग्रीक, यवन के उन्नत भाल ।।
विजयी चन्द्रगुप्त के पद पर सैल्यूकस की वह मनुहार ।
तुझे याद है देवी ! मगध का वह विराट उज्ज्वल-शृंगार ।।'[3]

कवि गंगा की हर लहर मे अतीत की स्मृतियों का कम्पन्न देखता है । कभी अशोक, चन्द्रगुप्त और समुद्रगुप्त की याद आती है तो कभी बुद्ध और महावीर की ।

कवि नालन्दा और वैशाली को बड़ी श्रद्धा से निहारता है । 'कर्म देवाय,' 'समाधि के प्रदीप,' 'वैभव की समाधि' इन सभी काव्यों में बिहार के उज्ज्वल अतीत को याद करता है । उसे मुगल-कालीन दिल्ली की याद भी नही भूलती ।

अतीत का स्मरण करते समय कवि कभी-कभी बड़ा निराश और दु:खी लगता है । वर्तमान के वातायन से जब वह अतीत को देखता है तो उसे युगीन स्थिति के प्रति निराशा एवं क्षोभ ही उपलब्ध होती है । परिणाम स्वरूप कवि की करुणा प्रस्फुटित होती है जो स्थायी न रहकर क्रांति में परिवर्तित हो जाती है ।

दिनकर की रचनाओ में अतीत का जो चित्रण हुआ है, वह देश के नवजवानों में प्रेरणा का दीप जलाता रहा ।

---

१. रेणुका, (मंगल आह्वान) : पृ० ग ।
२. दिनकर के काव्य, लालधर त्रिपाठी : पृ० ३५ ।
३. रेणका (पाटलीपुत्र की गंगा से) : पृ० २५ ।

गांधी-नीति

सन् १९२० के पश्चात् का हिन्दी-साहित्य गांधीवाद से विशिष्ट प्रभावित रहा है। गांधीवाद का दर्शन वह प्राचीन दर्शन ही था जिसमें समस्त विश्व के उत्कर्ष की भावनाएँ निहित थीं; मात्र उसका संस्करण नया था। बापू ही ऐसे प्रथम राजनीतिज्ञ थे जिन्होंने सत्य और अहिंसा के माध्यम से देश को स्वतन्त्र करने का बीड़ा उठाया। गरम लोहे से गरम लोहा नहीं कटता, यह बात गाँधीजी समझ चुके थे। गाँधीजी ने राजनीति के क्षेत्र में उदात्त आदर्श स्थापित किया। समाज में उदारता की भावनाएँ अंकुरित हुईं, जिन्होंने व्यक्ति को सचेत किया और प्रजा को प्रगति-पथ की ओर बढ़ने का सन्देश भी दिया। बापू का राजनीति के क्षेत्र में जब शिखर स्थान बन रहा था तब क्रांति के समर्थकों का भी पर्याप्त वर्चस्व था। देश में दोनों प्रकार की पद्धतियाँ स्वतन्त्रता के लिए अपनाई जा रही थीं।

दिनकरजी प्रारम्भ में ही क्रांति के समर्थक रहे और उन्होंने गांधी-नीति को 'पराजितों की नीति ही माना है। गांधीजी ने जब एकाएक सत्याग्रह रोक दिया और देश में निराशा के घोर बादल छा गये तब कवि ने 'अपराजितों की पूजा' जैसे काव्य लिखकर गाँधी-नीति का विरोध किया 'महा-मानव की खोज' काव्य में गांधी-नीति और गांधी-दर्शन का खुला खण्डन मिलता है। गाँधी-नीति का अँग्रेज जैसे दनुजों के बीच निभना बड़ी कठिन लगता है—

"तृणाहार कर सिंह भले ही फूले,
परमोज्ज्वल देवत्व प्राप्ति के मद में।
पर, हिंस्रों के बीच भोगना होगा,
नख-रद के क्षय का अभिशाप उसे ही।"[1]

प्रारम्भ में कवि गाँधी-नीति को क्लीव-धर्म ही समझता रहा। 'गांधी-दर्शन' उनकी दृष्टि में क्षमा और दया के सुघर बेल-बूटों से क्लीव-धर्म को सजाने वाला धर्म था। उन्होंने धरती के उस अग्रदूत मानवेन्द्र की कल्पना की जिसके एक हाथ में अमृत-कलश और धर्म की ध्वजा हो, परन्तु जो झंझा-सा बलवान् और काल-सा क्रोधी भी हो, अचल के समान धीर होते हुए भी निर्झर-सा प्रगतिशील हो।"[2] कवि तो गांधी नहीं, परशुराम को चाहता है।

क्रान्ति का विध्वंसक कवि जब देखता है कि देश के लिए क्रान्ति से ज्यादा श्रेयस्कर मार्ग गांधी का मार्ग ही है इसलिए वह गांधी को महामानव के रूप में देखना प्रारम्भ करता है। कलिंग-विजय में उसने अशोक की अन्तिम परणति का मार्ग अहिंसा में ही देखा और कुरुक्षेत्र में धर्म के प्रदीप को जलाने का ही आदेश दिया।

१. हुंकार, (कल्पना की दिशा) : पृ० ६६।
२. युगचारण दिनकर, सावित्री सिन्हा : पृ० ६६-६७।

दिनकरजी 'बापू' काव्य लिखने से पूर्व नोआखली-यात्रा और अन्य प्रसंगोपान छिटपुट विचार तो व्यक्त कर चुके थे, परन्तु बापू के विषय में उनका विशाल दृष्टि-कोण 'बापू' काव्य मे ही मिलता है। "बापू के इर्द-गिर्द कल्पना बहुत दिनों से मँडरा रही थी—कई बार छिटपुट स्पर्श भी हो गया, पर तूलिका कुछ कर पाने मे असमर्थ रही।"[१]

दिनकर के बापू के प्रति बदले हुए दृष्टिकोण को देखकर कुछ आलोचक उन पर अवसर के अनुसार स्वर बदल लेने का आक्षेप करते हैं। परन्तु कवि के भाव अवसर के कारण नही, सच्ची आस्था के कारण ही बदले हैं। कवि की बापू के प्रति यह आस्था अन्धी आस्था नहीं है "बापू के प्रति उनकी आस्था वैसी ही है जैसी किसी सिद्ध पुरुष के अलौकिक चमत्कार मे अनास्थावादी नास्तिक को भी उसकी शक्ति मे विश्वास करने के लिए बाध्य हो जाना पडता है।"[२] गांधी के प्रति उनके मन मे जो आक्रोश था वह द्रवित होकर करुणा और श्रद्धा मे परिवर्तित हो जाता है। इस विराट के सामने उसके अंगारे भी लजा उठते। वे गांधी के आध्यात्मिक और अलौकिक व्यक्तित्व की अर्चना करते है।

साम्प्रदायिक एवॉर्ड, अछूतोद्धार तथा स्वदेशी वस्तुओं के प्रचार जैसे विषयो मे कवि बापू का समर्थक लगता है। वह देश मे फैले इन आन्तरिक द्वेषों को हमेशा दूर करने के पक्ष मे है।

गाँधी की मृत्यु कवि के हृदय को डगमगा देती है। उसे लगता है कि देश की किस्मत फूट गई है। पशुता मानवता को चर गई है। महा-बलिदान और 'वज्रपात' खण्डो मे कवि अपना शोक रुदन मे व्यक्त करता हुआ दिखाई देता है। वह बार-बार बापू से लौट आने की प्रार्थना करता है। यह बात सत्य है कि गांधी-वाद मे आस्था रखने वाले दिनकर का गांधी, कांग्रेसियो का गांधी नहीं है वह तो कवि का वह गांधी है जिसकी पूजा कवि अंगारो मे करता है।

'बापू' काव्य मे और अन्य कविताओं मे कवि गांधीवाद का मूल्यांकन अवश्य करता है पर गांधीवादी नही हो जाता।

वर्तमान का यथार्थ अंकन

कवि अपने युग का यथार्थ चित्र अंकित करता है। वह अपने दायित्व का निर्वाह उस चितेरे की भांति करता है जो अपने चित्र द्वारा युग को महान् दृष्टि प्रदान करता है। कवि अपने काव्य-सृजन द्वारा युग मे व्याप्त असत् तत्वों का यथार्थ अंकन कर उसे दूर करने के लिए जन-मानस तैयार करता है। उसकी पद्धति शान्ति की भी हो सकती है और क्रान्ति की भी।

१. 'बापू' (भूमिका): दिनकर।
२. युगचारण दिनकर, सावित्री सिन्हा: पृ० १४०।

कवि दिनकर ने अपनी काव्य रचनाओं में युग का जो यथार्थ अंकन किया है चिरस्मरणीय है। कवि ने क्रांति के स्वर में जयघोष कर देश को नई दिशा दी, र साहित्य को नया रूप।

दिनकर का समस्त काव्य वह दर्पण है जिसमें युग की राजनीतिक परतन्त्रता र उससे उद्भूत देश की दयाजनक परिस्थिति, अंग्रेजों के भारतीयों पर होने वाले ांस अत्याचार, मजदूर और किसानों की अत्यन्त दीन और भूखी पिसती हुई हालत मिक और साम्प्रदायिक देश की आन्तरिक संकुचितता एवं नारी की पराधीन स्था का रूप प्रतिबिम्बित होता है। कवि ने युग के इन दूषणों को दूर करने के ए क्रान्ति के रूसी संस्करण को भी अपनाया। कवि वर्ग-संघर्ष और उससे उत्पन्न ने वाले विस्फोट का चित्र अंकित करता चला है।

वर्तमान के चित्रों को प्रस्तुत करते समय कवि ने अपनी करुणा का परिचय दिया है लेकिन उसकी करुणा रुदन के स्थान पर रोष में बदल गई और यही रण है कि दूध के लिए स्वर्ग को भी लूटने के लिए प्रस्तुत हैं। वर्तमान युग उसे रूपताओं, विषमताओं, व्यक्तिगत व्यथाओं से भरा हुआ लगता है। इन सबका माधान वह क्रांति में ही ढूंढता है। कवि ने स्वयं स्वीकार किया है कि देश के थित वर्तमान में उसकी सौन्दर्यानुभूतियों को धरा का धरा रहने दिया। दिनकर यार्थ का अंकन कर, क्रांति द्वारा नवसर्जन की भावनाओं का सन्देश देकर युग के नक्तीक और चारण बन गए।

अखण्ड भारत का समर्थन

राष्ट्रीयता के युगचारण दिनकर प्रारंभ से अखण्ड भारत के समर्थक रहे। वतन्त्रता युद्ध के सेनानियों की तरह उन्होंने अखण्ड भारत पर बलिदान होने का ही देश दिया। उन्हें खण्डवादी नीति कभी नहीं सुहाई। अंग्रेजों की 'फोड़ो और राज्य रो' नीति द्वारा देश में समय-समय पर जो दंगे हुए, खून की नदियां बह गयीं—कवि न सबका पूरी शक्ति से विरोध करता है। 'सामधेनी' में कवि भारत माँ की दो न्तानों को लड़ते हुए देखकर कराह उठता है। नोआखली और बिहार के साम्प्र- ायिक दंगों के समय भी कवि अपनी घृणा व्यक्त करता हुआ एकता का समर्थन रता है—

> "जलते हैं हिन्दू-मुसलमान भारत की आँखें जलती हैं,
> आने वाली आजादी की लो दोनों पाँखें जलती हैं,
> वे छुरे नहीं चलते, छिदती जाती स्वदेश की छाती है,
> लाठी खाकर भारतमाता बेहोश हुई जाती है।"[1]

१. सामधेनु, पृ० ३१।

देश के जिस प्रकार राजनीतिक टुकड़े हुए वे कवि को कभी नहीं भाये, वह तो अखण्ड भारत मे ही मानता रहा, परन्तु राजनीतिज्ञों के सामने कवि अपने रोष के अलावा और क्या व्यक्त करता ?

स्वतन्त्रता के पश्चात् देश, धर्म, भाषा और प्रदेश के संकुचित वादों में बुरी तरह उलझता जा रहा है। कवि दिनकर नही चाहते कि वे अपनी ही आँखों के सामने देश के टुकड़े देखें अतः बार बार कवि इस संकुचित वातावरण से ऊपर उठकर रोष की समृद्धि और अखण्डिता का समर्थन करता है।

राष्ट्रीयता का व्यापक दृष्टिकोण

स्वतन्त्रता से पूर्व कवि जिस लक्ष्य को लेकर क्रांति की गूंज के स्वर सुना रहा था वह लक्ष्य पूरा हो चुका था। दिनकरजी ने देश की स्वतन्त्रता के पश्चात् राष्ट्रीयता के सकुचित दायरे से उठकर अतर्राष्ट्रीयता की दृष्टि से विचार करना ही उपयुक्त समझा। 'राष्ट्रदेवता' के विसर्जन' मे कवि राष्ट्रवाद के दुर्बल पक्ष को विसर्जित करता है और राष्ट्रीयता की सीमाओ को तोड़कर अतरराष्ट्रीयता के खुले आकाश में विचरण करने लगता है। राष्ट्रवाद का जन्म शोषण के कारण होता है और उसकी अभिव्यक्ति घृणा और आक्रोश मे होती है। देश के प्रेम के नाम पर अहंकार और अभिमान का ज्वालाय धधक उठती है, परन्तु जब देश स्वतन्त्र हो जाता है ये समस्त भावनाय स्वतः खत्म हो जाती है।

कवि दिनकर स्वतन्त्रता स पूर्व जिस राष्ट्रीयता की मुक्तकण्ठ से प्रशंसा करते थे, स्वतन्त्रता के पश्चात् उसे पशु धर्म और अस्वस्थ दृष्टिकोण मानने लगते हैं। उन्हे इस सीमित दृष्टिकोण के कारण सम्पूर्ण विश्व राष्ट्रवाद जन्य भय से ग्रस्त और त्रस्त दिखाई देता है। "संत्रस्त विश्व के लिए छाया खोजते हुए दिनकर सार्वभौम प्रेम, करुणा और बन्धुत्व का आश्रय लेते हैं।"[1]

कवि भारत ही नही समस्त एशिया की पावन धाराओं को एक होते हुए देखने की कल्पना करता है तो कभी समग्र विश्व की प्रगति के दर्शन एकता मे करता है। हिमालय का सदेश काव्य मे वह विश्वप्रेम का दृष्टिकोण व्यक्त करता है।

राष्ट्र में व्याप्त भ्रष्टाचार के प्रति आक्रोष

राष्ट्रीय धारा के प्रायः सभी कवियों ने यह सोचा था कि देश की स्वतंत्रता के पश्चात् वे देश को फूला फला देखेंगे। उन्होंने रामराज्य की कल्पना की थी परन्तु स्वतन्त्र होने के पश्चात् देश का वातावरण सुधरने की जगह बिगड़ने लगा। देश के कर्णधार लोभ और भ्रष्टाचार में लीन हो गए। कवि दिनकर जैसो ने जिस देश को

१. युगचारण दिनकर, सावित्री सिन्हा : पृ० १५५।

भी मानव धर्म को नही भुलाना चाहता। उसे आज भी राष्ट्रीयता की रक्षा करते हुए विश्व शांति मे अगाध श्रद्धा है।

१६६८ के पश्चात् कवि दिनकर जो उर्वशी के काम और सौन्दर्य मे आप्लावित थे वे पुन. युगधर्म की पुकार सुनकर राष्ट्रीय हुकृति की ओर लौट आये।

दिनकर के काव्यों मे व्याप्त राष्ट्रीयता की सरिता बडी ही प्रचड प्रवाहिनी रही है जिसके कल-काल ताण्डव मे वर्तमान के कुरूपो को दूर करने के लिए ध्वस के स्वर सुनाई देते है। स्वतन्त्रता के पश्चात् यह सरिता जैसे विशाल मैदान पाकर सौन्दर्य के हिलोरे मे झूल रही थी। चीनी आक्रमण के पश्चात् उसमे जैसे ज्वार आ गया।

दिनकर की राष्ट्रीयता भले ही नम्र और युग के तकाजे मे ही कही शात या मंद हो गई हो अन्यथा वह सदैव अगारो से दीप्त रही है।

खंड–२ [तृतीय अध्याय]
दिनकर : व्यक्तित्त्व

प्रथम खण्ड के अध्यायो मे हम राष्ट्रीयता पर सामान्य विवेचन करते हुए 'हिन्दी साहित्य' एव 'दिनकर-साहित्य मे राष्ट्रीयता' पर प्रकाश डाल चुके हैं।

द्वितीय खण्ड के तृतीय अध्याय मे कवि के व्यक्तित्व की चर्चा करते हुए यह स्पष्ट करना चाहेंगे कि व्यक्ति निर्माण मे किन परिस्थितियो और वातावरण ने कवि को राष्ट्रीय कवि बनने का गौरव प्रदान किया। राष्ट्रीयता के साथ-साथ कवि की उन भावनाओं का परिचय भी दिया है जिसने हमे 'उर्वशी' जैसी सौन्दर्य-चेतना से अनुप्राणित कृति के अध्ययन का सौभाग्य प्राप्त हुआ। इस अध्याय मे कवि के व्यक्तित्व मे निहित आग और ओस का समन्वय ही प्रस्तुत है।

जन्म एवं बाल्यकाल :

रामधारी दिनकर का जन्म बिहार प्रान्त मे सिमरिया नामक ग्राम मे ३० सितम्बर १६०८ ई० मे हुआ था। सिमरिया दो नदियो से घिरा हुआ मिथिला-भूमि का तीर्थ-स्थान है। यह स्थान गगा की लहरो की शीतलता एव विद्यापति की काकली से गुजित है। बिहार मे गगा नदी पर निर्मित राजेन्द्र-सेतु का उत्तरी छोर सिमरिया ग्राम को छूता है।

पारिवारिक जीवन :

सिमरिया के कृषक पिता श्री रविसिंह एव जननी मनरूपदेवी के वे द्वितीय पुत्र हैं। बालक दिनकर जब एक वर्ष के थे तभी पिता का स्वर्गवास हो गया। आर्थिक विषमताओ के बीच क्षमतामयी माँ ने अपने लाल का लालन-पालन किया। यही कारण है कि कवि की समस्त आस्था माँ के व्यक्तित्व मे केन्द्रीभूत हो गई। माँ की कल्पना उनके मानस में इतनी विराट होती गई जिसने जन्म-भूमि और भारत-माता का स्वरूप ग्रहण कर लिया।

दिनकर कुल तीन भाई है। इनके बड़े भाई का नाम बसतसिंह और छोटे भाई का नाम सत्यनारायण सिंह है। उनका विवाह किशोरावस्था में ही हो गया था। इनकी पत्नि ने इन्हे पढने मे बडी मदद की। सहधर्मिणी के समस्त उत्तरदायित्व को निभाते हुए उसने दिनकर की साहित्य-साधना मे अपने आप को न्यौछावर कर दिया। सहधर्मिणी की त्यागवृत्ति की प्रसंशा करते हुए, डॉ० सावित्री सिन्हा ने उचित ही कहा है—"जब उनका सिद्धार्थ सरस्वती की साधना में दिन-रात एक कर रहा था,

यशोधरा रागिनी होकर भी विरागिनी हो रही थी। जब उनका पति साधू-संन्यासियों के चक्कर में 'द्वन्द्वगीत' की उलझनों मे फँस रहा था, उसके दायित्वों का निर्वाह करने लिए वह स्वय आग से खेल रही थी। अपने 'गौराग' को उन्होने सकीर्ण सीमाओ में बाँध कर नही रखा, प्रत्युत्त विष्णु-प्रिया बनकर परिवार की सेवा-सुश्रूषा और श्रम को भी जीवन का साध्य बना लिया और फिर जब प्रतिष्ठा और कीर्ति ने उर्वशीकार के चरण चूमे, यह 'औशीनरी' तपस्या, त्याग और साधना की ही मूर्ति बनी रही।"[१] कवि ने 'रसवन्ती' मे कुछ इसी प्रकार की त्यागमयी नारी की प्रशसा और चाह व्यक्त की है।

उन्नीसवें वर्ष की अवस्था में उनके प्रथम पुत्र रामसेवक सिंह का जन्म हुआ। दिनकरजी के कुल चार सन्तानें है। कवि का परिवार एक आदर्श परिवार है। काव्य पथ मे उन्होने परिवार के प्रति अपने दायित्व को भुलाया नही। परिवार के पुत्र-पौत्रादि से लेकर वृद्धा माता तक सभी की हर आवश्यकता का उन्होने ध्यान रखा; और उसकी पूर्ति में सदैव सजग रहे।

विद्यार्थी जीवन :

दिनकर की प्राथमिक शिक्षा गाँव मे हुई। इसके पश्चात् असहयोग आन्दोलन छिड जाने के बाद गांव से तीन-चार मील दूर बारो नामक गांव मे राष्ट्रीय पाठशाला मे जाने लगे। यहाँ दिनकर हिन्दी के साथ उर्दू भी पढते। मुसलमान छात्रों के साथ भी रहते जिसका प्रभाव उनके चरित्र पर पडा। साम्प्रदायिक एकता, राष्ट्रीयता, जातीय सद्‌भावना, उत्साह और कर्मठता के गुण कवि को यही से प्राप्त हुए। उर्दू-साहित्य के प्रति उनकी रुचि भी यही से बनी। इस पाठशाला का व्यय भिक्षाटन से चलता था और विद्यार्थी दिनकर को भी यह गौरव प्राप्त हुआ। सरकारी स्कूल से इन्होने मिडिल पास किया और बाद मे मोकामाघाट के स्कूल से १९२८ में मैट्रिक की परीक्षा पास की और तत्पश्चात् पटना से इतिहास में ऑनर्स के साथ बी० ए० की परीक्षा मे उत्तीर्ण हुए।

कवि को बचपन से ही कविता के प्रति रुचि थी जो उत्तरोत्तर बढ़ती ही गई। श्री गोपालकृष्ण जी के वार्तालाप से प्रस्तुत उनके शब्दों में कहें तो—"मैं न तो सुख में जन्मा था, न सुख मे पल कर बड़ा हूँ। किन्तु, मुझे साहित्य में काम करना है यह विश्वास मेरे भीतर छुटपन से ही पैदा हो गया था इसलिए ग्रेज्युएट होकर जब मैं परिवार के लिए रोटी अर्जित करने मे लग गया तब भी, साहित्य की साधना मेरी चलती रही।"[२]

सन् १९२८-२९ के लगभग दिनकर का परिचय रामवृक्ष बेनीपुरीजी से हुआ। उन्होंने 'युवक' पत्र निकालना प्रारम्भ किया। उन्होंने यौवन की देहरी पर

१. युगचारण दिनकर, सावित्री सिन्हा : पृ० ३।
२. दिनकर सृष्टि और दृष्टि (दिनकरजी से भेंट-वार्ता) गोपालकृष्ण कौल : पृ० १७।

तो लिखता ही रहा। इसका यह अन्तर्द्वन्द्व 'सामधेनी' की कई पंक्तियों में व्यक्त हुआ है।

देश स्वतन्त्र होने के पश्चात् उन्हे प्रचार विभाग का डिप्टी-डायरेक्टर बना दिया परन्तु अब उनका मन ऐसी नौकरी से ऊबने लगा था। उन्होंने १६५० में इस्तीफा दे दिया। बिहार सरकार ने उनकी प्रतिभा और दक्षता से प्रभावित होकर उन्हे मुजफ्फरपुर के पोस्ट ग्रेज्युएट, कालेज मे हिन्दी विभागाध्यक्ष बना कर भेज दिया। वहाँ पर भी इन्होंने बडी लगन से कार्य किया। सन् १६५२ मे इस पद को भी उन्होंने त्याग दिया और राज्यसभा के सदस्य के रूप मे सम्मानित हुए। तत्पश्चात् इस स्थान को भी त्याग कर भागलपुर युनिवर्सिटी के उपकुलपति रहे। इनकी कार्य-दक्षता और सूझ-बूझ के कारण यह युनिवर्सिटी पर्याप्त उन्नति कर सकी। भारत सरकार ने इनकी सेवाओं को युनिवर्सिटी के दायरे मे सीमित रखना उचित न समझा। आजकल दिनकरजी हिन्दी के रूप मे अपनी सेवाओं का दान कर अपने उत्तरदायित्व का निर्वाह कर रहे है।

सम्मान :

दिनकर उन कवियो मे से है कि जिन्होंने स्वाधीनता-संग्राम को वाणी और गति प्रदान की। देश के स्वतन्त्र होने के पश्चात् कवि का यथायोग्य सम्मान किया गया। सन् १६४६ मे प्रयाग की सैकत भूमि पर 'कुरुक्षेत्र' के रचयिता दिनकर का साहित्यिक सम्मान किया गया। 'रश्मिरथी' पर भी कवि पुरस्कृत हुआ। १६५३ मे 'संस्कृति के चार अध्याय' पर साहित्य अकादमी का राष्ट्रीय-पुरस्कार प्रदान किया गया। १६५६ मे राष्ट्रपति द्वारा साहित्यिक सेवाओं के उपलक्ष्य में 'पद्मभूषण' की उपाधि प्रदान की गई। १६६२ मे भागलपुर विश्वविद्यालय ने डाक्टर ऑफ लिटरेचर की सम्मानित उपाधि से विभूषित किया। तदुपरान्त समय-समय पर भारत सरकार, उत्तर प्रदेश सरकार, नागरी प्रचारणी सभा काशी, साहित्तकार-ससद तथा विराट राष्ट्र-भाषा परिषद्, पटना, द्वारा अनेक पुरस्कार प्रदान किए गये।

दिनकर की कृतियो का अनुवाद देशी और विदेशी भाषा मे प्रकाशित हुआ है। जापान के अंग्रेजी पत्र, Orient-West मे कलिंग-विजय का अनुवाद प्रकाशित हुआ। रूसी भाषा में कविताओं का सकलन प्रकाशित हुआ है। 'सस्कृति के चार अध्याय' के प्राचीन खण्ड का अनुवाद जापानी भाषा मे हुआ है।

१६५५ में वारसा (पॉलेण्ड) के अंतर्राष्ट्रीय काव्य समारोह में भारतीय शिखर मडल के नेता के रूप मे भाग लेकर देश का नाम ऊँचा किया। इन्हे इग्लैड, फ्रांस, स्विटजरलैंड, मिस्र, चीन और रूस आदि विभिन्न देशो में पर्याप्त सम्मान प्राप्त हुआ।

व्यक्तित्व :

बाह्य दर्शन—कवि का बाह्य दर्शन बड़ा ही प्रभावशाली एवं प्रतिभा सम्पन्न है। छः फुट लंबे शरीर से दृढ और रग से गोरे **दिनकरजी** के उन्नत

ललाट को देखकर सहज ही मन आकर्षित हो जाता है। हिन्दी-काव्य जगत का 'परशुराम रूप हमारे समक्ष अंकित हो उठता है।

कवि की वेषभूषा सदैव राष्ट्रीय एवं सादा रही। फैशनपरस्ती तो जैसे उसे छू ही नहीं सकी।

दिनकरजी के व्यक्तित्व का निर्माण उनके संघर्षों का इतिहास है। कवि को निरन्तर आन्तरिक एवं बाह्य संघर्षों से जूझना पड़ा। बचपन गरीबी और अभाव में बीता। कवि ने अपनी बाल एवं युवा आँखों से अनेक बार बाढ़ का ताण्डव निहारा, उजड़ते हुए खेत खलिहानों की दुर्दशा को देखा। बचपन से ही कृषक जीवन की आर्थिक और सामाजिक समस्याएँ उसे आन्दोलित करने लगी। युवावस्था में प्रवेश करते-करते राष्ट्रीयता की भावनायें उसे प्रभावित करने लगी। फलस्वरूप उनकी आत्मा की बुलंदी कंठ से फूटने लगी। सावित्री सिन्हा के शब्दों में कहें तो—"दिनकर के व्यक्तित्व में धरती-पुत्र का आत्म-विश्वास और दृढ़ता, साहित्यकार की अनुभूति-प्रवणता, दार्शनिक का तत्वचिन्तन तथा राजपुरुष का ओज और तेज है। दूसरे शब्दों में उनके जीवन की कहानी हल, हँसिया, लेखनी और पार्लियामेंट की बैठकों की कहानी है। उनके बाह्य व्यक्तित्व में भी क्षत्रिय का तेज, ब्राह्मण का अहं परशुराम का गर्जन और कालिदास की कलात्मकता है।"[1]

स्वभाव से दिनकर नम्र और क्रोधी भावों के समन्वय रूप हैं। वे अपने से छोटों का भी आदर करना जानते हैं और भावी पीढ़ी के कवियों को सहानुभूतिपूर्वक मार्गदर्शन भी देते हैं। उनकी नम्रता उनके आलोचकों को भी प्रभावित करती है। दिनकर सामाजिक संबंधों का निर्वाह बड़ी व्यवहार कुशलता से निभाते हैं।

क्रोध:—कवि क्रोध के वशीभूत भी शीघ्र ही हो जाता है और कभी-कभी सीमा का अतिक्रमण भी कर देता है। परन्तु ज्योंही पारा उतरता है वे उतने ही वेग से पश्चाताप करते हैं। कवि ने क्रोध को सृजन शक्ति का प्रतीक मानते हुए गोपालकृष्णजी की वार्तालाप में बताया कि—"क्रोध को मैं साहित्यकार का आवश्यक गुण मानता हूँ। जिसमें क्रोध पी जाने की शक्ति है वह या तो संत है अथवा डिप्लोमेट जो व्यवहार में वैष्णवी विनम्रता लाकर सबको खुश रखना चाहता है। जिसमें क्रोध नहीं वह कवि कानफार्मिस्ट हो जायेगा और कानफार्मिस्ट होना कवि के जीवन का नहीं उसकी मृत्यु का लक्षण है। हमें डंक मारने वाले मित्रों की आवश्यकता है जो डंको की मार से समाज को तिलमिला सकें।"[2] कवि की सृजनात्मक प्रक्रिया का प्रेरणा-स्रोत क्रोध ही रहा है। रेणुका, हुंकार, सामधेनी, कुरुक्षेत्र एवं

१. युगचारण दिनकर : सावित्री सिन्हा : पृ० २२।
२. दिनकर सृष्टि और दृष्टि : सं० गोपालकृष्ण कौल : (कवि की दृष्टि में उसकी सृष्टि) : पृ० २६।

परशुराम की प्रतीक्षा में उनका परशुराम-सा स्वभाव ही व्यक्त हुआ है। क्रोध की स्थिति में उन्हे बच्चो सा सम्हालना पडता है। सन् १९४७ में जब वैद्यनाथधाम के मदिर में वे सपरिवार दर्शनार्थ गए। परन्तु जब उन्होने देखा कि ठडी के दिनों में कांपती हुई ग्रामीण स्त्रियो को पुजारी अपने अमीर यजमान के कारण जल नही चढाने दे रहा है। कवि इस सामान्तवादी रूप को सहन न कर सका और कह उठा—"हे महादेव! दुनियां मुझे क्रांतिकारी कवि के रूप में जानती है। यदि मैं तुझ पराधीन की पूजा करें तो यह मेरे पाठको का अपमान है। और जल से भरा कलश महादेव के सिर पर दे मारा।

दूसरी घटना सब-रजिस्ट्री के काल की है। जब वे क्रोधावेश में एक व्यक्ति को मार बैठते है। परन्तु बाद में खूब रोते है—पश्चाताप करते है और क्षमा याचना करते है।

राष्ट्रपति द्वारा उन्हें जब 'पद्मभूषण' की उपाधि से विभूषित किया गया और उनके सम्मान में एक गोष्ठी का आयोजन हुआ था। उसमें मैथिलीशरण ने जब यह कहा कि लोग दिनकर को कभी-कभी अभिमानी मान लेते है। मगर वे है नही। तब दिनकरजी ने जो शब्द कहे थे वे बडे ही मार्मिक है—"आप सबके चरणो की धूलि मिल जाए तो उसे अपने मस्तक पर लगा कर मै अपने अभिमान को दूर कर दूं।"[1]

दिनकर का क्रोध दुर्भावना न होकर भावुकता जन्य है। कठोरता और क्रोध तो परिस्थिति के परिवेश मे अद्भुत भाव मात्र है।

सघर्ष और अर्थाभाव एव देश की परिस्थितियों ने कवि को भले ही क्रोधी बना दिया हो परन्तु उनमें विनोद की मात्रा भी पर्याप्त है। वे कवि-गोष्ठियों और मित्रों के बीच मनोविनोद भी किया करते है—खुलकर हँसते भी है।

दिनकरजी विशेष परिश्रमी है। उनके जीवन का लक्ष्य ही जैसे 'खूब काम करो' है। वे प्रतिकूल परिस्थितियो मे भी सयम का उल्लघन नहीं करते। स्वाभिमानी होने के साथ सौजन्य शीलता इनकी विशेषता है। यही कारण है कि इतना सम्मान प्राप्त करने पश्चात एव ससद के राजनीतिक वातावरण मे रह कर भी वे राजनीति के विषैलेपन से दूर रह सके।

कवि आचार, व्यवहार तथा रीति-रिवाजों के पालन मे ग्रामीण कट्टरता के कायल है फिर चाहे उनकी वैयक्तिक मान्यताएँ कितनी ही आधुनिक क्यो न हो।

निरंकुशता

कवि की निरंकुशता का दर्शन अन्याय और समाज पर होने वाले अत्याचारों तथा व्यक्तित्व के हनन के अवसर पर विशेष रूप से दिखाई देता है। कवि अंग्रेजों

१. रामधारीसिंह दिनकर : मन्मथनाथ गुप्त : पृ० ६।

की नौकरी करते समय भी क्रान्तिकारी रचनायें लिखता रहा। कई बार सरकार ने इनसे कैफियत तलब की परन्तु दिनकर निर्भीकता से उसका उत्तर देते रहे। १९३५ में 'रेणुका' का जब प्रथम संस्करण प्रकट हुआ और हिन्दी जगत में धूम मच गयी तो सरकार के कान खड़े हो गये। सरकार ने जब इन्हें चेतावनी दी तब आपका उत्तर बड़ा स्पष्ट था—"मेरा भविष्य साहित्य में है। अनुमति माँगकर किताबें छपवाने से मेरा भविष्य बिगड़ जायेगा।"[1] कवि ने अपनी कविताओं को स्वदेशभक्ति की परिचायक ही स्वीकार किया। इसी प्रकार 'हुंकार' के प्रकाशन के समय इन्हें चेतावनी दी गई परन्तु इस बार भी इन्होंने अपनी निडरता का परिचय दिया। १९४० में गांधीजी जब इस दुविधा में थे कि आन्दोलन छेड़ा जाय या नहीं, उस समय 'ओ द्विधाग्रस्त शार्दूल बोल' कविता 'अमिताभ' के नाम से छपी थी। इस बार भी इन्हें सरकार का सामना करना पड़ा था। बार-बार सरकार से संघर्ष में उतरने के पश्चात् भी आखिर कठिनाइयों के कारण वे नौकरी तो न छोड़ सके परन्तु निर्भीकता से उसका सामना करते रहे। कवि ने देश की क्रांति का नारा बड़े ही दर्द और उत्साह से सींचा। कवि दिनकर गांधीवाद के प्रचंड प्रवाह में भी अपने स्वभाव को बदलकर उसका समर्थन न कर सके। उन्हें कांग्रेसियों के गांधी के स्थान पर अपने गांधी ही ज्यादा रुचे जिनकी पूजा वे अंगारों से करते रहे।

परतन्त्रावस्था में ही कवि की निर्भीकता व्यक्त हुई है ऐसी बात नहीं है। स्वतन्त्रता के पश्चात् भी उनका यह गुण यथावत् है। १९४६ में जब बिहार में कांग्रेस सरकार की ओर से उस समय जयप्रकाशनारायण के स्वागत में उन्होंने जो कविता पढ़ी उसमें एक-दो नेताओं की आलोचना का आभास होने से सरकार की कोप दृष्टि भी सहन करनी पड़ी। १९४८ में दिनकरजी ने स्वराज्य की प्रथम वर्ष गाठ पर देश की और देश के कर्णधारों की पर्याप्त आलोचना की। स्वय ससद होने के बाद भी 'भारत का यह रेशमी नगर' काव्य लिखकर अपनी तीक्ष्ण आलोचनात्मक शैली का परिचय दिया। 'परशुराम की प्रतीक्षा' काव्य लिखकर वह सत्ताधारियों और जनमन के विरुद्ध भी अपने साहस का परिचय देते हैं। कवि को जनता का प्यार उनकी इसी निर्भीक भावनाओं के कारण मिला है।

जनता के प्रतिनिधि

कवि दिनकर तो अपने परिश्रम और बुद्धि की दृढता का अवलम्ब लिए पचास करोड़ भारतीयों का प्रतिनिधित्व सदैव करते रहे हैं और अपने समाज के पुत्र बनकर दृढ़ रहे हैं।

शिवबालक राय ने दिनकर का बड़ा ही मनोरम किन्तु दृढ रूप व्यक्त किया है। देदीप्यमान, प्रभापुंज, जाज्वल्यमान ज्योति पिण्ड का नाम दिनकर है। दिनकर भारत

१. रामधारीसिंह दिनकर : मन्मथनाथ गुप्त : पृ० १७।

की राष्ट्रीय साधना का मूर्तिमान विग्रह है। समय की करवट और अगडाइयों का भूचाल और बवण्डर के ख्वाबों से भरी हुई तरुणाई का नाम 'दिनकर' है। उसमे हमारी क्राति कुमारी अपने यौवन के निखार पर है। वह दहकते अगारो पर निर्भय होकर चलाना जानता है, हथेली पर आग सुलगाकर सिर का हदित चढ़ाना जानता है। उसकी वाणी मे हमारा सुनहला अतीत फिर से जी उठा है।" क्योंकि उसने अतीत के सिसकते हृदय के स्पन्दनों का सुना है। उसकी वाणी मे राणा और छत्रपति बुद्ध और महावीर अशोक और गाँधी फिर से जग गए हैं। चित्तौड की चिताओं की राख फिर धू-धू करके जलने लगती है, लिच्छवी और वैशाली के खण्डहर अपने वैभव की आभा से चमक उठते है, उदास गण्डकि मे से विद्यापति के मधुर गान की रागिनी छिड जाती है, वृन्दा घनश्याम का पता बताने लगती है और सरयू के तट पर खडी भिखारिनी अयोध्या मे फिर पुरुषोत्तम राम के दर्शन होने लगते है। राजनीति मे जो जयप्रकाश है, साहित्य मे वही दिनकर है। बिहार की कोख धन्य हुई क्राति के इन अग्रदूतों को जन्म देकर।"[1]

स्वतन्त्रता संग्राम में योगदान

कवि दिनकर राष्ट्रीय स्वतन्त्रता संग्राम मे सक्रिय योगदान देते रहे। शिक्षण-काल मे ही १९२४ मे जबलपुर से निकलने वाले पत्र 'छात्र सहोदर' मे अपनी रचनाए लिखने लगे थे। बारडोली सत्याग्रह से प्रभावित होकर उन्होंने 'बारडोली विजय' नामक छोटी-सी पुस्तिका भी लिखी थी। बी० ए० करने मे पूर्व गाँधीजी के असहयोग आन्दोलन मे भी सरकारी नौकरी के पश्चात् भले ही कवि बम बनाने वाली पार्टी के साथ न रहा हो या गांधीजी के साथ उसने जेल यात्रा न की हो परन्तु वह अपने गीतों की प्रचण्ड ज्योति से भारत के स्वतन्त्रता के दीवानो की भावनायें सदैव प्रज्वलित बनाता रहा। कवि ने गाधी, यतीन्द्रनाथ दास आदि पर हुए अत्याचारो के विरुद्ध अपने क्रोध और क्षोभ को व्यक्त कर देश को अपनी राष्ट्रीयता का परिचय दिया।

दिनकर का स्वतंत्रतापूर्व का काव्य अगारो से सजा हुआ काव्य है। भले ही 'रसवन्ती' की धारा मे वह क्षणिक खो गया हो, परन्तु जनता की माँग की अवहेलना न कर सका। स्वतन्त्रता के पश्चात् देश मे व्याप्त कुरीतियों, भ्रष्टाचार, गरीबी आदि समस्याओं का डटकर विरोध कर कवि ने देश का प्रतिनिधित्व किया है और अपनी राष्ट्रीयता का परिचय दिया है। काम और सौन्दर्य की चेतना से अनुप्राणित कवि 'उर्वशी' चितवन को त्याग चीनी आक्रमण के समय परशुराम के अवतार-सा पुनः राष्ट्रीय सग्राम मे कूद पडा। ऐसा लगता है कि कवि पुनः भीम और युधिष्ठिर

१. दिनकर, शिवबालक राय : पृ० २।

की प्रतीक्षा में है? कवि दिनकर की राष्ट्रीयता के सन्दर्भ में यह कथन कि वे वर्तमान के चारण हैं, वैभवशाली हैं एवं समय-पुत्र हैं—सार्थक है। देश की आजादी के लिए और उसकी समृद्धि के लिए गांधी, नेहरू, जयप्रकाश, लोहिया जैसों ने राजनीति के क्षेत्र में जो कार्य किया है वैसा ही राष्ट्रीय योगदान दिनकर ने काव्य के माध्यम से प्रस्तुत किया है।

व्यक्तित्व निर्माण के आदर्श महापुरुष एवं साहित्यकार

किसी भी व्यक्ति के व्यक्तित्व-निर्माण में जितना योगदान उससे सम्बन्धित आर्थिक, सामाजिक, धार्मिक एवं राजनीतिक परिस्थितियों का होता है, उतना ही योगदान अतीत और वर्तमान के महापुरुषों और साहित्यकारों का होता है।

कवि पर जयप्रकाश नारायण का विशिष्ट प्रभाव रहा है। उनकी प्रेरणा से और उनके कार्यों से कवि सदा प्रभावित रहा है। १९३३ में जब वे एम० ए० करना चाहते थे तब जयप्रकाशजी ने ही उन्हें डाँटते हुए कहा था— "लड़कों की तरह परीक्षा में बैठने जा रहे हैं? आप अपनी इज्जत नहीं कर सकते तो उनकी तो कीजिए जो आपको कवि मानते हैं।"[1]

कवि को साहित्य की ओर प्रभावित करने में रामवृक्ष बेनीपुरी, गंगाशरणसिंह, राहुल सांकृत्यायन और डा० काशीप्रसाद जायसवाल का विशेष हाथ रहा है।

साहित्यिक प्रभाव—कवि दिनकर पर दो प्रकार के साहित्यिक प्रभाव दृष्टव्य हैं। एक ऐतिहासिक और दूसरा सामयिक। ऐतिहासिक पृष्ठभूमि में 'रामचरित मानस' विशेष महत्वपूर्ण है। कवि बचपन से ही 'रामचरित मानस' का पाठ सुनते और सुनाते थे। इन्हें काव्य-लेखन की प्रेरणा रामलीला और नौटंकिया देखकर ही उत्पन्न हुई थी। वे नाटक की धुन पर कवितायें लिखने लगे। दिनकर पर तुलसी के उपरान्त कबीर का भी प्रभाव है। कवि तुलसी तथा कबीर की भाव परख, प्रसाद-गुण की अभिव्यक्ति के कायल रहे।

दिनकर का जन्म यद्यपि द्विवेदी-युग में हुआ तथापि साहित्य-सृजन उन्होंने छायावादी युग में किया। इसके बावजूद भी छायावाद का कुण्ठित क्षणों का मादक शृंगार घरनी के पुत्र को अपनी ओर खींचने में असमर्थ रहा। कवि ने स्वयं इस तथ्य को स्वीकार किया है कि छायावाद के युग में भी इन राष्ट्रीय कविताओं ने बहुत कुछ प्रतिष्ठा पायी। कवि पर १९२० में 'प्रताप' में प्रकाशित 'एक भारतीय आत्मा' की कविता का अत्यधिक प्रभाव पड़ा था जो तिलक की मृत्यु के संदर्भ में लिखी गई थी। जबलपुर से प्रकाशित 'छात्र सहोदर' में प्रकाशित होने वाली राष्ट्रीय रचनायें उन्हें सदैव प्रिय रहीं। छायावादी युग में भी कवि को प्रेरणा तो

१. रामधारी सिंह दिनकर, मन्मथनाथ गुप्त : पृ० २।

राष्ट्रीय कवियों से ही प्राप्त हुई। कवि ने स्वयं लिखा है—"अपनी तत्कालीन रुचि का स्मरण करने पर मुझे याद आता है कि छायावादी युग में भी मेरे सबसे प्रिय कवि मैथिलीशरणगुप्त, माखनलाल, सुभद्रा, नवीन और रामनरेश त्रिपाठी ही थे। कालेज में मुझमें शेली और वर्ड्सवर्थ दोनों के लिए उत्साह था और बंगला सीखकर तभी मैंने रवीन्द्र और नजरुल से परिचय बढ़ा लिया था। पीछे जब मैं नौकरी करने लगा, तब मैंने उर्दू सीखी तथा इकबाल और जोश का मैं भक्त हो गया।"[1] उनकी रुचिगत आत्मीयता भगवतीचरण वर्मा, नरेन्द्र, बच्चन, नेपाली और नागार्जुन सेठी बैठती है। इन कवियों और युग की परिस्थितियों से प्रभावित होकर अपने हृदय के उमड़ते हुए भावों को कवि पुकार-पुकार कर, गा-गा कर व्यक्त करने लगा। कवि के व्यक्तित्व-निर्माण में क्रान्तिकारियों और गांधी जैसे महापुरुषों का भी पर्याप्त प्रभाव है।

'कलिंग-विजय' के पश्चात् अशोक की स्थिति और 'कुरुक्षेत्र' के युद्ध के पश्चात् युधिष्ठिर की स्थिति ने कवि को तटस्थता से गांधी की ओर उन्मुख किया। कवि को गांधीजी की कार्यपद्धतियों और सफलताओं में विश्वास-सा बढ़ने लगा और इसीलिए यह वामन, विराट की आराधना की ओर अभिमुख हुआ। परन्तु कवि का गांधी प्रकाश का पुंज रहा, गांधीवादियों का राजनीतिज्ञ गांधी नहीं। राष्ट्रीय आन्दोलन-काल में इनकी अभिरुचि के नायक तो नेहरू, सुभाष जैसे समाजवाद के समर्थक युवक नेता ही रहे।

साहित्यिक चेतना का विकास :

दिनकर की साहित्यिक चेतना का मूल जैसा कि हम ऊपर कह चुके है 'रामचरितमानस' के श्रवण तथा रामलीला और नौटंकियों के दर्शन में है। कवि पर प्रभाव तो स्पष्ट: राष्ट्रीय-काव्य धारा को प्रवाहित करने वाले कवियों का है। दिनकर की प्रारम्भिक कवितायें धरती की सोंधी गंध से सुवासित है, जिनमें देश की धरती धरती-पुत्र का करुण चित्र है। रामनरेश त्रिपाठी के 'पथिक' से प्रभावित होकर कवि ने 'मेघनाथ-वध' का प्रारम्भ अवश्य किया, परन्तु अधूरा ही छोड़ दिया गया। उनकी प्रथम रचना 'प्रणभंग' १९२८ में प्रकाशित हुई थी जो अप्राप्य है।

राष्ट्रीय रचनाएं—कवि की भावनाओं का सर्वप्रथम परिचय 'रेणुका' द्वारा देश को प्राप्त हुआ। 'रेणुका' १९३५ में प्रकाशित हुई। 'रेणुका' के प्रकाशन के पश्चात् पंडित बनारसीदास चतुर्वेदी जैसे साहित्य-मर्मज्ञ ने यह घोषणा की थी कि दिनकरजी अफ्रीका में जन्मे होते तो भी मैं उनसे मिलने अफ्रीका चला जाता और छायावाद के अग्रगण्य कवि पंडित जनार्दनप्रसाद झा 'द्विज' ने इनकी इन रचनाओं से प्रभावित होकर 'चरित्र-रेखा' नामक पुस्तक में लिखा, "ऐसे बहुत से पाठक है जो

१. चक्रवाल, (भूमिका), दिनकर : पृ० २६-२७।

'दिनकर की कवितायें पढकर और कुछ पढना आवश्यक नही समझते।" सग्रह की हिमालय, नई दिल्ली, ताण्डव, दिगम्बरी, हाहाकार, विपथगा और अनल किरीट जैसी ओजपूर्ण रचनाएं जनता को झकझोर डालती थी। बड़े-बड़े नेता भी फूट-फूट कर रो पड़ते थे और बूढ़े भी खड़े हो जाते थे। 'हुंकार' के प्रकाशन के पश्चात् तो कवि सुयश के शिखर की ओर अग्रसर होने लगा। 'हुंकार' मे जैसे अँगारो की गर्मी प्रकट हुई है। बेनीपुरी जी के शब्दो मे कहे तो—"अगारे जिन पर इन्द्र-धनुप खेल रहे हैं। 'रेणुका', 'हुंकार', 'सामधेनी', 'कुरुक्षेत्र' और 'रश्मिरथी' मे दहकते अगारो का तेज है। इन्द्र-धनुषी रग 'रसवन्ती' मे छिटका था। 'उर्वशी' में वह मध्याह्न सूर्य के उभार पर पहुँच गया है।"[1]

१६४० मे दिनकर के शृगार-काव्य और रस गीतो का सग्रह प्रकाशित हुआ। 'रसवन्ती' के प्रकाशन से उनके बहुत से प्रशसको ने निराशा का अनुभव किया और उन्हें पलायनवादी कहने तक को तत्पर हो गए। लेकिन दिनकर के कथन व रचनाओं पढने से यह सत्य स्पष्ट होता है कि धरती का यह पुत्र भले ही कुछ काल के लिए रसानुभूति या व्यक्तिगत भावनाओ के प्रवाह मे बह गया हो परन्तु उसने पतोन्मुख-धारा को नही छोडा। एक जगह उन्होंने स्वय लिखा है, "राष्ट्रीय और क्रान्तिकारी होने का सुयश मुझे 'हुंकार' के प्रकाशन के बाद मिला किन्तु आत्मा मेरी अब भी 'रसवन्ती मे बसती है।"[2]

कवि राष्ट्रीयता को बाहर से आक्रान्त तत्त्व मानता है लेकिन युगधर्म को अपने भीतर आत्मभूत करके वे वैयक्तिक अनुभूतियों को दबाकर समाज और राष्ट्र की अनुभूतियों के अधीन हो जाते हैं। वे तो भारतीय जनता की अनुभूतियो के अक मे बैठकर रचना कर रहे थे। काल ने फूंक मारकर उनमे झकृति पैदा की थी। कवि प्रारभ मे छायावाद से प्रभावित अवश्य रहा, परन्तु छायावाद का प्रभाव बाह्य ही रहा। कवि ने स्वीकार किया है कि—"छायावाद मे जो कोमलता थी, उसमें नई-नई *सुषमाओ के जो अनेक वातायन खुलते थे, उन सबके लिए मुझमे आकर्षण और लोभ* था और इस लोभ से प्रेरित होकर जब मैं कोई कविता करने बैठता, मैं अपने आप से बहुत प्रसन्न हो उठता था। किन्तु, कविता समाप्त करते-करते मेरी मुद्रा शिथिल हो जाती और अपने श्रम को विनष्ट हुआ मानकर मैं निराश हो जाता था।'[3]

'रेणुका' 'कुरुक्षेत्र', 'नीलकुसुम', और 'उर्वशी' दिनकर-काव्य के चार मुख्य स्तम्भ हैं। रेणुका' मे कवि के यौवन मे उद्घोष शखनाद की तरह गूज उठे हैं और इसी मे अतीत का स्वर्णिम वातावरण प्रस्तुत होता है और छायावाद की भी कुछ

१. हुंकार, (भूमिका), रामवृक्ष बेनीपुरी पृ० १३।
२. चक्रवाल (भूमिका) : दिनकर : पृ० ३३।
३. चक्रवाल, (भूमिका) : दिनकर . ५-३४।

याद आ जाती है। 'रेणुका' का ताप 'हुंकार' मे विद्रोह की वाणी के रूप में प्रकट हुआ। 'कुरुक्षेत्र' मे हुंकार की भावनायें दर्शन के रूप मे बदल गयी। इसमे कवि के मन का मानसिक द्वन्द्व हिंसा और अहिंसा को लेकर प्रकट हुआ है। 'द्वन्द्वगीत' के अन्तर्गत कवि के मन के द्वन्द्व मुखरित होते है। जिस प्रकार 'रेणुका' और 'हुंकार' का विस्फोट 'कुरुक्षेत्र' है उसी प्रकार 'रसवन्ती' का सौन्दर्य 'उर्वशी' मे अत्यन्त ऊँचे धरातल पर काम और सौन्दर्य के रूप मे अंकित हुआ है। 'नीलकुसुम' की रचनायें सामाजिक उद्देश्यों को प्रधानता नही देती। इसकी भाषा मँजी हुई है।

'रेणुका' और 'हुंकार' मे कवि का आशय भाषा से अधिक भावो की अभिव्यक्ति की ओर विशेष रहा। कवि के शब्दो मे कहे तो —"उन दिनों प्रेरणायें मेरे भीतर बड़े जोर से आती थी और मैं सजाव-सँवार का बहाना बनाकर उनके प्रवाह को रोक नहीं सकता था। मैं मकान खड़ा करने के काम मे इतना व्यस्त हो जाता था कि पत्थरो को छेनी और हथौडी से गढ़ने या चिकना करने का कार्य मुझे अप्रिय और फालतू-सा लगता था।"[१]

स्वतन्त्रता से पूर्व कवि ने 'रसवन्ती' को छोड़कर प्रायः समस्त कृतियो मे राष्ट्रीयता का ही उद्‌घोष किया है। स्वतन्त्रता के पश्चात् 'बापू' उनका गाधी-काव्य का सग्रह है।

नए स्वर

'नीलकुसुम', 'कोयला और कवित्व' आदि रचनाओ मे प्रगतिवाद के स्वर सुनाई देते है। 'उर्वशी' का कवि रमाकन अवश्य करता है परन्तु उसकी विजय-यात्रा के साथी तो परशुराम है।

'रेणुका' से प्रारम्भित होने वाली यह यात्रा अभी तो निरन्तर आगे ही बढ़ती रही है। लेकिन कवि को ऐसा लगता है जैसे अभी यह सिद्ध कवि नही हुआ—"मेरी प्रिय रचना अभी लिखी ही नही गई—जब मैं दिल के भाव को तुलसी की भाषा में लिख सकूँगा तभी अपने को सिद्ध कवि मान सकूँगा।"[२]

कवि का साहित्यिक विकास जनवादी परम्परा मे हुआ है। कवि की कृतियों मे राष्ट्रीयता के साथ अन्तर्राष्ट्रीयता का पर्याप्त समर्थन मिलता है। दिनकर मानव-प्रेम के प्रतिनिधि कवि के रूप मे ही उत्तरोत्तर सफल सिद्ध हुए हैं।

दिनकर के काव्योत्कर्ष मे सघर्ष की झलक पर्याप्त मात्रा मे दिखाई देती है। लेकिन अपने व्यक्तित्व के द्वारा कवि नदी की भाँति शिलाओ को तोड़कर आगे बढ़ता

१. चक्रवाल (भूमिका) : दिनकर : पृ० २।
२. "युगचारण दिनकर," सावित्री सिन्हा पृ० २१। (कवि कथन उद्धृत)

है। युद्ध और शृंगार दोनो की द्वन्द्वावस्था का समापन 'कुरुक्षेत्र' और 'उर्वशी' मे होता है। दिनकर की साहित्य-यात्रा मे गाँधीवाद के साथ-साथ मार्क्सवाद भी स्थान पाता है, परन्तु दिनकर का मार्क्सवाद एशिया या चीन का अन्धानुकरण न होकर भारत की सर्वोदय की भावनाओ से अनुप्राणित है। कही-कही पर गाँधीवादी, द्विवेदी-युगीन कवियो के इतिवृत्ति-मूलक-आदर्शवाद ने इनकी कल्पना को अवरुद्ध करना चाहा परन्तु पौरुष और शांति के विचारो ने शांति के वस्तुगत पदार्थ से विमुख नही होने दिया।

दिनकर की रचनाओ मे राष्ट्रीयता की धारा उत्स के रूप मे प्रकट होकर महानद के रूप मे फैल गयी। कवि ने न तो गाँधीवादी आदर्शों को ही पूर्ण रूप से स्वीकार किया और न मार्क्सवाद का मुखौटा ही पहना।

भावनाओं की तरह काव्य-शैली का पर्याप्त विकास दिनकर की कृतियो मे मिलता है। 'रेणुका' और 'हुंकार' की रचनाकाल का कवि 'उर्वशी' मे चित्रकल्पना, भाषा-सौन्दर्य और शब्द-चित्रो का शिल्पी भी बन गया है। निष्कर्षत उनकी साहित्यिक विकास-यात्रा मे श्री बेनीपुरीजी द्वारा प्रस्तुत श्रद्धांजलि ही पर्याप्त है—"कवि दिनकर का व्यक्तित्व वह इन्द्रधनुष है जिस पर अगारो की लालिमा और सौन्दर्य की पीली कोर चमकती है। कवि का सघर्षपूर्ण जीवन उनकी कृतियों में जैसे साकार हो उठा है, परन्तु वहीं भी कवि का व्यक्तित्व समष्टि पर हावी नहीं होता। अपने दर्दो और भावनाओं को दबाकर भी कवि देश और विश्व के लिए लिखता रहा। दिनकर हमारे सामने मात्र कवि के रूप मे नही युगचेता के रूप म दिखाई देते है। वे विष पीकर भी नीलकण्ठ बनकर देश की सेवा करत रह ह

नौकरी के काम मे उन्ह हमेशा इस सघर्ष से गुजरना पडता कि वे सरकारी नौकर होने के कारण मुक्त-कण्ठ से गा नही पाते। इस वेदना और कार्य के बोझ से उन्हें मधुमेह की बीमारी भी हो गई। आज भी वे इससे पीडित है।

दिनकर की साहित्यिक काव्यकृतियो का इतिहास देश की स्वतन्त्रता का इतिहास है। जो कही अतीत के माध्यम से और कही कवि के रोष और क्षोभ के स्वरो मे अभिव्यक्त हुआ है।

जब-जब देश का इतिहास पढा जायेगा उसकी चेतना के स्रोत के रूप मे दिनकर का नाम अवश्य लिया जायगा।

दिनकर के काव्य के विकास की विशेषताओ के सदर्भ मे यह कथन सत्य है कि कवि यहाँ राष्ट्रवाद का समर्थक बना रहा, वहा उसने युगीन साहित्यिक प्रचलित प्रणालिकाओ की उपेक्षा नही की। उसे प्रगति और प्रयोगवाद तथा नई कविता के

स्वर भी जहाँ-जहाँ रुचे उन्हें वह विकास-यात्रा मे सम्भागी बनाता गया। राष्ट्रीय कवि होने के साथ-साथ दिनकर-युग का समर्थ कलाकार भी है।

दिनकरजी के साहित्यिक विकास मे युद्ध, सौन्दर्य, प्रेम, काम-चेतना और काव्य-सिद्धान्तो के विषय मे जो दर्शन और विचार है वे उनके काव्यो को स्थायित्व प्रदान करते हैं और यही कारण है कि स्वतन्त्रता के पश्चात् जबकि अन्य राष्ट्रीय कवि भुला दिये गए, दिनकर उसी तरह याद किये जाते है। जैसा कि कवि ने स्वीकार किया है कि अभी उसके मन की रचना नहीं लिखी गई इससे ऐसी आशा बँधती है कि माँ सरस्वती के चरणो मे कवि कोई महान् पुष्प अर्पित करेगा।

चतुर्थ अध्याय
दिनकर : कृतित्व

द्वितीय खण्ड के तृतीय अध्याय मे कवि के इन्द्रधनुषी व्यक्तित्व से परिचय प्राप्त करने के पश्चात अब हम कवि द्वारा विविध विचारधाराओं मे अनुप्राणित एवं काव्य की विविध विधाओं मे लिखी गई काव्य-कृतियो का परिचय प्राप्त करेंगे।

कृतियो के वर्गीकरण के सम्बन्ध मे एक विचार यह भी था कि उन्हे राष्ट्रीय शृंगारिक, व्यंग्य आदि प्रवृत्तियो के आधार पर वर्गीकृत किया जाय। किन्तु, एक ही कृति मे एकाधिक प्रवृत्तियो के होने के कारण अन्ततोगत्वा यह उचित समझा गया कि दिनकर के काव्य-कृतित्व का वर्गीकरण प्रवृत्तियो के आधार पर न करके काव्य-रूपो के आधार पर ही किया जाय। कृतित्व के अवलोकन के लिए इसी पद्धति का अनुसरण किया गया है।

इस अध्याय मे 'रेणुका' से लेकर 'उर्वशी' तक की रचनाओं का परिचय प्रस्तुत किया गया है। कवि की राष्ट्रीय, सौन्दर्यपूर्ण, युग-बोध एव अनूदित रचनाओं को क्रमश मुक्तक, प्रबन्ध एव गीति-नाट्य ऐसे तीन विभागो में विभाजित करके उनका आलोचनात्मक परिचय प्रस्तुत किया गया है।

दिनकर को मुक्तक रचनाएँ

मुक्तक काव्य से सामान्यत उस काव्य-रूप का बोध होता है, जिसमे कथात्मक प्रबन्ध या विषयगत बहुत लम्बे निबन्धो की योजना नही होती। उसका सामान्य लक्षण अनिबद्धता ही है। मोटे तौर पर प्रबन्धहीन या स्फुट सभी पद्यबद्ध रचनाओ को मुक्तक काव्य के अन्तर्गत माना जाता है। मुक्तको के विभाव अनुभावादिक से पुष्ट रस-परिपाक इतना पूर्ण होता है कि पाठक को अपनी रस-तृप्ति के लिए पूर्वापर का सहारा नहीं ढूंढना पडता। मुक्तककार गीतकार की अपेक्षा अधिक जागरूक होता है और उसकी दृष्टि वस्तुपरक होती है। उक्ति विदग्धता एव चमत्कार की विशेषता भी स्वीकार की गई है। मुक्तक की सबसे बडी सफलता इस तथ्य पर निर्भर रहती है कि अर्थ की सक्षिप्तता, रस परिपाक अथवा अर्थ-सौरस्य के लिए वह बन्धन न बन जाये।

यूनानी साहित्य मे छन्दोबद्ध श्रव्य काव्य के दो भेद माने गए हैं—महाकाव्य (Epic) और दूसरा गीतिकाव्य (Lyric)। इसी तरह भारतीय साहित्य मे भी काव्य

के दो भेद मान्य है—एक प्रवन्ध और दूसरा मुक्तक। मुक्तक शब्द मे अंग्रेजी के लिरिक काव्य के भाव समाहित हो गए हैं।

इस सन्दर्भ मे भी हमने दिनकर की छन्दोबद्ध रचनाओ तथा प्रगीत काव्यो को मुक्तकों के अन्तर्गत ही रखा है।

दिनकर के प्रकाशित मुक्तक सग्रहो 'प्रणभग' अप्राप्य है, तथा 'सीपी और शख' तथा 'आत्मा की आँखें' अनूदित कविताओ के सग्रह है।

इन संग्रहो मे कवि के गीत, प्रगीत एव सक्षिप्त कवितायें सकलित है।

पत्र-पत्रिकाओं मे प्रकाशित स्फुट कवितायें भी विपुल सख्या मे समुपलब्ध होती हैं। अनेक आधुनिक युग-बोध से अनुप्राणित रचनायें अभी सकलन-रूप मे प्रकट नहीं हुई है।

दिनकर के मुक्तक काव्यो का परिचय कालानुक्रम से आगे प्रस्तुत है।

रेणुका

'रेणुका' दिनकर की राष्ट्रीय रचनाओं का प्रथम सग्रह है। कवि के यौवन का वेग अतीत का सम्बल लेकर वर्तमान के स्वप्न सजाने के लिए नवजागरण की प्रथम किरण-सा द्विधा-ग्रस्त लुक्ते-छिपत 'रेणुका' की कविताओ मे प्रकट होता है।

'रेणुका' का प्रथम प्रकाशन १६३५ मे हुआ था। दूसरे सस्करण मे से 'विरह योगिनी', 'सायचिता' एव 'शब्द-वेध' निकाल दी गई तथा ग्यारह नई कवितायें जोड़ दी गई है।

'रेणुका' की रचनाओं में जो विविध भाव-सम्वन्धी रचनायें मिलती हैं उन्हे छः भागो मे विभाजित किया जा सकता है।

(१) जागरण सम्वन्धी चेतना-पूर्ण राष्ट्रीय रचनाएँ।
(२) अतीत का गौरव-गान सम्बन्धी रचनाएँ।
(३) प्रकृति-चित्रण सम्बन्धी रचनाएँ।
(४) नारी, प्रेम और सौन्दर्य सम्वन्धी रचनाएँ।
(५) मिथिला की भूमि के प्रति प्रेम-सम्बन्धी रचनाएँ।
(६) निराशावादी रचनाएँ।

जागरण संबंधी चेतना-पूर्ण राष्ट्रीय रचनाएँ :

देश मे व्याप्त दमन और शोषण के उन्मूलन-हेतु कवि अपने क्राति के स्वरो द्वारा जागरण का सन्देश पहुँचाने लगा। 'रेणुका' की प्रथम कविता 'मंगल आह्वान' मे ही कवि शृंगी फूँककर सोते प्राणो को जगाना चाहता है जिससे सारी सृष्टि सिहर उठे।[1]

---

१. 'रेणुका' : पृ० ८, ९।

'ताण्डव' कविता में वह भगवान चन्द्रशेखर से देश में व्याप्त अत्याचार और आडम्बर के विनाश-हेतु ताण्डव नृत्य करने की प्रार्थना करता है।[1]

इसी प्रकार के भाव 'कस्मै देवाय' और और 'हिमालय' आदि काव्यों में मिलते हैं। जहाँ कवि देश के उद्धार के लिये क्रान्ति-कुमारी की आराधना करता हुआ दृष्टिगत होता है।

इस प्रकार वे गीतों में कवि ध्वंसात्मक पद्धति को ही स्वीकार करता है। इसीलिए उसे युधिष्ठिर से अधिक अर्जुन और भीम की चाह है।

अतीत का गौरव-गान-सम्बन्धी रचनाएँ :

'रेणुका' में राष्ट्रीय जागरण से अधिक अतीत का चित्रण हुआ है। कवि वर्तमान की चित्रपटी पर अतीत के चित्र बनाकर स्मृतियों में खो जाना चाहता है और कहीं वर्तमान दशा की हीनावस्था की अतीत की उज्ज्वल अवस्था से तुलना कर, क्षोभ और निराशा का अनुभव करने लगता है।

'हिमालय' कविता में कवि अतीत के महापुरुष राम, कृष्ण, भीम, युधिष्ठिर, गौतम, महावीर, अशोक, चन्द्रगुप्त, समुद्रगुप्त, राणा प्रताप आदि का स्मरण करता है और अवशेषों के रूप में नालन्दा, पाटलीपुत्र, वैशाली, कपिलवस्तु आदि स्थानों का स्मरण करता है।[2] गण्डकी और गंगा की हर लहर उसे स्मृति की धारा में बहा ले जाती है।

'समाधि के प्रदीप से', 'वैभव की समाधि', 'मिथिला', 'पाटलीपुत्र की गंगा', आदि कविताओं में कवि देश के *उज्ज्वल अतीत को ही पुनः पुनः स्मरण कर* उसे चित्रित करता है। सचमुच कवि ने अतीत और वर्तमान को अंकित करके देश के गौरव को वाणी दी है।[3]

प्रकृति का विभा चित्रांकन :

'रेणुका' में राष्ट्रीय और अतीत रचनाओं के उपरान्त प्रकृति-विभा से सजी हुई छायावाद के सौन्दर्य से अनुप्राणित रचनायें भी उपलब्ध हैं। भले ही कवि छायावाद की दुरूहता को अपनाने से हिचकिचाता रहा हो परन्तु उसके सौन्दर्य को उसने स्वीकार किया। छायावाद की परिकल्पना और रहस्य-तथ्यों का समावेश कुछ रचनाओं में होता है। कवि की इन रचनाओं की एक विशिष्टता यह है कि प्रकृति-वर्णन में भी कवि देश की दशा को भूला नहीं है। गंगा की लहरों की शीतलता उसमें प्रसन्नता के साथ-साथ अतीत की स्मृति भी जगाती है। *'निर्झरणी', 'मिथिला में*

---

१. वही (ताण्डव) · पृ० : २-३।
२. रेणुका (*हिमालय*) पृ० ८
३. डॉ॰ रामकुमार वर्मा दिनकर सृष्टि और दृष्टि से उधृत।

शरद,' 'अमामंध्या' और 'फूल' प्रकृति से सम्बन्धित रचनायें हैं। 'निर्भरणी' काव्य में कवि यह कहकर—

"मृदुचांदनी बीच थी खेल रही"
वन-फूलो में शून्य में इन्द्र-परी।
कविता वन शैल महाकवि के,
ऊर से मैं तभी अनजान झरी ॥[1]

इस 'अनजान झरी' से ऐसा अनुभव होता है कि कवि अपने इस कथन को सिद्ध करना चाहता है कि प्रकृति से वह सौन्दर्य का कवि और परिस्थितियों से वह राष्ट्रीय बन गया। राष्ट्रीयता जैसे उसने अपनाई है और सौन्दर्य जैसे उसमें झर उठा है। प्राकृतिक कविताओ में दिये गए उपमान कवि को रूमानी बना देते है।

'कोयल' काव्य में कवि उषा-सौन्दर्य का साकार रूप प्रस्तुत करता है।[2]

कवि को वन-कन्या को देखकर कभी शकुन्तला की याद आती है तो कभी 'अमा' में नायिका के पाँव में बधी हुई पायल की रुनझुन का स्वर सुनाई देता है।

'कलातीर्थ' काव्य का आरम्भ ही कवि प्रकृति-वर्णन से करता है एव 'अतीत के गुणगान' में भी कवि का प्रकृति-प्रेम निखरता है।

नारी-प्रेम-सौन्दय सम्बन्धी रचनाएँ :

नारी के प्रति कवि का दृष्टिकोण सहानुभूतिपूर्ण रहा है। 'राजा-रानी' काव्य में नारी की विवशता और त्याग का बड़ा ही मनोहर चित्रण प्रस्तुत किया है। नारी जोहर की ज्वाला है। वह अभिशापो को भी वरदान समझ कर सत लेती है।[3]

ये पक्तियाँ मैथिलीशरण गुप्त की "अवला जीवन तुम्हारी हाय यही कहानी आँचल में है दूध और आँखों में पानी" तथा प्रसाद के "आँसू के भीगे अँचल पर मन का सब कुछ रखना होगा, तुमको अपनी स्मृतिरेखा से, यह मधि-पत्र लिखना होगा" की याद दिलाती है।

'विधवा' काव्य में कवि ने विधवा का करुण चित्र प्रस्तुत करते हुए समाज के प्रति व्यग कसा है। नारी, सौन्दर्य और प्रेम का अवलम्बन है। प्रेम का सौदा तो स्वत्व देकर ही होता है। कवि प्रेम के सम्बन्ध में कबीर से अधिक प्रभावित लगता है। कबीर की तरह प्रेम को सिर हथेली पर लेकर चलने का सौदा मानते हैं। नारी उनके लिए व्योम-कुजो की परी और सुन्दरता की मूर्ति है। कवि के काव्यो में नारी, प्रेम और सौन्दर्य का सम्मिश्रण मिलता है। वह प्रकृति के विविध रूपो में इनकी छटा निहारता है।

---

१. 'रेणुका' (निर्झरिणी) : पृ० ४५।
२. वही (कोयल) : पृ० ४७।
३. वही (राजा-रानी) : पृ० ४३।

मिथिला भूमि के प्रति प्रेम :

'रेणुका' में कवि बिहार-भूमि मिथिला से विशेष प्रभावित लगता है। पर 'मिथिला' और 'मिथिला में शरद' दोनों में उसके अतीत और सौन्दर्य से प्रभावित है। 'मिथिला तो जैसे उसे साकार नायिका सी लगती है जो प्रकृति के आभूषणों से सजी हुई है। कवि अपनी जन्मभूमि के प्रति आसक्ति व्यक्त करता है जो विद्यापति के गीतों में आज भी गूंजती है।

निराशावादी रचनाएँ

'रेणुका' में कवि की निराशा और रुदन पर्याप्त मात्रा में बिखरा है। सावित्री सिन्हा उसका कारण उनका साधु-मतों के चक्कर में पड़ना बताती है। परन्तु इस निराशा का कारण तो यह लगता है कि देश जब अत्याचारों का प्रतिकार नहीं कर पा रहा था तब देश में छाई हुई निराशा को उसके काव्य में वाणी मिली है। और कवि की सरकारी नौकरी में जो विवशता थी उसकी भी प्रतिच्छाया दिखाई देती है।[1]

'परदेशी', 'मनुष्य', 'उत्तर में', 'जीवन-संगीत', 'सुन्दरता और काल', 'समाधि के प्रदीप से' तथा 'वैभव की समाधि पर' रचनाओं में वैयक्तिक निराशा के स्वर सुनाई पड़ते हैं। कवि हर सृजन के बीच संहार निहारता है। कवि नश्वरता को देख संसार की क्षण-भंगुरता में जैसे विश्वास सा करता हुआ लगता है। माता, पिता, पुत्र, रूप, राशि सभी में उसे नश्वरता दिखाई देती है। कंचन और कामिनी के प्रति उनकी अनास्था 'जीवन-संगीत' काव्य में व्यक्त होती है। इस प्रकार निराशा और अनित्यता के स्वर प्राय प्रत्येक कविता में झांकते हुए नजर आते है।

अन्य :

कवि और कविता सम्बन्धी विचार 'कविता की पुकार', *'गा रही कविता युगों से मुग्ध हो', 'गीत वासिनी', कवि' और और 'कलातीर्थ' कविताओं में व्यक्त* हुए है। कविता वाणी का विलास नहीं, बल्कि प्रेरणा और जागृति का प्रतीक है। वह युग की यथार्थ वाणी है अत छायावादी राजवाटिका से कवि यथार्थ की धरती गाँव के वन फूलों की ओर ले जाता है। 'कविता की पुकार' कवि की भावनाओं को व्यक्त करती है।

'बोधिसत्व,' 'कस्मै देवाय' और 'बागी' तीनों कवितायें तत्कालीन राजनीति का चित्र प्रस्तुत करती हैं। गांधीजी के अछूतोद्धार का कवि ने समर्थन किया है। वह उनके उद्धार के लिये गौतम को पुकारता है।

'बागी' कविता बोरस्टल जेल के शहीद यतीन्द्रनाथ दास की मृत्यु के समय श्रद्धांजलि के रूप मे लिखी गई कविता है।

---

१. रेणुका, (मंगल आह्वान) : पृ० ४।

'समग्र 'रेणुका' के अध्ययन से कवि की प्रथम कृति के विषय में हरप्रसाद शास्त्री का यह कथन बड़ा ही सुसंगत लगता है—"कवि की प्रथम कृति होने के कारण 'रेणुका' मे विचारों के द्वैधी भाव और द्वन्द्वपूर्ण मनस्थिति की रचनायें है। उसमे कही पौरुष का उद्दाम और उच्छल आवेग है, तो कही सुकुमार, कोमल, अनुभूतियों की रूमानी पेशलता।"[1]

यद्यपि 'रेणुका' मे विचारों का तारतम्य नही है और न रचनाएँ ही काल-क्रम से प्रस्तुत की गई है, परन्तु दिनकर के पौरुष की चिनगारी जिस ऊष्णता से बिखरी है वह सराहनीय है। 'रेणुका' मे कवि की भावनाओ के वे सभी बीज मिलते है जो उनकी परवर्ती रचनाओ मे विशाल वृक्ष की तरह पनपे। कवि इस तथ्य को कभी नही भूला कि उसे देश मे नवजागरण पैदा करना है।

शृंगी फूंकने वाला कवि कभी खण्डरों में आंसू बहाता दृष्टिगत होता है और कहीं निराशा मे डूबकर मौत की सर्वोपरिता को स्वीकार करता है। श्री प्रकाशचन्द्र गुप्त ने कवि के करुण-क्रन्दन मे विस्यूवियम ऊष्णता ही निहारी है—

"दिनकर का काव्य किसी जीवितविस्यू वियस का तरल, ऊष्ण लावा है।"[2]

हुँकार

'हुँकार' कवि की राष्ट्रीय रचनाओं का दूसरा संग्रह है, जिसका प्रकाशन १६३८ मे हुआ था। दिनकरजी को सुयश इसी से प्राप्त हुआ, जैसा कि उन्होंने स्वयं स्वीकार किया है। कृति मे 'रेणुका' की राष्ट्रीयता प्रौढ़ होती दिखाई देती है। 'हुंकार' की भूमिका में रामवृक्ष बेनीपुर ने लिखा है—"हमारे क्रांति युग का सम्पूर्ण प्रतिनिधित्व कविता में इस समय 'दिनकर' कर रहा है। क्रांतिवादी को जिन-जिन हृदय मंथनो से गुजरना होता है, दिनकर की कविता उनकी सच्ची तस्वीर रखती है।"[3]

'हुंकार' के आमुख से ऐसा पता चलता है कि कवि अतीत के सुनहले सपनों को छोड़कर वर्तमान के संघर्ष मे भाग लेना चाहते हैं। 'रेणुका' मे क्रांति की जो चिनगारिया धीरे-धीरे सुलग रही थी, वे अब प्रज्ज्वलित अग्नि का रूप धारण कर रही थी। 'रण की घड़ी जलन की वेला' मे क्रांति का कवि शात कैसे बैठता? वह तो विप्लवी की तरह अपने हुंकार को सुनाता है।

'हुंकार' मे विशिष्ट स्थान क्रांति को मूर्त-रूप देने वाली रचनाओं को ही मिला है, परन्तु राष्ट्रीय रचनाओ के उपरान्त कवि द्वन्द्व और विचारों को तथा सम-सामयिक परिस्थितियों को प्रस्तुत करने वाली रचनायें भी है।

१. दिनकर : सं० सावित्री सिन्हा (रेणुका : हरप्रसाद शास्त्री) : पृ० ३६।
२. नया हिन्दी साहित्य-एक भूमिका, प्रकाशचन्द्र गुप्त : पृ० १६०-१६१।
३. 'हुंकार' की भूमिका : रामवृक्ष बेनीपुरी : पृ० २।

(अ) क्रांतिपूर्ण रचनायें।
(ब) द्वन्द्वमूलक रचनायें।
(क) सम-सामयिक रचनाएँ।

क्रांतिपूर्ण रचनाएँ :

हुंकार की ओजस्वी रचनाओं में कवि की बेबसी ही मात्र प्रकट नहीं होती परन्तु यश की वेदी में वह अपना हविश चढ़ाने के लिए निकल पड़ता है।[1]

'हुंकार' का कवि युवकों के उबलते हुए खून को स्वर देता है और विद्रोह के गीत गाकर तूफान का आह्वान करता है। कवि अन्याय और अत्याचार के विरोध में सृष्टि को ही नहीं, स्वर्ग तक को जला देने के लिए एवं लूटने के लिए प्रस्तुत दिखाई देता है। 'हुंकार' में कवि का ज्योतिर्धर रूप प्रकट हुआ है।[2]

इस संग्रह की 'आलोक धन्वा' 'दिगम्बरि' एवं 'विपथगा' क्रांति और विध्वंस के भावों को अभिव्यक्त करने वाली रचनाएँ हैं। 'स्वर्ग दहन', 'चाह एक', 'भीख,' 'प्रणति', *'व्यक्ति' आदि रचनाओं में भी क्रांति के स्वर ही मुखरित हैं।' कवि भीख* भी माँगता है तो दहन की, जो अत्याचारों को जला सके। वह प्रणाम भी करता है तो देश के लिए शहीद होने वाले वीरों को।

संक्षिप्त में कहें तो क्रांति का जन्म आर्थिक, राजनीतिक और सामाजिक असन्तुलन होने पर होता है। कवि की आस्था है कि इन दूषणों का निवारण क्रांति से ही हो सकता है।

द्वन्द्वमूलक रचनाएँ :

कृति की कुछ रचनाएँ कवि के मानसिक द्वन्द्व को व्यक्त करती हैं। 'असमय आह्वान', 'वसंत के नाम पर' तथा 'साधना और द्विधा' ऐसी ही रचनाएँ हैं जिनमें *कवि के मन का द्वन्द्व अभिव्यक्त हुआ है।*

'हुंकार' का कवि 'रेणुका' के कवि की भाँति उलझा न रहकर अपनी द्विधा का अन्त करता दिखाई देता है।

> "फेंकता हूँ लो तोड़-मरोड़, अरी निष्ठुरे बीन के तार,
> उठा चाँदी का उज्ज्वल शंख, फूँकता हूँ भैरव हुंकार।"[3]

'वसन्त के नाम पर' काव्यों में भी कवि की यह दुविधा व्यक्त होती है कि वह गुलाम देश में वसंत के गीत कैसे गाये। द्वन्द्व-पूर्ण इन रचनाओं में कवि का संघर्ष, सौन्दर्य और कर्तव्य के बीच विशेष रूप से व्यक्त होता है। कवि की वैयक्तिक *मजबूरियों का भी उल्लेख मिलता है।*

---

१. हुंकार : पृ० २।
२. 'हुंकार' (आलोकधन्वा) : पृ० १४।
३. वही (असमय आह्वान) : पृ० १०।

द्वन्द्वात्मक कविताओं के उपरान्त इस संग्रह में विचारात्मक कवितायें भी मिलती हैं। 'कल्पना की दिशा' के यशोन्मुखी और 'महामानव की खोज' ऐसे ही विचारात्मक खण्ड हैं। कवि के युद्ध और क्रांति के विचार व्यक्त होते हैं। विशिष्ट रूप से गाँधीजी की नीति की निष्फलता और कमजोरी के विरुद्ध कवि उस मानव की कल्पना करता है जिसके एक हाथ में अमृत-कलश और धर्म-ध्वजा हो जो झंझा सा बलवान् और काल-सा क्रोधी भी हो, अचल-सा धीर होते हुए जो निर्भर-सा प्रगतिशील हो।

कुछ आलोचक कवि की इस झंझा और क्रोध मे हिटलर और मुसोलिनी का समर्थक पाते हैं, परन्तु गुलामी के बन्धन काटने के लिए हिटलर या मुसोलिनी की जगह देश के नवजवान के दर्शन करना ही यथार्थ है।

सम-सामयिक रचनाएँ :

हुंकार में संग्रहित रचनाओं मे कवि ने तत्कालीन विषम परिस्थितियों का चित्रांकन किया है। देश की भूख, गरीबी और शोषण को कवि ने वाणी दी है। कवि को शान्ति की वह नीति कभी पसन्द नही है जो दूसरो की गर्दन काटने वाली हो।[१]

देश के नौनिहालों को दूध के बिना तडपता देखकर वह भगवान को भी खरी-खरी सुनाता है और प्रार्थना भी करता है। अन्त में स्वर्ग को लूट लेने की चेतावनी भी देता है। कवि ने सामाजिक असमानता का बड़े ही सुन्दर ढग से प्रस्तुतीकरण किया है।

'मेघ-रन्ध्र में बजी रागिनी' कविता मे अबीसिनिया पर इटली के आक्रमण के प्रति कवि का क्रोध दिखाई देता है। 'दिल्ली' काव्य में कवि ने दिल्ली पर कटु व्यंग और भला-बुरा कहकर देश की असमानता को ही व्यक्त किया है। 'तकदीर का बट-वारा' काव्य मे कवि ने तत्कालीन हिन्दू-मुस्लिम कौमी दगो को लक्ष्य करके दोनों कौमों को धिक्कारते हुए पहले गुलामी से मुक्त होने की सीख दी है। 'भविष्य की आहट' कविता में कवि ने विराट एशिया की स्वतन्त्रता और एकता की कल्पना व्यक्त की है।[२]

कवि 'कविता का हठ' द्वारा ग्राम्य-जीवन के महत्त्व को व्यक्त करता है। गाँव को ही स्वर्ग बनाना जैसे उसका ध्येय है।

'हुंकार' मे कई आलोचको ने कवि का उग्र-क्रोध देखते हुए उसमे मात्र विध्वंस का रूप निहारा है, निर्माण का अभाव उन्हे दिखाई दिया। परन्तु तत्कालीन परि-स्थितियो के सन्दर्भ मे देखने पर मुझे तो ऐसा आभास होता है कि देश को स्वतन्त्र करने के लिए क्रान्ति और बलिदान ही आवश्यक तत्व थे।

'हुंकार' का कवि दलित-वर्ग और शोषको का वकील बनकर जैसे चेतावनी देता है कि यह दलित वर्ग अब उठेगा और सम्पूर्ण शोषण और शोषकों को भस्म कर देगा।

१ 'हुंकार' (हाहाकार) : पृ० २१।
२. हुंकार (भविष्य की आहट) : पृ० ७७।

यद्यपि कवि ने क्रान्ति को साधन के रूप में अपनाया तथापि उसका साध्य तो लोक-मंगल की भावना ही रहा है। क्रांति और लोक-मंगल की भावनाएँ 'हुंकार' की आत्मा बन गई हैं, जो कवि की राष्ट्रीयता की परिचायक भावनाएँ हैं।

'हुंकार' की रचना जैसे छायावाद की कुहेलिका और स्वैर विहार से बाहर निकालने वाली क्रान्तिकारी रचना थी। श्री विश्वनाथजी ने 'हुंकार' को कवि का उदयकालीन विस्फोट मानते हुए लिखा है—"दिनकर के उदयकालीन विस्फोट को ही हम 'हुंकार' के नाम से जानते हैं, जिसके मन्त्र-घोष ने छायावाद की राग का वंशी-वादन बन्द करके छोड़ा।"[1]

रसवन्ती

'रसवन्ती' दिनकर की सौन्दर्य, प्रेम और शृंगारिक भावनाओं को व्यक्त करने वाली कृति है जिसका प्रकाशन १९३९ में हुआ था। 'रसवन्ती' के प्रकाशन के पश्चात् कवि का क्रान्ति से सौन्दर्य की ओर एकाएक मोड़ देख कर अनेक आलोचकों ने कवि को पलायनवादी मान लिया। परन्तु यह मात्र आरोप है। कवि जिन दिनों 'रेणुका' और 'हुंकार' के क्रांति के गीत गा रहा था—उसकी सौन्दर्य-भावना 'रसवन्ती' की पृष्ठभूमि तैयार कर रही थी और द्वन्द्व का धुंआ भी उसे घेरे हुए था। कवि के व्यक्तित्व की यह विशेषता थी कि द्वन्द्वगीत का धुंआ, हुंकार की आग और 'रसवन्ती' का रस उनके हृदय में एक साथ विद्यमान रहे हैं। 'रसवन्ती' में कवि की वैयक्तिक सौन्दर्य-भावनाओं को ही प्रश्रय मिला है। वह स्वयं स्वीकार करता है कि—"संस्कारों से मैं कला के सामाजिक पक्ष का प्रेमी अवश्य बन गया था, किन्तु मन मेरा तब भी चाहता था कि गर्जन-तर्जन से दूर रहूँ और केवल ऐसी ही कविताएँ लिखूँ जिनमें कोमलता और कल्पना का उभार हो। यही कारण था कि जिन दिनों 'हुंकार' की कविताएँ लिखी जा रही थीं, उन्हीं दिनों मैं 'रसवन्ती' और 'द्वन्द्व गीत' की भी रचना कर रहा था और अजब संयोग की बात थी सन् १९३६-४० में ही ये तीनों पुस्तकें एक वर्ष के भीतर-भीतर प्रकाशित हो गयीं। और सुयश तो मुझे 'हुंकार' से ही मिला, किन्तु आत्मा मेरी अब भी 'रसवन्ती' में बसती है।"[2]

कवि ने 'रसवन्ती' की भूमिका में यह स्वीकार भी किया है, "रेणुका और 'हुंकार' के विपरीत 'रसवन्ती' की रचना निरुद्देश्य प्रसन्नता से हुई है और इसमें किसी निश्चित संदेश का अभाव-सा है। इन गीतों में मैं अपने हाथ से छूट सा गया हूँ और प्रायः अकर्मण्य आलसी की भाँति उस प्रगल्भ अप्सरी के पीछे-पीछे भटकता फिरा हूँ जिसे कल्पना कहते हैं।"[3]

---

१. दिनकर : स० सावित्री सिन्हा (हुंकार : विश्वनाथ सिंह) : पृ० ४१।
२. 'चक्रवाल' (भूमिका) : पृ० ३३।
३. 'रसवन्ती' (भूमिका) : पृ० १।

'रसवन्ती' की कविताओं मे निम्नलिखित भाव प्रकट होते है। (१) श्रृंगार-चेतना (२) नारी-भावना (३) विचारात्मक रहस्य-सूचक (४) विभिन्न विषयक।

श्रृंगार चेतना :

श्रृंगार चेतना के अन्तर्गत कवि के रसिक स्वभाव एव प्रकृति के प्रति आसक्ति व्यक्त हुई है। 'रसवंती' में व्यक्त श्रृंगार-भाव कवि की रसिकता और काम भावनाओं से प्रभावित है जिनमें स्वाभाविक सौन्दर्य-भावनाएँ ही सीधे, सरल-तरल भावों में व्यक्त हुई है। सच तो यह है कि दिनकर के यौवन का क्रातिकारी रूप अगर रेणुका, हुंकार मे व्यक्त हुआ है तो यौवन की रसिकता और कवि-सौन्दर्य-भावना रसवंती मे व्यक्त हुई हैं।

रसवंती मे गीत-अगीत, प्रीति, दाह की कोयल, अगरू-धूम, रास की मुरली, पावस गीत, सावन मे, प्रतीक्षा और शेष गान मुख्य श्रृंगार पूर्ण रचनाएँ है, जिनमे कवि के कोमल भावो की प्रतिच्छाया को अभिव्यक्ति मिली हं। 'गीत अगीत' मे मौन और मुखरित प्यार को अभिव्यक्ति देकर कवि ने मौन और त्यागमयी प्रेम को ही श्रेष्ठता प्रदान की है।

श्रृंगार रस को उद्दीप्त करने वाली प्रकृति प्रायः सभी गीतों मे चित्रित हुई है। कवि की प्रकृति सवेदनशील रही है।

प्रेम और श्रृंगार के सभी गीतो मे कवि का प्रेम दूज के चाँद की तरह प्रगतिशील रहा है। प्रायः सभी कवितओ मे श्रृंगार का अभिव्यक्तिकरण कोमल, मधुर और सात्विक भावो से पूर्ण है। 'दाह की कोयल' कविता में वियोग का नया रूप ही अंकित है। कवि की सात्विक भावनाओं के साथ साहित्यक अनुभावों का चित्रण भी दृष्टव्य है—

"मुंद गई पलकें, खुले जब कान, सज गया हरियालियो का ध्यान।
मुंद गई पलकें कि जागी पीर, पीर, बिछुडी चीज़ की तस्वीर।"[1]

'अगर-धूम' जैसे श्रृंगारी काव्यो मे कवि ने ऐन्द्रिक वासनाविहीन प्रेम का वर्णन किया है। यह प्रेम श्रृंगार की अपेक्षा भक्ति और श्रद्धा के अधिक निकट है। प्रेमिका यहाँ प्रेयसी कम रक्षणीया ही अधिक बन गई है। ऐसे चित्रणो मे कवि आदर्शवादी विशेष लगता है।' 'रास की मुरली' मे कवि रास-प्रसंग के माध्यम से श्रृंगार की विविध स्थितियो का चित्रण करता है। कविता में कवि श्रृगार-परक उद्दीपक वातावरण को प्रकृति के माध्यम से व्यक्त करता है। सम्पूर्ण काव्य में काम-स्थितियों, प्रतीक्षा की अधीरता, प्रेम की पीर, यौवन का अल्हड़पन आदि भाव सुन्दरता के साथ व्यक्त किये हैं। कवि अंत मे बांसुरी और कंकण को एकाकार कर एकात्म संबंध को प्रस्तुत करते हैं। इसी प्रकार अन्य सौन्दर्य-प्रधान काव्यों में कवि की ऐसी ही भावनाएँ

१. रसवंती प्र० सं० (दाह की कोयल) : पृ० १३।

स्पष्ट हैं। कवि कहीं साधारण प्रेमियों की भाँति आहें भरता है तो कहीं आलौकिक प्रेमी की भाँति एकाकार की भावनाओं मे खो जाता है।

नारी भावना :

'रसवंती' मे नारी को लेकर तीन कविताएँ मुख्य हैं वैसे शृंगार और प्रेम का माध्यम तो वह सर्वत्र ही है। कवि ने नारी का चित्रांकन रक्षणीया माता लजवंती प्रणयिनी प्रेमिका, ग्राम वधु का कवि मानस मे उद्भूत काल्पनिका और तितली-सी थिरकने वाली आधुनिका के रूप मे किया है।

नारी कोमलांगी तो है ही—मादक भावना भी है। अनादिकाल से पुरुष नारी के प्रति आर्कापित रहा है उसे प्रकृति के अलंकरणो से सुसज्जित कर अपने मानस मे स्थापित किए रहा है। नारी का कामोत्तेजक रूप और मातृत्व से परिपूर्ण पूज्य रूप कवि ने प्रस्तुत किया है। नारी का द्वैत रूप शिवबालक राय के शब्दो मे देखिये—"इस अनादि शक्ति मे मादन और सम्मोहन की मदिरा है, सृजन और पालन का क्षीर है और विनाश एव सहार का हलाहल भी है।"[1] 'नारी' और पुरुष-प्रिया आदि कविताओ मे नारी के इन रूपो का सुन्दर चित्रण प्रस्तुत हुआ है। कवि ने नारी के विविध रूपों मे सर्वाधिक महत्ता मातृत्व को प्रदान की है। आधुनिका के प्रति उनकी भर्त्सना ही अभिव्यक्त हुई है। कवि ऐसी तितली को बार-बार चेतावनी देना चाहता है।

विचारात्मक रहस्य सूचक रचनाएं :

रसवंती मे तीसरे प्रकार की वे रचनाएँ हैं जो कवि की रहस्य भावनाओ को व्यक्त करती है। कवि आध्यात्मिक आस्था मे मग्न दिखाई देता है। 'रास की मुरली', मरण, समय, प्रभावी, अजेय की ओर, रहस्य और शेषगान कविताओ मे आत्म-रस की अनुभूति बिखरी पड़ी है। कवि 'मरण' का महत्व बार-बार समझाता है। कवि जैसे महात्मा की भांति इसी जीवन को श्रेष्ठ मानता है जो तत्वदर्शी होकर मृत्यु की विभीषिका को जीत लेता है। कवि यह विश्वास करता है कि भक्त और भगवान एक ही है। उनमे पार्थक्य नहीं। कवि कहीं-कहीं निर्गुणवादियो के रहस्य से प्रभावित दिखाई देता है।

अन्य :

अन्य विचारात्मक रचनाओं मे 'कत्तिन का गीत', कवि कालिदास और अजेय की ओर मुख्य हैं।

'कत्तिन का गीत' मे कवि गांधी के स्वदेशी आदोलन से प्रभावित है। इसमे राष्ट्रीय स्वर प्रधान है।

---

१. दिनकर : शिवबालक राय : पृ० ५.१८३।

'कवि' नामक कविता मे वे कवि के व्यक्तित्व और गुणों की चर्चा करते हैं।

समग्र रसवंती के साररूप यह कहना योग्य ही है कि रसवंती का कवि तट पर खड़ा होकर मन नही बहलाता वह लहरों को छोड़कर आनंद की अनुभूति करता है। रसवंती में सरस भावों की रसधारा अव्याहत रूप मे प्रवाहित हुई है ।

रसवंती का कवि भावुक अवश्य है परन्तु उस पर विवेक का अंकुश तो है ही। रसवंती मे कवि का प्रतिपाद्य शृंगार ही है परन्तु 'कत्तिन का गीत' आदि रचनाओ मे राष्ट्रीय तत्वो की प्रधानता इस तथ्य की पोषक हैं कि शृंगार की अभिव्यक्ति के समय भी कवि राष्ट्रीयता को विस्मृत नही कर सका।

'रेणुका' और 'हुंकार मे भवन निर्माण को ही लक्ष्य मानने वाला कवि 'रसवंती' मे पच्चीकार के रूप मे भी दिखाई देता है। भाषा सौष्ठव और अभिव्यंजना का चमत्कार आदि से अंत तक पाठकों को मुग्ध बनाता है। कृति मे शृङ्गार और करुणा का सम्मिश्रण है। कवि उपमा, रूपक अनुप्रासो का खुलकर प्रयोग करता दिखाई देता है। रसवती मे प्रसाद गुण की प्रधानता है।

द्वन्द्वगीत :

द्वन्द्व-गीत दिनकर की स्फुट कविताओं (रुबाइयो) का वह संग्रह है जिसमें १६३२ से १६३६ तक के पद है। इसका प्रथम प्रकाशन १६३६ मे हुआ था। कवि के शब्दो में कहा जाए तो—"द्वन्द्व-गीत के पदो का आरंभ उन दिनों हुआ था, जब कविता की गर्मी मेरी धमनियो मे पहले-पहल महसूस होने लगी थी और मैं आग की पहली लपट के बहुत करीब था।[1]

कवि ने इस रचना मे 'रेणुका' से रसवंती' तक की अनेक अनुभूतियो का आम व्यक्तीकरण किया है। मानव सदैव सुखाकांक्षी रहा है। वह अन्तर का बहिर के साथ तादात्म्य स्थापित करने के लिए सतत प्रयत्नशील रहता है। वह इस प्रयत्न में अनेक द्वन्द्वों से गुजरता है।

दिनकर का 'कवि' वैसे तो 'रेणुका' मे ही द्वन्द्व और रुदन के बीच दिखाई देता है परन्तु उसमें निराशा है जब कि 'द्वन्द्व-गीत' के कवि की कुंठा और निराशा मात्र दिवास्वप्न नही हैं। द्वन्द्व-गीत के कवि को जीवन के मार्ग पर अग्रसर होते समय संघर्ष नैराश्यपूर्ण अवश्य बना देते हैं परन्तु वे क्षणिक ही सिद्ध होते हैं।

'द्वन्द्व गीत' मे हमें कवि का 'अन्तर्जगत और बाह्य जगत्' सुख-दुःख तथा 'आस्था और अनास्था' का द्वन्द्व दिखाई देता है।

[1]. द्वन्द्व-गीत (इतिहास) : पृ० ३।

मानव मन के अहं की कभी सतुष्टि नहीं हो पाती और वह उसके कारणों की छानबीन में द्वन्द्व का अनुभव करने लगता है। उसे सर्वत्र निराशा की छाया दिखाई देने लगती है।[1]

रसवंती की रागमयी सृष्टि के समर्थक का हृदय यहाँ मृत्यु से भयभीत और घबराया हुआ है। चिता की आग के भय से वह प्रेयसि के चुम्बनों से वंचित रह जाता है। कवि सौन्दर्य की ओर आकर्षित अवश्य है परन्तु नश्वरता का भय उसे सदैव लगा रहता है जिससे वह सौंदर्य पान से वंचित रह जाता है।

द्वन्द्व-गीत के अन्तर्गत कुछ ऐसे भी पद हैं जिनमें कवि सौन्दर्य और सुकुमारता के समक्ष पाप-पुण्य, मर्यादा-अमर्यादा, और लोक-परलोक तक को भूलकर मादकता में खो जाना चाहता है। जीवन का रस ग्रहण करने के लिए वह आतुर दिखाई देता है। सत्यता तो यह है कि राग और वैराग्य में राग की ही विजय हुई है।

द्वन्द्व-गीत का कवि आस्था और अनास्था अर्थात् कर्म और पलायन के बीच द्वन्द्व का अनुभव करता है। कवि को सर्वत्र विषाद ही दिखाई देता है और उसी में वह अपने हाहाकार को एकाकार कर देता है। कवि बार-बार थकन का, निराशा का अनुभव करता है। वह कर्म से पलायन का विशेष समर्थन करता दृष्टिगत होता है। उसमें उत्साह के स्थान पर शैथिल्य है। परन्तु यत्र-तत्र कवि का उत्साह मृत्यु पर जीवन की विजय, नाश या निर्माण का सेतु निर्मित करता है—

"पीले विष का घूंट बहक-तब मजा सुरा पीने का है,
तन पर बिजली का वार सहे, तब गर्व नए सीने का है।"[2]

कवि का द्वन्द्व जीवनगत आस्था-अनास्था तथा ईश्वर गान-आस्था-अनास्था के सबंधों में भी मिलता है। इस द्वन्द्वात्मक भावना में कवि की रहस्यात्मक भावनाएँ ही प्रकट हुई है। कवि को कहीं अपने जीवन और शक्तियों पर विश्वास है तो कहीं क्षुद्रता के कारण संपूर्ण निराशा है।

द्वन्द्व-गीत में कवि के विविध विचार प्रकट हुए हैं। कवि का स्वर तो सर्वत्र द्वन्द्वात्मक है परन्तु उसकी ध्वनि में सर्वत्र परपीड़ा के प्रति द्रवित होना ही मुखरित हुआ है।

कवि का द्वन्द्व जैसा कि प्रारंभ में कहा गया है स्थाई नहीं—वह अनास्था में आस्था और पलायन में भी कर्म की ओर मुड़ता है। 'द्वन्द्व-गीत' का द्वन्द्व उसकी परवर्ती रचनाओं में दूर हो गए और कवि की स्थिर मान्यताएँ ही व्यक्त हुई।

लगता है कवि के भाव अनायास मुखरित हो-होकर छंदों में गुथते गये हैं जिनमें भाषा का द्वन्द्व नहीं। हिन्दी के साथ उर्दू के शब्दों को वह अपनाता गया है।

१. द्वन्द्व-गीत (पद १२)।
२. वही (पद ६८) : पृ० ४७।

क्रांति की सफलता पर अपना मत व्यक्त करते हुए शिवबालक राय लिखते हैं—'जो कुछ हो' दिनकर की यह कृति प्रसाद, प्रवाह और मूर्च्छना के कारण पाठकों में सदा लोकप्रिय रहेगी।"[1]

सामधेनी

'सामधेनी' का प्रकाशन सन् १९४६ में हुआ था। सन् १९४१ से १९४६ तक की 'हुँकारावलि' इसमें गूँजती सुनाई देती है। सन् १९४२ से १९४६ तक का काल देश में क्रांति का काल रहा है। समग्र देश का प्रतिशोध और प्रतिहिंसा का स्वर इसमें व्यक्त हुआ है। इस कृति का मूल-स्वर क्रान्ति ही है। कवि ने 'कलिंग-विजय' काव्य में शान्ति का समर्थन अवश्य किया परन्तु शान्ति का समर्थन द्वितीय विश्व-युद्ध के पश्चात् भयंकर विनाश के फलस्वरूप ही व्यक्त हुआ है।

क्रांति की भावना :

कवि पुरोधा बनकर क्रांति-यज्ञ में बलिदानों की समिधा द्वारा अग्नि प्रज्वलित करना चाहता है।[2]

कवि प्रथम कविता 'अचेतमृत-अचेतन शिला' मंगलाचरण रूप है, जिसमे कवि प्रभु से प्रार्थना करता है कि वह अपने स्पर्श से कला को सजीव बना दे। तृतीय पद्य में श्रद्धा के दीप जलाना चाहता है। वह तृषित धरा के हेतु 'पीयूष-कलश' की कामना करता है। संग्रह के प्रथम सात गीत भाव-प्रधान मुक्तक है, उनमे कवि के राष्ट्रीय भाव बड़ी प्रवणता से व्यक्त हुए हैं। कवि की दृढ़ता रागपूर्ण स्वर मे व्यक्त हुई है। वह चाँद से बात करते समय उसे छिपी चेतावनी तो दे ही देता है—

> "स्वर्ग के सम्राट को जाकर खबर कर दे,
> रोज ही आकाश चढ़ते जा रहे हैं वे।
> रोकिए जैसे बने इन स्वप्न वालों को,
> स्वर्ग की ही ओर बढ़ते आ रहे हैं वे।।"[3]

'अन्तिम-मनुष्य' कविता मे कवि युद्ध के प्रलयकर रूप को चित्रित करता है। कवि यह विश्वास करता है कि दृढ मानव उससे कभी भयभीत नही होगा। उसका मार्ग स्वयं प्रशस्त होगा।[4]

'हे मेरे स्वदेश' काव्य में हिन्दू-मुस्लिम साम्प्रदायिक दंगों की भर्त्सना की है, एवं युग की राजनीतिक परिस्थितियों का चित्रण किया है।

---

१. दिनकर, शिवबालक राय : पृ० १७८।
२. सामधेनी : पृ० १२।
३. वही : पृ० २१।
४. वही : पृ० ३१।

'आग की भीख', 'जवानियाँ', 'जयप्रकाश', 'साथी', 'सरहद के पार से', 'कलेगी डालो में तलवार', 'जवानी का झण्डा', 'दिल्ली और मास्को' आदि कविताओं में क्रांति की आराधना करता हुआ कवि देश के तरुण सैनिकों को प्रोत्साहित करता है—

'दिल्ली और मास्को' में कवि मास्को का आदर अवश्य करता है, परन्तु उसकी श्रद्धा दिल्ली के प्रति है। उसके उद्‌गार ही इसके परिचायक हैं—

"मास्को का हम आदर करते हैं किन्तु, हमारे रक्त का एक-एक बिन्दु दिल्ली के लिए अर्पित है हम पर पहला ऋण ही बोल्गा का नहीं, गंगा का ही है। जब तक गंगा की जंजीरें नहीं टूटतीं हमारे अन्तर्राष्ट्रीयता के नारे निष्फल और निस्सार हैं।"[1]

क्रान्ति से शान्ति की ओर :

'अतीत के द्वार पर' तथा 'कलिंग-विजय' कवि की ऐसी रचनाएं है, जिनमें कवि क्रान्ति का मार्ग त्यागकर शान्ति का आह्वान करता दिखाई देता है। कवि देश के उद्धार के लिए ऐसे पुरुष की कल्पना करता है जो देश का परित्राण कर सके। युद्ध की भयानकता एवं संहार उसके हृदय को द्रवित कर देते हैं अशोक के माध्यम से वह शान्ति की कामना करता हुआ प्रस्तुत होता है।

'सामधेनी' में कवि ने काव्य का विषय स्वर्ग की अपेक्षा धरती को चुना है। 'हुंकार' का क्रान्तिकारी कवि स्थिर हो गया है, जो युद्ध के संदर्भ में शांति की ओर विचारशील हो गया है।

'सामधेनी' के प्रकाशन के समय 'अज्ञेय' का 'तारसप्तक' प्रकाशित हो चुका था। कवि ने नवीन स्पन्दन का अनुभव करते हुए 'रात यों कहने लगा मुझ से गगन का चाँद', 'जा रही देवता से मिलने' तथा 'अन्तिम मनुष्य' जैसी प्रयोगवादी रचनायें भी लिखीं, जिनमें कवि बौद्धिक शुष्कता का समर्थक न होकर युग के सत्य और भावनाओं को ही सुन्दर ढंग से प्रस्तुत करता रहा है।

श्री विश्वनाथसिंह के शब्द निष्कर्ष-रूप में प्रस्तुत करना पर्याप्त है—"दिनकर का यह काव्य-संग्रह 'सामधेनी' इस प्रकार यौवन के उद्दाम वेग की वाणी ही नहीं युग की वाणी भी है।"[2]

---

१. दिनकर, शिवबालक राय : पृ० २३३ (१९४५ में उदयपुर अधिवेशन में कवि द्वारा दिए गए प्रवचन से उद्‌धृत)।

२. 'दिनकर सृष्टि और दृष्टि' सं० गोपालकृष्ण कौल, पृ० १६५ (सामधेनी यौवन के उद्दाम की वाणी : विश्वनाथ मिश्र)।

बापू

'बापू' चार खंडों मे विभक्त गाँधीजी से सम्बन्धित लम्बी कविता है जिसका प्रकाशन १६४७ में हुआ था। वैसे इसमे बाद मे १६४८ मे बापू की हत्या से कवि को जो वेदना और बापू पर किए गए अत्याचार के प्रति जो रोष है वह भी सम्मिलित है। 'बापू' की रचना कुरुक्षेत्र के पश्चात् हुई है जिसमे कवि के मानसिक विकास और स्थिर विचारों को स्थान मिला है। वैसे दिनकर पर यह आरोप लगाया जा सकता है कि वे परिस्थितिवश अपने विचार बदल लेते हैं। परन्तु सत्य तो यह है कि कवि जब क्रांति की निस्सारता को देख चुका, बापू द्वारा चलाये जाने वाले आन्दोलनों से स्वतंत्रता की मुग्धगाती उषा के आगमन की लाली उसे दिखाई देने लगी—वह बापू के प्रति आस्थावान हो गया।

दिनकर बापू की नोआखाली यात्रा से पूर्व अहिंसा को साधन-रूप में स्वीकार नही कर पाते थे परन्तु, इस यात्रा में बापू ने जिस अग्नि-परीक्षा द्वारा अहिंसा की सर्वोपरिता सिद्ध की कवि का हृदय भी अहिंसा का प्रेमी बन गया। अत्याचारियों के बीच 'मोहन' का धैर्य, क्षमा, ममता, स्नेह और करुणा देख उसके अगारे भी लजा उठे और उसने 'बापू' काव्य को पूजा के अर्घ्य के रूप मे विराट् के चरणो मे वामन बन अर्पित किया।

काव्य के प्रारम्भ मे कवि अँगार-भरे यौवन की वंदना करता है परन्तु बापू तो उनसे भी अलौकिक और आध्यात्मिक है। कवि के अगारे भी लजाते हैं।[1]

'कुरुक्षेत्र' के तर्क-वितर्क के पश्चात् भीष्म जिस आदर्श को स्वीकार करते हैं वही भाव कवि बापू में निहारता है। कुरुक्षेत्र मे प्रकट कवि का हिंसा-अहिंसा का द्वन्द्व 'बापू' में जैसे समाप्त होकर अहिंसा को ही सार रूप मे स्वीकार करता दिखाई देता है। संसार के गरल पीकर और ताप को सहन करता हुआ भी वह प्रसन्न है। साम्प्रदायिकता की आग में अकेले कूद पड़ने वाला गाँधी कवि का आराध्य है। कवि तो जैसे इस शक्ति पर मुग्ध हो उठा है। "साँपो की बामी" पर घूमते हुए, दूध और मिट्टी से बने हुए पुतले की अद्भुत सफलता ने दिनकर की कलम को उसका गुन-गान करने के लिए बाध्य किया। अंधकार और घृणा पर सत्य और करुणा की विजय बापू की विजय थी।

कवि भीषण परिस्थितियो मे बापू को देखकर पुन:-पुनः उनकी रक्षा के लिए प्रभु से प्रार्थना करता हुआ दिखाई देता है।

कवि के लिए ही नही विश्व के लिए 'बापू' की हत्या शोक का कारण बनी दिखाई देती है। कवि लगभग ३१ बन्दों मे अपने शोक को भक्त की तरह रो-रोकर व्यक्त करता है।

---

१. बापू (पद १) : पृ० ३।

'बापू' में संगृहीत 'वज्रपात' और 'अघटन घटना, क्या समाधान' में शांति के कवि का विलाप दृष्टव्य है ।[1]

कवि बापू को राम-कृष्ण, ईसा और गौतम-सा मान लेता है। उसके इस विलाप को कुछ आलोचकों ने कमजोर भाव माने हैं। परन्तु सत्य यही है कि वह उन्मुक्त कंठ से रोकर अपनी आत्मा की अभिव्यक्ति कर सका है। कवि भारत के दैन्य और भ्रष्टाचार को मिटाने के लिए बापू को बार-बार पुकारता है।

'बापू' में दिनकरजी की बापू के कार्यों के प्रति आस्था और उनकी मृत्यु के शोक से उद्भूत रुदन सुनाई देती है। कवि के मन में 'इर्द-गिर्द' घूमने वाली विचार-धाराओं को वाणी मिली है। 'बापू' में कवि का ही 'बापू' सर्वोपरि है कांग्रेसियों का राजनीतिक बापू नहीं।

कृति की भाषा-शैली लक्षणा शक्ति से ऊपर है और मार्मिक शैली और भाषा ने संग्रह को मधुर और ग्राह्य बना दिया है। ओज, गुण सर्वत्र विद्यमान है।

इतिहास के आँसू

'इतिहास के आँसू' कवि की ऐतिहासिक कविताओं का संग्रह है। इस संग्रह की 'मगध-महिमा', 'वैशाली' तथा वसंत के नाम पर तीन रचनाओं को छोड़कर प्राय. सभी रचनाओं का समावेश रेणुका, हुंकार और सामधेनी में हो चुका है। 'ऐतिहासिक' रचनाओं का समग्र संकलन ही इस कृति की विशेषता है। इसका प्रकाशन १९५२ में हुआ था।

'मगध-महिमा' एक पद्य-नाटिका के रूप में प्रस्तुत की गई है। इसमें मगध के अतीत-गौरव का गान बुद्ध, चन्द्रगुप्त और अशोक जैसे वैभवशालियों के गौरव से संबद्ध किया गया है। मगध के खंडहर आज भी उन विभूतियों के संदेश विश्व को सुना रहे हैं।

कवि इन खण्डहरों के स्वरों द्वारा विश्व-शांति का समर्थन करते हैं। कवि विश्व की विस्फोटक और द्वेषपूर्ण-नीति के उन्मूलन के हेतु 'सुजाता की खीर' के लिए गौतम को याद कराता है। कवि मगध के प्रभा पूर्ण प्रकाशित अतीत की स्मृति करता है और नए विश्व को शांति, सेवा का महामंत्र अर्पित करता है।

'वैशाली' में लिच्छवियों के वैभव का वर्णन करता हुआ कवि प्राचीन गौरव का स्तवन कर बलिदान की शिक्षा देता है—

> "करना हो साकार स्वप्न को तो बलिदान चढ़ाओ,
> ज्योति चाहते हो तो पहले अपनी शिखा जलाओ।
> जिस दिन एक ज्वलंत वीर तुम में से बढ़ आयेगा,
> एक-एक कण इस खंडहर का जीवित हो जायेगा।'

१. बापू (वज्रपात) : पृ० ३७-३८।

'वसन्त के नाम पर' कविता में कवि की इच्छा होती है कि वह प्रकृति का मधुर गान करे, सरसगीत गाये—परन्तु राणा और दुर्गादास से विहीन राजस्थान की याद आते ही लेखनी रुक जाती है। कभी उसे आहत पंजाब की याद आती है।

इस संग्रह में कवि ने स्वतंत्रता के पश्चात् देश के भ्रष्टाचार आदि कुरीतियों को देख पुनः इतिहास के माध्य से वह देशवासियों में प्रेरणा जागृत करना चाहता है।

धूप और धुआँ

'धूप और धुआँ' का प्रकाशन १९५३ मे हुआ। इसमे कवि की १९४७ और उसके बाद की कविताओं का संग्रह है। कवि इसके नामकरण के बारे मे लिखता है—"स्वराज्य से फूटने-वाली आशा की धूप और उसके विरुद्ध जन्मे हुए असंतोष का धुआँ, ये दोनों ही इन रचनाओ मे यथास्थान प्रतिबिम्बित मिलेंगे। अतएव जिनकी आँखें धूप और धुआँ देख रही है, उनके लिए यह नाम कुछ निरर्थक नही होगा।"[१]

संग्रह की रचनाओं में स्वतंत्रता, राष्ट्र-हित की भावनाएँ तथा बापू और अन्य बलिदानियों के प्रति श्रद्धांजलि के भाव स्पष्ट हुए हैं। कवि को वर्तमान मे जो तृषा दिखाई दे रही है उसे वाणी प्रदान की है।

'नई आवाज' और 'तुम क्यो लिखते हो' कविताओं मे कवि स्वर्ग की अपेक्षा धरती के गीत गाने का ही समर्थन करता है।

'शबनम की जंजीर' मे कवि विज्ञान की अमंगलकारी शक्ति के समक्ष मंगल-कारिणी कला को स्थापित करता है। उसे अब विज्ञान की शक्ति से अधिक सौन्दर्य और कला पर विश्वास है।

> "विज्ञान काम कर चुका, हाथ उसका रोको,
> आगे आने दो गुणी ! कला कल्याणी को।
> जो भार नही विभ्राट, महाबल उठा सके,
> दो उसे उठाने किसी क्षीण बल प्राणी को।।"[२]

'स्वर्ग का दीपक' कविता मे कवि शोषकों को चेतावनी देता दिखाई देता है। ये पददलित क्रांति कर इन्हे उलट देंगे।

'सपनों का धुआँ' कविता मे कवि ने देश के जो स्वप्न देखे थे—आप धुआँ होते देखकर उसमे ग्लानि भर उठती है। आदमी का नया घिनौना और चालाक रूप उसे पसंद नही।

---

१. धूप और धुआँ (भूमिका)।
२. धूप और धुआँ (शबनम की जंजीर)।

'भगवान की बिक्री', 'अमृत मंथन' मे कवि पत्थर के भगवान पर व्यग करता है और सच्चे ईश्वर से अवतार लेकर दारुण दूर करने की प्रार्थना करता है।

'व्यष्टि' काव्य मे कवि समष्टि के उत्कर्ष के लिए व्यक्ति से उत्कर्ष के महत्त्व को ही स्वीकार कर आगे बढ़ता है।

'वीर-वदना', 'भारतीय सेना का प्रयाण गीत', मे कवि शहीदो और धीर-वीर हुतात्माओ की वदना करता है।

'जनता और जवाहर' तथा 'जनतत्र का जन्म' एव 'अरुणोदय' वह भारत के नए रूप और प्रजातत्र के प्रति अपने विचारों को व्यक्त करता है।

'गांधी,' 'भाइयो और बहिनो', 'हे राम', 'बापू', 'रक्त की खाई' और 'अपराध' मे कवि बापू के गुणगान और श्रद्धाजलि अर्पित करता है।

पचतिक्त' मे कवि व्यगात्मक शैली में स्वार्थी धनिको, नेताओ, चाटुकारो पर कटु व्यग करता है। ये स्वार्थी साँप दूध पीकर आनन्द मनाते हैं।

'लोहे के पेड़ हरे होगे' कविता मे कवि प्रेम का गीत गाने, ससार को शाति देने, ज्ञान के आकाश को भरने, दुखियों का दुख दूर करने का सदेश दिया है। कवि दुष्टो को भी अपना कर उन्हे जीवन का संदेश सुनाता है।

स्वातन्त्र्योत्तर मुक्तक संग्रहों मे इस कृति का विषयक की दृष्टि से विशेष महत्त्व है। दिनकरजी ने विविध विषयो को लेकर रचनाएँ लिखी हैं जिनमे वीरत्व की भावनाएँ, नव-निर्माण की कल्पनाएँ साकार करने की भावनाएँ हैं। बापू के प्रति उनकी आस्था पुनः व्यक्त हुई है।

दिनकरजी प्रजातत्र और प्रगति की कामना करते हुए शाति और बंधुत्व के गायक के रूप मे प्रकट होते है।

दिल्ली

'दिल्ली' सग्रह का प्रकाशन १९५६ में हुआ था। इस सग्रह मे दिल्ली से सम्बन्धित समय-समय पर लिखी गई चार कविताओ का सग्रह है। संग्रह मे 'नई दिल्ली के प्रति', 'दिल्ली और मास्को', 'हक की पुकार' एवं 'भारत का यह रेशमी नगर' सग्रहीत हैं। चारो रचनाओं मे कवि का रोष और व्यग राष्ट्रीयता को व्यक्त हुआ है।

कवि देश की दुर्दशा, अत्याचारो को सुना-सुनाकर देश में चेतना उत्पन्न करता है और अंग्रेजो को धिक्कारता है। उसमें दिल्ली के प्राचीन शासकों की स्मृति पुनः पुन उभरती है। दिल्ली के सजे हुए शृङ्गार से कवि को घृणा है। यह घृणित रूप उसे देश के कलक के रूप मे ही दिखाई देता है। मास्को के प्रति श्रद्धा होते हुए भी उसे दिल्ली के कण-कण से प्यार है।

'हक की पुकार' में कवि इन भावों को व्यक्त करता है कि जिनमें शासक, दिए हुए वचनों को भूलकर, भोग-विलास में निमग्न हो प्रजा पर अत्याचार करते हैं। इन भावनाओं में कवि का रोष ही प्रधान है।

'भारत का यह रेशमी नगर' में 'हक की पुकार' के भाव ही विशेष कटु रूप में व्यक्त हुए हैं। कवि एक ओर नंगे भारत को देखता है और दूसरी ओर दिल्ली के रेशमी लिबास को देखकर दिल्ली को चेतावनी देता है—

"तो होश करो दिल्ली के देवो होश करो,
सब दिन तो यह मोहिनी न चलने वाली है,
होती जाती है गर्म दिशाओ की साँसें,
मिट्टी फिर कोई आग उगलने वाली है।"[1]

कवि इस सत्य को उद्‌घाटित करता है कि किसी भी देश की राजधानी का सौन्दर्य तभी सार्थक है जब सम्पूर्ण देश और जनता का सौन्दर्य विकसित हो, अन्यथा एकागी सौन्दर्य क्रांति ही लायेगा।

कवि ने कांग्रेसी होकर भी शासक-वर्ग पर जो व्यंग किए हैं वे उसकी निर्भीकता और राष्ट्रीयता के परिचायक है।

नीम के पत्ते

'नीम के पत्ते' दिनकरजी की व्यंग एव वक्रोक्तिपूर्ण कविताओ का लघु सग्रह है। संग्रह का प्रकाशन १६५६ में हुआ था। इसमें वैसे १६४५ और ४८ तक की रचनाओं का भी समावेश किया गया है। सग्रह में 'अरुणोदय', 'सपनों का धुआँ', 'व्यष्टि', 'पचतिक्त', 'राहु', 'जनता और जवाहर', 'निराशावादी', 'हे राम', 'गाँधी' 'स्वाधीन भारत की सेना' ये रचनायें 'धूप और धुआँ में ग्रहण की जा चुकी है।

परतन्त्र भारत का 'हुंकार' का कवि स्वतन्त्र भारत मे होने वाले अत्याचार और असमान व्यवहार को देखकर पुनः विक्षुब्ध हो उठता है।

"मैंने कहा, लोग यहाँ तब भी हैं मरते" १६४५ में बिहार मे फैले भीषण मलेरिया और हैजा के प्रकोप से लोगों की मौत के समय लिखी गई कविता है। कवि ने भीषण उपद्रव के समापन के लिए जो चुल्लूभर सहायता भेजी, उस पर कवि ने व्यंग किया है। 'अरुणोदय' और 'पहली वर्षगाँठ' स्वतन्त्रता-प्राप्ति के समय की रचनायें है। कवि ने इस कृति में व्यंगात्मक शैली को ही विशेष रूप से अपनाकर आधुनिक कांग्रेसी और नेतागिरी पर व्यंग किए हैं।

"आजादी खादी के कुरते की एक बटन,
आजादी टोपी एक नुकीली तनी हुई।

१. दिल्ली (भारत का यह रेशमी नगर) : पृ० २३।

'काटों के गीत', 'नींव का हाहाकार' में कवि सामाजिक विषमता के उन्मूलन का प्रयत्न करता है। मदान्ध पूँजीपतियों के विरुद्ध जनता का क्रांति-स्वर इसमें ध्वनित होता है।

'भूदान' में कवि विनोबा और जयप्रकाश का स्तवन आध्यात्मिक पुरुषों के रूप में करता है। वे भूदान के प्रणेताओं में एक नई ज्योति निहारते हैं। उन्हें विश्वास-सा हो जाता है कि भारत के लिए यही 'सर्वोदय' भोग्य है।

'राष्ट्र देवता के विसर्जन' में कवि राष्ट्रीयता का अन्तर्राष्ट्रीयता के केन्द्र विसर्जन ही योग्य मानता है। इसका विशाल दृष्टिकोण व्यक्त हुआ है।

संग्रह में समाज की समग्रता में व्यक्ति की इकाई भी पूर्ण महत्त्व रखती है। इस संदर्भ में कवि ने सामाजिक और व्यक्तिवादी कविताएँ लिखी हैं। 'व्याल-विजय', 'सेतु रचना', 'शबनम की जंजीर', 'आशा की वंशी', 'अर्धनारीश्वर', 'मम्कार', 'चाँद और कवि' आदि ऐसी ही रचनाएँ हैं। कवि का लक्ष्य तो मानव का और उसके साथ समाज के उत्कर्ष का रहा है। संग्रह की 'दर्पण', 'भावी पीढ़ी से', 'नई आवाज', 'सबसे बड़ी आवाज', 'काँटों का गीत', 'नींव का हाहाकार' ऐसी रचनाएँ हैं जिनमें प्रतिपाद्य और प्रतिपादन दोनों ही नवीन दृष्टि से प्रस्तुत किये गए हैं। कवि ने संग्रह की अनेक रचनाओं में आदर्श और यथार्थ की टक्कर तथा एक ओर परंपरावादी मान्यताओं का खंडन और जीवन बदलते नए मूल्यों की रूपरेखा प्रस्तुत की है। 'दर्पण' संग्रह की ऐसी ही रचना है।

नीलकुसुम की 'नीरव प्रकाश', 'संकेत', 'अशब्द', 'नासदीय', 'इच्छाहरण', 'ए मान बहुत रोये', तथा गूढ़-रचनाओं में कवि की जिज्ञासा और दार्शनिक भावनाओं को प्रश्रय मिला है।

'हिमालय का सन्देश' संगीतात्मक लघु रूपक है। कवि ने हिंसा के विरुद्ध प्रेम, भूख के विरुद्ध रोटी की व्यवस्था, युद्ध के विरुद्ध शान्ति और बुद्धि के स्थान पर हृदय के ग्रहण करने की शिक्षा दी है।

'चन्द्राह्वान' तथा 'पावसगीत' उनकी कल्पना-प्रधान सौन्दर्यवादी रचनाएँ हैं जिनमें संस्कारों की गहराई में प्रयोगवादी उथलापन डूब-सा गया है।

संक्षिप्त में कहा जाए तो 'नीलकुसुम' दिनकरजी के नए विचारों का वह दर्पण है जिसमें कवि व्यक्ति, समाज, धर्म आदि को नए परिवेश में देखने का प्रयास करता है। 'भावी पीढ़ी' जब नई छाल उतार कर 'नए आकाश' का दर्शन करेगी तभी नये युग का पदार्पण होगा।

भावों के साथ-साथ कवि ने भाषा में जो नए प्रयोग किये हैं वे भी प्रयोग-वादियों की तरह ऊँट-पटांग न होकर मनोहारी ही हैं। 'छिलका' और 'जीर्ण तनोवा' के लिए कवि ने 'नया अंकुर' और 'नया आकाश' का प्रयोग किया है। तारों के लिए

'गान के मोती' चन्द्र के लिए 'हाथ का दर्पण' और उषा के लिए 'कंचन का सरोवर' उनके नव्य प्रयोग हैं।

कवि गायक के भावों को 'गीत के मोती' और आंसू के लिए 'आँख मे शबनम' का प्रयोग करता है। इस प्रकार के नूतन और कर्णप्रिय-रुचिपूर्ण प्रयोग इस कृति की विशेषता है।

दिनकर की भाषा जोरदार, लाक्षणिक और व्यंजक हो गई है। कवि ने उर्दू आदि भाषाओं के शब्द-प्रयोग तो किए हैं परन्तु अप्रयुक्त शब्दो के मोह मे उन्हें क्लिष्टता से बचाए रहे।

'नीलकुसुम' मे दिनकर ने जो भी भाव व्यक्त किए है उनमे बौद्धिकता का स्वीकार तो अवश्य किया है परन्तु देशोन्नति की भावना यथावत् ही रही है। कवि को संस्कार-जन्य भाव अभिव्यक्त हो ही जाते हैं।

"नीलकुसुम दुरुह नही संकेतात्मक है। न तो इसमे कही संजीदगी को मुँह चिढाया गया है, न मानव मूल्यो के विघटन पर छाती पीटी गई है। यह एक आशावान, स्वस्थ अकुंठित मानव की वर्तमान अराजकता के नाम एक खुली चुनौती है।

अत मे इतना कहना असगत नही होगा कि 'नीलकुसुम' का कवि प्रयोगवादियो की भीड मे न खोकर अपना व्यक्तित्व इसीलिए बनाए रहा है कि प्रयोगवाद को परिवर्तन के नाम पर 'जो चाहे लिखा जाये' न मानकर मानव के उत्कर्ष एव देश की प्रगति मे नए मार्ग का ग्रहण ही स्वीकार किया है।

नए सुभाषित

'नए सुभाषित' एक संक्षिप्त सग्रह है जिसका प्रकाशन १९५७ में हुआ था। इसमे सौ विषयों पर लगभग दो सौ पद हैं। कवि ने व्यंग और विनोद के माध्यम से मार्मिक शैली मे अपने भाव व्यक्त किए हैं। मार्मिकता के साथ स्पष्टवादिता, प्रतिभा और निर्भिकता झलक उठी है।

प्रारभ मे कवि प्रेम, सौन्दर्य, नर और नारी को लेकर अपने विचारो को उद्घाटित करता है। वे नर और नारी के प्रेम की व्याख्या और स्थिरता को विविध रूपों मे व्यक्त करते हैं। प्रेम मे गली के कुत्ते भी भूँकते नजर आते हैं। काव्य का सम्बन्ध प्रेम और सौन्दर्य से विशेष रूप से है, इस तथ्य को उसमे निरूपित किया है। पुरुष सुख का ही साथी है जब कि नारी सुख और दु ख दोनों की संगिनी है।

"पुरुष चूमते तब, जब वे सुख में होते है।
हम चूमती उन्हें जब वे दु.ख मे होते है।"[1]

इसी प्रकार कवि पति-पत्नी का स्वरूप, विवाह आदि अनेक विषयों को लेकर व्यंग और रोचक शैली में स्पष्ट करता गया है। इनमें 'राजनीति', 'आलोचक,

१. नए सुभाषित (नर-नारी) : पद ३।

द्वितीय खंड मे कवि पुन: सैनिक से प्रश्न करता है कि विपत्ति एव वध का दायी कौन है ? जिसका उत्तर यही मिलता है कि हमारी हार दुश्मन से नही अपने ही घर के शासको की पक्षपातपूर्ण अन्यायी नीति के कारण हुई है। हमारे शासक चाटुकारो के पाश मे फँसकर सत्य का हनन कर रहे है। आज भी ये चोर और ठग मिथ्या आत्मबल का समर्थन ही कर रहे है। सैनिक यह मानता है कि विजय के लिए देश के हर वर्ग के लोगो को त्याग करना होगा, अपने पसीने को सैनिक के खून के साथ बहाना होगा। आज स्त्रियो की नथ और बालिओ के दान से काम नही चलेगा—तिजोरियो के द्वार खोल देने होगे।[1]

तृतीय खड मे कवि ने पुन सैनिक से शस्त्र धारण का कारण पूछा है। और उसके उत्तर मे यह कहा गया है कि दुश्मन के वध का एकमात्र साथी शस्त्र है। कवि अतीत के वीर चाणक्य, चन्द्रगुप्त, विक्रमादित्य, राणा प्रताप, गुरु गोविन्दसिंह, शिवाजी, बन्दा वीर, लक्ष्मीबाई, सुभाषचन्द्र बोस और भगतसिंह का स्मरण करता है जिन्होने देश की रक्षा के लिए तलवार उठाई थी। आत्मा के साथ-साथ शरीर की शक्ति को भारत जब प्राप्त कर लेगा तब उसे विश्व का भय भी नही रहेगा और विजय उसके चरण चूमेगी। हमारे इशारो पर तब प्रकृति भी नाचेगी। कवि ने इस खड मे भारत की जिस अखड एकता का परिचय दिया वह बडा ही सुन्दर है। उसने समग्र भारत को सभी दृष्टियो से एकसूत्र मे आबद्ध माना है। सफलता की प्राप्ति समग्र देश पर होती है—

> "चित को चिन्तन की तलवार गढ़ो रे।
> ऋषियो, कृशानु-उद्दीपक मत्र पढो रे।
> योगियो, जगो, जीवन की ओर बढो रे।
> बन्दूकों पर अपना आलोक मढ़ो रे।
> है जहाँ कही भी तेज हमे पाना है।
> रण मे समग्र भारत को ही ले जाना है।"[2]

चतुर्थ खड मे कवि सैनिक की यह आस्था व्यक्त करता है कि नेफा की भूमि पर गिरी खून की बूँदें निष्फल नही जायेंगी। वे देश की उन्नति की उषा की लाली बनकर चमकेंगी। शिव का त्रिनेत्र जैसे खुल रहा है। बाहु की शक्ति को जानकर देश करवट बदल रहा है। पाप-मुक्ति के लिए परशुराम का जन्म हो चुका है, उसका अभिनन्दन अगार-हारो से करना है। यही निर्भीक देश के बन्धन काटेगा। अरि-मुंडो से खाइयाँ भर देगा। वह जब आवेगा, वह एक हाथ में कुठार और दूसरे मे धुन लेकर ब्राह्म और क्षात्र गुणो से विभूषित होगा। परशुराम की कल्पना वीर ऋषि की कल्पना है। वह एक विचारधारा का प्रतीक है जो सर्वथा नवीन है।

१. परशुराम की प्रतीक्षा : पृ० ५।
२. वही : पृ० १२।

पंचम खंड में भी कवि इसी परशुराम के रूप से परिचित कराता है जो अनल का पाठ पढ़ायेगा। वह चोट खाई जाति की रक्षा के लिए सर्वस्व होम देगा। अब हमें शान्ति और विराग को तिलांजलि देनी होगी। सत्य के उस रूप को स्वीकार करना होगा, जिसमें शौर्य उद्दीप्त करने की शक्ति हो। युद्ध में हमें द्विधा का अन्त करना होगा। प्रतिशोध के लिए आँसू नहीं अंगारे सजाने होंगे। हमें कुठार के बल पर शौर्य की अक्षुण्णता बनाये रखनी होगी। परशुराम का तो एक ही संदेश है कि हमें 'मेष' नहीं 'व्याघ्र' बनकर जीना होगा। कवि देश के सुप्त प्राणों को जगाते हुए कहता है कि अब भी सावधान हो जाओ। हर का पिनाक टंकार उठा है, हिमालय अंगार उगलने लगा है, ताण्डवी तेज पुनः हुंकार उठा है तथा लोहित में गिरा कुठार पुनः उठ गया है। हम सब मंदिरों, मस्जिदों, गिरजों और गुरुद्वारों में यही वरदान माँगें कि हम शत्रु के दाँत खट्टे करें और फिर जय विक्रम, जय शिवा, या अली, जय महाकाल, मन्युथी प्रकाल करते हुए आगे बढ़ें।

सचमुच यह ओजपूर्ण काव्य निर्जीवों में भी शक्ति फूंकता है। श्री विमल कुमार ने ठीक ही कहा है—"यह दिनकर की किरण-जाल का दह्यमान कुण्ड है, जो स्वयं जल रहा है और शत्रुओं को भस्म कर देगा।"[1]

इस संग्रह की अन्य सभी कविताएँ ओज और क्रान्ति की परिचायक हैं। 'लोहे के मर्द' में सैनिक अभिनंदन नहीं, बन्दूकें चाहता है जिससे दुश्मनों को मार सके। 'जनता जगी हुई है' काव्य में कवि चीनियों को देश की जागृति का परिचय देता है।

'आज कसौटी पर गाँधी की आग है' में कवि असुरों के विनाश हेतु पशु-बल पर ही जोर देता है। 'जौहर' में नारी के त्याग और बलिदान का महत्व सिद्ध किया गया है। 'आपद्धर्म' में कवि 'उर्वशी' की भोग-भूमि से उतरकर 'युद्ध-भूमि' की ओर बढ़ता है। 'शांतिवादी' काव्य द्वारा कवि यह चेतावनी देता है कि युद्ध-काल में शांति की बातें करना पाप है। 'एनार्की' कविता द्वारा कवि स्वतंत्रता के पश्चात् देश की स्वच्छंदता पर व्यंग्य करता है। 'एक बार फिर स्वर दो' में कवि मूक, निर्बलों और पीड़ितों के हित में बोलता है और चीनियों के विरुद्ध अहिंसावादियों से खड्ग उठाने को कहता है। 'समर-शेष है' कविता में कवि यह स्पष्ट करता है कि स्वतंत्रता के पश्चात् जब तक देश में व्याप्त अन्याय दूर नहीं होगा, युद्ध का अन्त नहीं माना जायेगा। इस प्रकार संग्रह की सभी रचनाओं की ध्वनि क्रान्ति की आराधना ही है।

'परशुराम की प्रतीक्षा' में कवि के राष्ट्रीय जागरण एवं राष्ट्र ही सर्वोपरि लक्ष्य है—का स्पष्ट ध्येय प्रकट हुआ है। युद्ध के इस वातावरण में कवि की यह कृति देश के लिए प्रेरणादायी युद्ध-गीता बन गई है।

१. महाकवि दिनकर: उर्वशी और अन्य कृतियाँ, विजयकुमार जैन: पृ० ६०।

कोयला और कवित्व

नए प्रयोग :

'कोयला और कवित्व' कवि की विविध नवीन रचनाओ का संग्रह है, जिसका प्रकाशन १९६४ में हुआ। संग्रह मे कुल ४० कविताएं संग्रहीत है। 'नील कुसुम' की तरह की यह कृति भी जैसे किसी उद्देश्य को लेकर नही चली है। कवि ने कुछ प्रयोग अवश्य किये हैं। छंद मे तो वह 'नई कविता' की पद्धति ही अपनाए हुए है। इस कृति की रचनाएं अतुकान्त एव नए विचारों की परिचायिका है। कवि ने स्वभावानुसार व्यंजना-शक्ति के द्वारा अपने कथन को स्पष्ट किया है।

संग्रह की प्रथम कविता 'पुरानी और नई कविताए' मे कवि यह सिद्ध करता प्रतीत होता है कि उसके पाठक उससे पुरानी शौर्य एवं शृंगार की रचनाए सुनना चाहते है। नई कविता तो जैसे बुद्धिवाद से ग्रसित है। वह कल्पना पर लगाम लगाना चाहती है। नई कविता उद्देश्य-हीनता पर जोर देती है। कवि आज के रहस्यमयी उलझे मानव पर भी व्यग कसता है।

संग्रह की अनेक रचनाओ मे कवि की शिथिलता एव विरक्ति ही अभिव्यक्त हुई है। 'गृहमुख', 'अन्तिम पुरुषार्थ', 'समुद्र', 'नदी और पेड़', 'अतिथि', 'धन्यवाद' 'मैं सचमुच नही मरूँगा', 'भौतिकी', 'काल', 'श्मशान', और 'चुनौती' ऐसी ही भाव-दर्शिनी रचनाए हैं।

कवि दिल्ली के कोलाहलमय वातावरण से ऊबकर अपनी शान्त जन्मभूमि में जाने को व्यग्र है। वार्धक्य से उत्पन्न क्लान्ति से उन्हे ससार छलनामय लगता है।

कवि काल के कारण समित अग्नि को पुनः सेज बनाना चाहता है। कवि भले ही वृद्ध हो गया है परन्तु वह पलायनवादी नही बनना चाहता। बुढ़ापे में भी शेर घुटने नही टेकना चाहता।

दूसरे प्रकार की वे रचनाएँ है जिनमे कवि ने त्याग की महिमा, संसार की क्षणभगुरता, ईश्वर की सर्वव्यापकता तथा नारी-प्रेम की आध्यात्मिक भूमि पर प्रकाश डाला है। ऐसी रचनाओं मे 'नदी और पीपल', 'बादलों की फटन', 'छठी संज्ञा' हैं।

तीसरे प्रकार की रचनाएँ वैज्ञानिक युग की प्रतिक्रिया-स्वरूप है। जिनमें 'भविष्य', 'विज्ञान' और 'गाधी' की गणना की जा सकती है। आज का मनुष्य विवेकहीन और विज्ञान की अंधी दौड़ मे भागा जा रहा है। विज्ञान इतनी खोजो के पश्चात् भी जिस ईश्वर को प्राप्त नही कर सका उसे जान लेना आवश्यक है। 'गाँधी' को कवि ने धर्म और विज्ञान का समन्वयकारी ईश्वरीय शक्ति का प्रतीक माना है, जो मानव मन का श्रेय गगनगामी बनने मे नही मानता बल्कि लोक-सेवा में संलग्न होने मे ही मानता है।

'धन्यवाद, मैं सचमुच नहीं मरूँगा', 'मित्र', 'कला और कर्तव्य' कवितायें कवि के व्यक्तिगत जीवन से सम्बद्ध हैं। कवि मरण के स्थान पर अमरत्व के गीत गाता है। वह अपने स्वभाव के अनुसार अन्याय के विरुद्ध प्रतिशोध का समर्थक है और वर्तमान का द्रष्टा है। वे अपने आपको 'मित्र' कह कर मार मान सूर्य से तौलने हैं। कवि कर्त्तव्य को कला से अधिक प्रेरक मानता है। वह कोमलता और स्निग्धता के स्थान पर देश के लिए दाह को ही पुनीत धर्म मानता है।

'वात्सल्यप्रतिमा', और 'हमदर्दी' इन दो कविताओं में कवि ने आधुनिक मूर्ति-स्थापना पर और हमदर्दी में आधुनिक राजनीतिज्ञों पर करारे व्यंग्य किए हैं।

संग्रह में 'दर्द' 'वायु', 'नाव' और 'स्मृति' मार्मिक मुक्तक हैं। कवि ने दर्द और वेदना को व्यक्त किया है। इनमें उर्दू की रुबाइयों का आनन्द मिलता है।

संग्रह की सर्वाधिक प्रमुख और अन्तिम कविता 'कोयला और कवित्व' है। कवि ने जैसा कि कविता के प्रारम्भ में कहा है कि यह एक पत्र है जो 'कला फलाशा' से युक्त होती है या विरक्त और कोयले का उत्पादन बढ़ाने को यदि गीत लिखे जायें तो कैसा रहे। कविता का आशय इस प्रकार है—

'कला कला के लिए है' यह कथन भी उपयुक्त है। कला जीवन में उपयुक्त सत्य है। कला कर्म की पराकाष्ठा है। 'कर्म' मानव तक ही नहीं पशुओं तक विस्तृत है। आज का मानव चाहे पशुता से ऊपर उठ गया हो परन्तु मात्र जैविक ध्येयों पर अड़ जाने उसमें पशुता उभर आती है और मानवता दब जाती है। संसार की हर क्रिया आज आवश्यकता के वशीभूत ही हो रही है।

मनुष्य जीवन की सबसे बड़ी विशेषता तो यह है कि वह आवश्यकताओं के लिए मरता है तो वह परहितार्थ भी प्राणोत्सर्ग कर देता है। यह कहना ज्यादा सत्य है कि मनुष्य उपयोगिता और अनुपयोगिता के बीच स्थित है। मानव जब से सभ्यता की ओर अग्रसर हुआ उसमें परस्पर (नर-नारी) प्रेम और आकर्षण बढ़ा। उसमें दया, क्षमा के भावों का जन्म हुआ। उसमें सद्वृत्तियों का जन्म उपयोगिता के लिए ही नहीं हुआ।

इस प्रकार कवि ने कला और धर्म दोनों के सामंजस्य पर बल दिया है। यह रचना कवि के कला सबन्धी विचारों को स्पष्ट करती है। कला वही सिद्ध है जो कर्म के साथ हो और कर्म वही महान् है जो फलाशा के लघुवृन्त से ऊपर उठा हुआ कलापूर्ण हो।

मृति-तिलक

दिनकर की मुक्तक और अनूदित कविताओं का यह संग्रह १९६४ में प्रकाशित हुआ था। इसमें कुल २७ रचनायें हैं जिनमें ६ अनूदित और एक उर्वशी की समाप्ति

'पर 'पतजी' को लिखा गया पत्र है। शेष १९ कविताओ में वर्तमान काल के महा-पुरुषों के प्रति श्रद्धाजलि, राष्ट्रप्रेम और सद्भावना से अनुप्राणित रचनायें हैं। 'राजर्षि अभिनन्दन', 'पटना जेल की दीवारों मे', 'बापू', 'हे राम' तथा 'भाइयो और बहनों' श्रद्धाजलि के रूप में ही लिखी गई है। इन कविताओं में राजर्षि टंडन, राजेन्द्र बाबू और बापू के गुणों और त्याग की प्रसशा के गीत मिलते हैं।

राष्ट्र-प्रेम सम्बन्धी कविताओं के अन्तर्गत 'भारत-व्रत', 'वीरवदना' 'भारत का आगमन', 'इस्तीफा', 'जमीन दो जमीन दो' तथा 'मृति-तिलक' की गणना की जा सकती है। कवि भारत के पंचशील, सह-अस्तित्व में अपना विश्वास प्रकट करता है। देश के लिए प्राणों की आहुति देने वाले भगतसिंह जैसे वीरों की कवि वदना करता है। कवि भारत की शाति नीति की प्रशसा करता है। 'इस्तीफा' मे कवि राष्ट्रकार्य-रत होने के हेतु सेवा से मुक्त होने के लिए इस्तीफा देता है। 'जमीन दो जमीन दो' मे कवि विनोबा के भूमिदान का समर्थन करता है। 'मृतितिलक' मे कवि मृति के तिलक का अधिकार उन्ही वीरों को मानता है जो जनता के सच्चे हितकारी रहे है।

'अमृतमथन' 'अगोचर का आमत्रण', 'स्वर्णघन', 'सजीवन घन दो' कविताओं मे कवि की मगल भावनायें अभिव्यक्त होती है। वह ससार के ताप-हरण की कामना करता है। विश्व-कल्याण के लिए प्रेम की महत्ता को स्वीकार करता है। कवि देश की समृद्धि और सुख के लिए प्रभु से प्रार्थना करता है।

'तन्तुकार' मे कवि यत्र-युग के आघात-प्रत्याघात मे मुक्त होकर गांधीजी की ग्रामोद्योग की नीति का समर्थन करता है।

सात कवितायें जो अनूदित है उनमे 'मेरी विदाई' स्पेनिश कवि जोज रिज्मल फिलीपिन की कविता है जिसमे कवि मृत्यु से पूर्व अपने देश के प्रति गाढ प्रेम व्यक्त करता है। उसकी अन्तिम विदाई हृदय-विदारक है।

'सर्ग-सदेश' मलयालय के कवि वेणिकुलम् गोपाल कुरुप की कविता का अनुवाद है जिसमे देश-प्रेम का सदेश दिया गया है। देश के हर वर्ग के लोगो को जागृति का सन्देश दिया है।

'वरगद' गुजराती के कवि बालकृष्ण दवे की कविता का अनुवाद है जिसमे वट वृक्ष के दीर्घ-जीवन का चित्राकन है।

'राजकुमारी और बासुरी' नार्वेजियन कवि जार्नसन की कविता का अनुवाद है जिसमे बांसुरी के भावाभाव मे एक राजकुमारी के हृदय की व्याकुलता अकित है।

'प्लेग' यूनानी कवि एरिस्टोफेंस की कृति का अनुवाद है। पुरुष जो नारी को प्लेग समझता है, परन्तु उस लिए सदा चितत रहता है। उसके प्रति ललचाता है ऐसी ही व्यगात्मक शैली मे यह कविता लिखी गई है, जो हास्य और तर्क से पूर्ण है।

'गोपाल का चुम्बन' अंग्रेजी के कवि 'टेनिसन' की कविता का अनुवाद है जिसमें प्रेमी द्वारा चुम्बित नायिका अपनी विवशता का वर्णन करती है। रचना-सौन्दर्य प्रधान है।

'विपक्षिणी' अंग्रेजी के कवि मैथ्यू प्रायर की कविता का अनुवाद है जो रमणी के मौन-भाव को पुरुष पर विजय प्राप्ति का ब्रह्मास्त्र है।

उर्वशी की समाप्ति पर लिखा गया पत्र कवि के स्वभाव का परिचय देता है। कवि ने नारी को लेकर अनेक प्रश्न उठाये हैं जिनका समाधान तो 'उर्वशी' में ही करेंगे।

कवि अपनी रचनाओं को 'सध्याकाल' में समेटने के लिए आतुर है।

इस कृति में कवि का राष्ट्र-हितैषी स्वर ही प्रधान है।

दिनकर की अनूदित मुक्तक रचानाएँ

अनूदित रचनाएँ 'सीपी और शंख' तथा 'आत्मा की आँखें' संग्रहों में संकलित हैं।

'सीपी और शंख' में अनेक कवियों की रचनाओं के अनुवाद प्रस्तुत किए गए हैं। इस कृति का प्रकाशन १९५७ में हुआ था जिसमें ४४ रचनाएँ हैं।

'आत्मा की आँखें' जिसमें डी० एच० लारेन्स की कविताओं के भावानुवाद ही होने से विशेष महत्वपूर्ण है।

संग्रह में कुल सत्तर रचनाएँ हैं, जिसका प्रकाशन १९६४ में हुआ था।

कवि ने वे ही रचनाएँ चुनी हैं जिनका सामंजस्य भारतीय चेतना से होता है। संग्रह के अन्तर्गत रहस्यवादी, प्रगतिवादी, काम-सम्बन्धी, तथा अन्य विविध विषयक कविताओं का समावेश किया गया है।

रहस्यपूर्ण रचनाओं के अन्तर्गत कवि प्रकृति के प्रत्येक निर्माण को ईश्वर के रूप में ही स्वीकार करता है।[1]

प्रगतिवादी रचनाओं में कवि का दृष्टिकोण समाज और राष्ट्र के प्रति व्यक्त है, जिसमें वह शोषकों के प्रति अपनी घृणा व्यक्त करता है।[2]

कवि सेक्स को पाप नहीं मानता। वह तो उसे नर-नारी के बीच प्रवाहित कोमल प्रवाह के रूप में प्रवाहित तत्व मानता है। प्रेम का तन्तु विश्वास की डोर से आबद्ध होता है। काम को कवि ने उदात्त रूप में ही स्वीकार किया है।[3]

कवि अकेलेपन में स्वर्गीय आनन्द का अनुभव करता है। एकान्त का महत्व उसकी कविताओं में व्यक्त हुआ है।[4]

---

१. देखिए, कविता नम्बर १, ६, १० एवं ११।
२. „ „ „ ४१ से ५५ तथा ५७।
३. „ „ „ ६० एवं ६२ से ७०।
४. „ „ „ २ से ५।

इन विचारों के उपरान्त कवि ने शेष कविताओं मे जीवन की व्याख्याएँ प्रस्तुत की हैं और पुराने लोगों को विशेष तेजस्वी माना है।

अनूदित कृतियो की विशेषता यह है कि यदि सग्रह से लारेंस का नाम हटा दिया जाय तो पाठक को भाव, भाषा तथा अभिव्यक्ति की शैली से मौलिकता का ही आनन्द प्राप्त होता है। दिनकर की अनूदित कृतियों में मौलिकता का आनन्द कवित्व शक्ति की सशक्तता प्रकट करती है।

दिनकर के प्रबन्ध काव्य

प्रबंध-काव्य श्रव्य-काव्य का ही एक भेद है। सामान्य अर्थ मे सर्गबद्ध एव पूर्वापर के तारतम्य से आवद्ध कथा-काव्यो को हिन्दी साहित्य मे प्रवध की सज्ञा दी गई है। यहाँ यह स्पष्ट करना अनिवार्य प्रतीत होता है कि प्रबन्ध, कथा तथा इतिवृत्त से भिन्न काव्य रूप है, क्योकि अनलंकृत, अरसात्मक, कथात्मक रचनायें काव्य नही कहला सकती आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने प्रवध के सम्बन्ध मे लिखते हुए कहा है—"प्रबंध काव्य मे मानव-जीवन का पूर्ण दृश्य होता है। उसमें घटनाओं की सम्बद्ध शृंखला और स्वाभाविक क्रम के ठीक-ठीक निर्वाह के साथ हृदय को स्पर्श करने वाले, उसे नाना भावों का रसात्मक अनुभव कराने वाले प्रसगो का समावेश होना चाहिए। इतिवृत्त मात्र के निर्वाह से रसानुभव नही कराया जा सकता।"[1]

प्रबध की दृष्टि से दिनकर के दो ही प्रबध है। स्वतत्रता पूर्व के प्रबध के रूप में 'कुरुक्षेत्र' और स्वातंत्र्योत्तर प्रबध के रूप में 'रश्मिरथी।' इन दोनो प्रबंधों का विभाजन क्रमशः विचार प्रधान प्रबध और परम्परागत प्रबध के रूप में भी किया जा सकता है।

दिनकर प्रणीत प्रबध काव्य राष्ट्र प्रेम, जातीय भावना और आदर्श जीवन की प्रेरणा से ओतप्रोत है। कवि ने कथा-निर्वाह की अपेक्षा तत्व निरूपण एव उद्देश्य की पूर्ति की ओर विशेष ध्यान दिया है। रचना-कौशल एवं शैली की दृष्टि से दिनकर के प्रबध-काव्य सर्वथा मौलिक एव राष्ट्रीय भावो से अनुप्राणित रचनायें हैं।

दिनकर के दोनो प्रबन्धो का सक्षिप्त परिचय प्रस्तुत है।

कुरुक्षेत्र

काव्यत्व :

'कुरुक्षेत्र' १९४६ में प्रकाशित दिनकर का प्रथम प्रबंध काव्य है। विचारों की दृष्टि से ही कवि इसे प्रबंध मानता है। कवि के शब्दो में कहे तो—"कुरुक्षेत्र की

१. जायसी ग्रन्थावलि, आचार्य रामचन्द्र शुक्ल : पृ० ६८।

रचना भगवान् व्यास के अनुकरण पर नहीं हुई है और न महाभारत का दुहराना ही मेरा उद्देश्य था। मुझे जो कुछ कहना था वह युधिष्ठिर और भीष्म का प्रसंग उठाये बिना भी कहा जा सकता था, किन्तु, तब यह रचना, शायद, प्रबंध के रूप में नहीं उतरकर मुक्तक बन कर रह गई होती। तो भी यह सच है कि इसे प्रबन्ध के रूप में लाने की मेरी कोई निश्चित योजना नहीं थी। 'कुरुक्षेत्र' के प्रबंध की एकता उसमें वर्णित विचारों को लेकर है।"[1]

'कुरुक्षेत्र' की प्रबन्धात्मकता को लेकर पर्याप्त मतभेद है। डा० शम्भुनाथ पांडे ने इसे प्रगतिवादी विचार-धारा का प्रतिनिधि महाकाव्य माना है।[2] डा० प्रतिपाल सिंह इसे महाकाव्य न मानकर उच्चकोटि का खण्डकाव्य मानते हैं।[3] प्रो० विश्वनाथ ने इसे एकार्थ काव्य कहा है।[4] डा० नगेन्द्र इसे द्वितीय विश्वयुद्ध से प्रेरित चिन्तन प्रधान लम्बी कविता मानते हैं। श्री कान्तिमोहन इसे प्रबन्धाभास कहना ही अधिक समीचीन समझते हैं।[5]

संस्कृताचार्यों के कथनानुसार इसमें सर्गबद्धता आदि लक्षण होने से प्रबंध मानना अनुचित नहीं है। इस प्रबंध में कथा-संवाद, बाहुल्य एवं वर्णन वैचित्र्य के स्थान पर मात्र विचारोत्तेजकता ही है और शंकाकुल कवि हृदय-युद्ध की समस्या पर ही विचार कर रहा है इस दृष्टि से डा० नगेन्द्र का कथन सत्य माना जा सकता है लेकिन इसमें प्रबंधात्मकता नहीं है ऐसा भी नहीं कहा जा सकता। इस काव्य के अन्तर्गत कुछ प्रसंग प्रक्षेप तो अवश्य उत्पन्न करते हैं, परन्तु विचार शृंखला नहीं टूटती, अत यह प्रबंध तो है ही। कुरुक्षेत्र को महाकाव्य कहना कुछ अधिक लगता है क्योंकि इसमें शास्त्रीय दृष्टि से महाकाव्य के अनेक लक्षणों का अभाव है। इसमें कवि ने भीष्म और युधिष्ठिर के पात्रों द्वारा युद्ध की समस्याओं को ही अंकित किया है। प्रबंध में खण्ड-काव्य के सूत्र अवश्य कुछ सफलता के साथ मिलते हैं। कवि कुरुक्षेत्र की भूमि की पृष्ठभूमि में दिखाकर प्रबंध का अंत भी वहीं करता है। कवि महाभारत के युद्ध के खण्ड को लेकर ही अपने विचारों को प्रकट करता है इस दृष्टि से हम इसे 'समस्यामूलक प्रबंध' कहें तो अनुचित न होगा।

कथानक :

'कुरुक्षेत्र के कथानक की पृष्ठभूमि के रूप में 'सामधेनी' में संकलित 'कलिंग-विजय' कविता को माना जा सकता है कवि ने 'कुरुक्षेत्र' के निवेदन में इस

१. कुरुक्षेत्र, (निवेदन) : पृ० १-२।
२. आधुनिक हिन्दी काव्य में निराशावाद, डा० शंभुनाथ पाडेय : पृ० ३८६।
३. बीसवीं शती (पूर्वार्द्ध) के महाकाव्य, डा० प्रतिपाल सिंह ५५-५६।
४. दिनकर और उनकी काव्य-कृतियाँ, स० प्रो० कपिल (दिनकर प्रो० विश्वनाथ प्रसाद मिश्र)।
५. विचार और विश्लेषण, डा० नगेन्द्र . पृ० १२८।
६. कुरुक्षेत्र मीमांसा, कान्तिमोहन शर्मा · पृ० १५२।

तथ्य को स्वीकार किया है कि युद्ध की समस्या ही मनुष्य की सारी समस्याओ की जड है।

कथानक के मूल स्रोत कवि ने 'महाभारत' के 'शातिपर्व' से ग्रहण किए है। परन्तु अपनी मौलिक प्रतिभा से कथानक का औचित्य निर्वाह करते हुए आधुनिक युग की मुख्य समस्या युद्ध पर विचार प्रस्तुत किए है और समस्या के समाधान-स्वरूप वह शाति, समाजवाद और साम्य की भावनाओ को स्वीकार करता है।

कथानक का प्रारभ युद्धान्त पर युधिष्ठिर की आत्मग्लानि से होता है। युद्ध जन्य संहार उनमें निर्वेद उत्पन्न कर देता है। लहू-सनी जीत उन्हे अशुद्ध दिखाई देती है। सम्पूर्ण युद्ध और विनाश का उत्तरदायी वे स्वय को मानकर दु खी होते है। इस द्वन्द्वावस्था में वे भीष्म पितामह के पास पहुचते है। पितामह युधिष्ठिर की निर्वेदावस्था को देखकर उन्हें अपने तर्कों द्वारा समझाते है कि युद्ध का उत्तरदायित्व उन पर न होकर सम्पूर्ण समाज में व्याप्त असतोष था।

सामाजिक, राजकीय अन्याय ही ज्वालामुखी के रूप में फूट पडना चाहते थे। भीष्म यद्यपि शान्ति को श्रेष्ठ मानते है, परन्तु अन्याय पर आधारित शान्ति उन्हें दूषित लगती है। भीष्म युद्ध का उत्तरदायित्व शोषित से अधिक शोषक पर मानकर युधिष्ठिर के द्वन्द्वग्रस्त मन का शमन करने का प्रयत्न करते है। युधिष्ठिर की पलायनवादी मनोवृत्ति उन्हे स्वीकार नही होती। वे कर्मक्षेत्र में रत रहकर आशा के नवदीप को जलाते हुए त्याग, बलिदान और कर्त्तव्य से ही वसुन्धरा को स्वर्ग बनाने की शिक्षा देते है। अन्तिम सर्ग में भीष्म साम्य के समर्थक और सामाज धारा की विचार-धारा से अनुप्राणित होकर सबके उत्कर्ष की कामना करते है।

कुरुक्षेत्र के कथानक पर महाभारत एव गीता के उपरात आधुनिक पाश्चात्य विचारक बर्ट्रेन्ड रसेल तथा भारतीय विद्वान लोकमान्य तिलक का प्रभाव भी पर्याप्त मात्रा में दृष्टव्य है।

'कुरुक्षेत्र का कथानक शक्तिशाली नही है। प्रबधो में कथा का जो तारतम्य और प्रभाव अपेक्षित है, उसका इस कृति में अभाव है। कवि युद्ध के मैदान में युधिष्ठिर और भीष्म के वार्तालाप में ही कथानक पूर्ण कर देता है। छठा सर्ग मात्र कवि के विचारों का ही प्रस्तुतीकरण होने से क्षेपक ही लगता है।

यह ठीक है कवि युद्ध की समस्या को पौराणिक पात्रो के माध्यम से प्रस्तुत करना चाहता है। परंतु यह भी अपेक्षित था कि वह कथानक को विशेष ढग से प्रस्तुत कर प्रबध को अधिक सुन्दर बनाता।

पात्र.

'कुरुक्षेत्र' के मुख्य पात्र भीष्म और युधिष्ठिर है। युधिष्ठिर शकाकुल द्वन्द्व-ग्रस्त मानव के प्रतिक है।[1] उन्हे मीनाकार का मार्ग आकर्षित करता है परन्तु युद्ध के

१ आधुनिक साहित्य : आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी : पृ० ८१।

संहार से उनका हृदय व्याकुल हो उठता है। अतः विरक्ति का मार्ग उचित लगता है। भीष्म के तर्क भी उन्हे युद्ध-प्रिय तो नही ही बना सकते।

भीष्म उस जीवित पुरुष के प्रतीक हैं, जो अन्याय और अत्याचार के प्रतिकार हेतु युद्ध की अनिवार्यता स्वीकार करते है। भीष्म यद्यपि हिंसात्मक प्रवृत्तियो के समर्थक जरूर है, परन्तु अन्ततोगत्वा तो वे धर्म के प्रदीप को जलाकर समता और दया के मार्ग को ही आलोकित करना चाहते हैं।

सदेश :

'कुरुक्षेत्र' मे कवि द्वारा प्रस्थापित समता और प्रेम की भावनाओ से स्पष्ट होता है कि दिनकर का युद्ध-सम्बन्धी द्वन्द्व समाधान पा चुका है। वह ससार की कल्मषता को धोने के लिए युद्ध का स्वीकार अवश्य करता है, परन्तु सुख और समृद्धि के लिए शाति का महत्त्व ही स्वीकार करता है।

मानव का भौतिकवादी दुराग्रह ही युद्ध का कारण है। यदि इसकी परितुष्टि हो जाय तो युद्ध का अन्त ही हो जाय। मानव के दुःख का मूल कारण असमन्वयात्मकता है। साम्य की भावनाओं द्वारा ही इसका उन्मूलन किया जा सकता है। विज्ञान से उत्पन्न बौद्धिकता के स्थान पर हृदयवाद का स्वीकार ही प्रेम की पृष्ठभूमि बन सकता है। कवि निवृत्ति से अधिक प्रवृत्तिमय बनकर युद्ध को टालने का सदेश देता है।

आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी अन्याय का अन्त युद्ध मे 'कुरुक्षेत्र' का सदेश मानते हैं। परन्तु मात्र युद्ध ही अनिवार्य तत्व है इसे ही कवि ने स्वीकार नहीं किया। युद्ध के साथ शाति और समन्वय की भावनाओ का समर्थन वाजपेयी जी के कथन को पूर्ण-सत्य प्रमाणित नही करते।

सप्तम सर्ग की ये पक्तियां समग्र काव्य का सदेश प्रस्तुत करती हैं—

"आशा के प्रदीप को जलाए चलो धर्मराज !
एक दिन होगी भूमि मुक्त रण-भीति से।
भावना मनुष्य की न रक्त मे रहेगी लिप्त,
सेवित रहेगा नही जीवन अनीति से।
हार से मनुष्य की न महिमा घटेगी और
तेज न बढ़ेगा किसी मानव का जीत से।
स्नेह बलिदान होंगे नरता के एक,
धरती मनुष्य की बनेगी स्वर्ग प्रीति से॥"[1]

कवि 'कुरुक्षेत्र' में राष्ट्रवादी और मानवतावादी दृष्टिकोण का ही विशेष समर्थन करता है।

---

१. कुरुक्षेत्र : सप्तम सर्ग : पृ० १४६।

दर्शन :

'कुरुक्षेत्र' के दर्शन के रूप मे पाप पर पुण्य की विजय, भाग्यवाद पर कर्मवाद की विजय, निवृत्ति पर प्रवृत्ति की विजय, जीवन पर मृत्यु की विजय व्यक्तिवाद पर समष्टि-हित की विजय ही मुख्य है। कवि ने युद्ध के सदर्भ मे ही इन प्रश्नों की चर्चा प्रस्तुत की है।

'कुरुक्षेत्र' में कवि ने युद्ध-जैसी नीरस समस्या को प्रस्तुत करते हुए रूक्षता मे भी अनुभूतियो का सुन्दर सामजस्य स्थापित कर उसे रसमय बनाया है। वीर, करुण और शांत रसों की सुन्दर ढंग से प्रस्थापना की है। कवि ने सचारियो की सहायता से भीष्म और युधिष्ठिर के चरित्रों का उद्घाटन किया है। ओज गुण की प्रधानता सम्पूर्ण प्रबन्ध मे है।

'कुरुक्षेत्र' की सफलता पर डा० प्रभाकर माचवे के विचार बडे ही उल्लेखनीय हैं—"यह हमारी विचार-शक्ति को उत्तेजित करता है और युद्ध और शाति, हिंसा और अहिंसा, व्यक्ति और समूह, राज्य-व्यवस्था और लोकतत्र के कई प्रश्नो को सामने लाता है। इस दृष्टि से हिन्दी मे इस काव्य का अपना एक विशिष्ट स्थान है। हिन्दी मे राष्ट्रीय कवियों मे मे राष्ट्रीय महत्व के विषय को लेकर रचना करने वालो मे दिनकर की गणना साहित्य के इतिहासकार करेंगे।"[1]

सक्षेप मे कहा जाए तो 'कुरुक्षेत्र' अपने समय और समाज के प्रति जागृति का सदेश देने वाला समन्वय की भूमि पर स्थित काव्य है; जहाँ युद्ध की अनिवार्यता, धर्म एव शाति के मंगल की शुभकामना सन्निहित है।

रश्मिरथी

काव्यत्व :

'रश्मिरथी' दिनकर का स्वातंत्र्योत्तर प्रबंध काव्य है, जिसका प्रकाशन १९५१ मे हुआ था। कवि को कुरुक्षेत्र की रचना के पश्चात् ऐसा लगा कि वे भी किसी ऐसे प्रबंध की रचना करें, जिसमें विचारोत्तेजकता के साथ कथा, संवाद और वर्णन का भी महात्म्य हो।[2] इसी विचार से अनुप्राणित होकर महाभारत के तेजस्वी पात्र कर्ण को लेकर कवि ने इस प्रबंध की रचना की है। द्विवेदीकालीन परम्परावादी इतिवृत्तात्मक प्रबंध कोटि में 'रश्मिरथी' को रखा जा सकता है। कवि युगों से अपेक्षित कर्ण को आधुनिक सन्दर्भ के वातायन से निहारता है। कर्ण की चारित्रिक महानताओं का उद्घाटन करता है।

'रश्मिरथी' का प्रबन्धात्मकता को प्रायः सभी आलोचको ने स्वीकार किया है, परन्तु यह महाकाव्य है या प्रबधकाव्य इस विषय मे अनेक मतभेद हैं।

---

१. दिनकर सृष्टि और दृष्टि : स० गोपालकृष्ण कौल (मंगल-कामना का काव्य : कुरुक्षेत्र : डा० प्रभाकर माचवे) : पृ० १८५।

२. देखिये रश्मिरथी' की भूमिका।

'कुरुक्षेत्र को सर्गबद्ध पौराणिक कथा एवं पात्रों से युक्त और प्रकृति-चित्रण का वर्णन देखकर उसे महाकाव्य के रूप में स्वीकार करते हैं। परन्तु 'रश्मिरथी' के अन्तर्गत कवि ने कर्ण को केन्द्र बिन्दु बनाकर मात्र उसके उदात्त गुणों का स्पष्टीकरण किया है। इस दृष्टि से यह खण्ड-काव्य के विशेष निकट लगता है। श्री विजयेन्द्र स्नातक ने भी कर्ण के चरित्र को व्यापक परिवेश में व्याप्त न देखकर प्रबन्धात्मक खण्डकाव्य ही कहा है।'[1]

महाकाव्य और खण्डकाव्य के शास्त्रीय लक्षणों की कसौटी पर कसने से मुझे विजयेन्द्र स्नातक का मत ही विशेष तर्कपूर्ण लगा। मैं भी इसे दिनकर का सुन्दर प्रबंधात्मक खण्ड-काव्य मानता हूँ।

कथानक -

सात सर्गों में विभक्त यह खण्ड-काव्य कर्ण के जीवन की यशोगाथा है। कवि ने कर्ण के नाम रश्मि-रथी के नाम पर ही इसका नामकरण रश्मि-रथी रखा है। रश्मि-रथी नाम प्रतीक है उस पुरुष का जिसका रथ आलोकित है। प्रथम सर्ग में कर्ण का प्रारम्भिक किन्तु आकर्षक धनुर्धारी रूप प्रस्तुत होता है। वह भूमि में रंग विविध युद्ध कलाओं द्वारा सभागृह को चकित करने वाले अर्जुन को ललकारता है और उन कलाओं को बच्चों का खेल समझ कर उनसे भी अच्छी कलाएँ बनाता है। लोग वाह-वाह कर उठते हैं, परन्तु ईर्ष्यावश गुरु द्रोणाचार्य आदि महापुरुष साधुवाद तक नहीं देते उल्टे उसके अज्ञान कुल और राज्यहीन होने का व्यंग और कर्मी बनाकर उसका तिरस्कार करते हैं। तभी दुर्योधन उसकी प्रशंसा कर उसे अंगाधिपति घोषित कर राजमुकुट अर्पित करता है। यहीं से कर्ण दुर्योधन की मैत्री का प्रारंभ होता है। इधर दुर्योधन प्रसन्न है पर कृपाचार्य आदि के सिर में दर्द है।

द्वितीय-सर्ग में कर्ण अर्जुन पर विजय पाने की लालसा से परशुराम के पास जाकर अपने आपको ब्राह्मण कुमार बतला कर शस्त्र-विद्या सीखता है परन्तु विषकीट के प्रसंग में उसका असत्य रूप खुल जाता है और युद्ध के अन्तिम चरण में ब्रह्मास्त्र चलाना भी वह भूल जायेगा ऐसा शाप मिलता है। परन्तु उसकी गुरु-भक्ति और निष्ठा देखकर वे उसे अमर कीर्ति का वरदान भी देते हैं। कर्ण जैसे सब कुछ पाकर भी सब कुछ खोकर ही लौटता है।

तृतीय सर्ग में वनवास से लौटे हुए पाण्डवों का सन्देश लेकर श्रीकृष्ण कौरवों से उनका राज्य लौटा देने का प्रस्ताव लेकर आते हैं और अन्त में जब वे निराश होकर लौटते हैं। कर्ण को रथ पर बैठा कर उसके जन्म की बात बताकर पाडव पक्ष में मिलने को कहते हैं परन्तु कर्तव्य की दृढ़ी नम्रता और तर्क द्वारा प्रस्ताव को अस्वीकृत कर देता है।

---

१. दिनकर, स० सावित्री सिन्हा (रश्मिरथी : एक विश्लेषण विजयेन्द्र स्नातक) पृ० १७६।

चतुर्थ सर्ग में छद्मवेशी इन्द्र दानवीर कर्ण से उसके कवच और कुंडल माँग लेता है। परन्तु कर्ण के तेजस्वी व्यक्तित्व से प्रभावित होकर बिना माँगे एकघ्नी शक्ति दे जाते हैं।

पंचम सर्ग में कुंती कर्ण के पास छुपकर जाकर उसके जन्म का आख्यान कहती है और अपनी ग्लानि को व्यक्त करती है। और वह भी अर्जुन को छोडकर चार पुत्रों का अभय वचन लेकर लौटती है। जो पाकर कुछ खो आती है और खोकर बहुत कुछ पाती है।

षष्ठ सर्ग मे भीष्म और कर्ण का वार्तालाप तथा कर्ण का युद्ध मे प्रस्थान वर्णित है।

सप्तम सर्ग में कर्ण का युद्ध कौशल, अभिशापवश रथ का फँस जाना और अर्जुन द्वारा कर्ण के वध का चित्र प्रस्तुत किया गया है। सर्ग मे कृष्ण-कर्ण का सवाद बड़ा ही मार्मिक है।

'रश्मिरथी' का कथानक कवि ने महाभारत से लिया है और विशेष परिवर्तन भी नही किया है। 'रश्मिरथी के कथानक व्यवस्थित ढंग से पूर्वापर सम्बन्धित है, जिससे प्रबन्धात्मकता मे क्षति नही होती। सम्पूर्ण कथानक कर्ण के उज्ज्वल चरित्र का उद्घाटन करता है।

मानवतावादी दृष्टि :

कर्ण के माध्यम से कवि इस नई विचार-धारा को प्रस्तुत करता है कि व्यक्ति की पूजा उसके गुणों के कारण होनी चाहिए। कवि ने 'रश्मिरथी' की भूमिका में इस तथ्य को स्वीकार करते हुए लिखा है—"यह युग दलितो और उपेक्षितों के उद्धार का युग है। अतएव यह बहुत स्वाभाविक है। कि राष्ट्रभारती के जागरूक कवियों का ध्यान इस चरित्र की ओर जाय जो हजारों वर्षों से हमारे सामने उपेक्षित एवं कलंकित मानवता का मूक प्रतीक बनकर खड़ा रहा है।...... "हमारे समाज मे मानवीय गुणो की पहचान बढने वाली है कुल और जाति का अहकार विदा हो रहा है। आगे मनुष्य केवल उस पद का अधिकारी होगा जो उसके सामर्थ्य से सूचित होता है, उस पद का नही जो उसके माता-पिता या वंश की देन है।"[१]

कवि ने कर्ण के चरित्र का उद्धार करते हुए मानवता के नए दृष्टिकोण की प्रस्थापना का ही प्रयास किया है, जो इस कृति का सन्देश बन गया है।

दिनकर ने कुल और जाति के व्याप्त अहकार के स्थान पर गुणो की श्रेष्ठता का गुणगान गाकर गांधीजी के राष्ट्रीय भावों का समर्थन किया है। कवि पौराणिक कथानक के चित्राकन मे भी राष्ट्रीय सामाजिक समस्या का समाधान ढूंढता रहा, यह उसकी राष्ट्रीयता का परिचायक है। कवि समाजवाद के स्वरो का उद्-

---

१. रश्मिरथी (भूमिका) : पृ० ग।

घोषक प्रतीत होता है। श्री विजयेन्द्र स्नातक ने 'रश्मिरथी' को कलाकार और कला की अभिव्यक्ति करने वाला काव्य माना है।[1]

कवि ने प्रकृति को पृष्ठभूमि के रूप में स्वीकार किया है। 'रश्मिरथी' की भाषा ओज और प्रसाद गुणों से पूर्ण सरल है। वीर रस इसका प्रधान रस है। कला-पक्ष की दृष्टि से 'रश्मिरथी' 'कुरुक्षेत्र की अपेक्षा सबल कृति है।

उर्वशी

'उर्वशी' १९६१ में प्रकाशित दिनकर की सर्वश्रेष्ठ कृति है, जिसमें समस्त काव्य-प्रवृत्तियों का सुन्दर परिपाक हुआ है।

काव्यत्व

'उर्वशी' दृश्य-काव्य है। नाटक के मान्य लक्षणों का निर्वाह इस कृति में हुआ है और कवि ने इसे गीतमय रूप में प्रस्तुत किया है। इस दृष्टि से इसे गीति-नाट्य के रूप में स्वीकार किया जा सकता है।

गीति-नाट्य की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि उसमें वैयक्तिक अनुभूति की तीव्रता को संगीतात्मकता के साथ प्रस्तुत किया जाता है। प्रायः सारी कथा गीतों के माध्यम से प्रस्तुत की जाती है। गीति-नाट्यों में बाह्य संघर्ष से अधिक आन्तरिक संघर्ष की प्रमुखता होती है।

यद्यपि 'उर्वशी' की सम्पूर्ण कथा गीतों के माध्यम से व्यक्त नहीं होती, किन्तु उसकी रचना-शैली में संगीतत्व विद्यमान है। इस दृष्टि से गीति-नाट्य कहना योग्य ही है।

नाट्य के लक्षण भी इसमें विद्यमान हैं। यह पाँच अंकों में विभक्त है। दृश्यों के नामांकन के स्थान पर कवि काल एवं स्थान की सूचना देता गया है। ग्रन्थ के प्रारम्भ में सूत्रधार एवं नटी का प्रवेश भी है जो नाट्य को प्रारम्भ कराते हैं। पात्रों का प्रवेश एवं प्रस्थान विविध रूपों और नाटकीय ढंग से अंकित किया गया है। नेपथ्य का उपयोग तथा आकाश भाषित की योजना की गई है। कवि ने सर्वत्र रंगमंच का विशेष ध्यान रखा है। नाट्य के प्रधान तत्व—कथावस्तु, पात्र, कथोपकथन, संकलनत्रय शैली और उद्देश्य सभी तत्व यथा रूप विद्यमान हैं।

आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी तथा डा० नगेन्द्र इसे गीति-नाट्य ही मानते हैं।[2]

---

१. दिनकर, सं० सावित्री सिन्हा (रश्मिरथी एक विश्लेषण विजयेन्द्र स्नातक) : पृ० १७६।

२. देखिये—दिनकर सृष्टि और दृष्टि : स० गोपालकृष्ण कौल में संकलित लेख—
(१) प्रौढ किन्तु सुकुमार रचना : उर्वशी : हजारीप्रसाद द्विवेदी तथा
(२) अन्तर्मंथन का काव्य : उर्वशी : डा० नगेन्द्र।

श्री आर० के० कपूर ने भी इसे गीति-नाट्य के रूप मे ही स्वीकार करते हुए श्रेष्ठ चिन्तन-प्रधान हिन्दी भाषा की असाधारण कृति माना है।[1]

डॉ० दशरथ ओझा ने आधुनिक नाटकों का वर्गीकरण करते हुए नाटकों के विविध भेदों में 'गीति-नाट्य' को भी एक भेद मानकर स्वीकार किया है। और गीति-नाट्य को रास-शैली से विकसित नाट्य-शैली माना है।[2]

विविध काल्पनिक मतों को प्रस्तुत करते हुए रास को ब्रह्म से सम्बन्धित मानकर यह कहा है कि श्रीकृष्ण गोपियों के साथ नाचा करते थे अतः 'नृत्य-नाटक' का नाम रास पडा। दूसरे मतानुसार रास मे नृत्य-संगीत द्वारा रस की अभिव्यक्ति की जाती है। इसी प्रकार स्त्री-पुरुष के मंडला कर नृत्य करने को भी 'रास' कहा है, इस प्रकार का नृत्य श्रीकृष्ण गोपियो के साथ किया करते थे।[3]

यद्यपि इन मतों को श्री ओझाजी ने काल्पनिक माना है तथापि उनमें निहित नृत्य, संगीत की महत्ता के आधार पर ही 'गीति-नाट्य' को रास-शैली से विकसित विधा मानकर उसमें पाश्चात्य 'Lyric-Drama' के वैयक्तिक तत्त्वों को स्वीकार किया है जिसमें आतंरिक संघर्ष, गेयता, अभिनय एवं संगीतात्मकता को स्वीकार किया है।

'उर्वशी' का आद्योपांत अनुशीलन करने के पश्चात् हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि यह काव्य मूलतः नाटक है, जिसमें नाटक के सभी लक्षण उपलब्ध हैं परन्तु यह गेय होने से तथा आतंरिक द्वन्द्व की प्रधानता एवं संगीतात्मकता होने से हम इसे 'गीति-नाट्य' कहें तो समीचीन होगा।

कथानक :

'उर्वशी' के कथानक के सूत्र वेद, पुराण, महाभारत, भागवद् आदि में निहित हैं, जिनका व्यवस्थित रूप कालिदास के 'विक्रमोर्वशी' मे निरूपित है।

दिनकर की कृति पर सर्वाधिक प्रभाव 'विक्रमोर्वशी' का ही है। मुख्य कथा के रूप मे पुरूरवा और उर्वशी का प्रसिद्ध प्रेम-वर्णन है जिसे आधिकारिक कथा के रूप मे माना जा सकता है। अन्य कथाएँ यथा—अप्सराओं का कार्य-व्यापार, औशीनरी का दुःखी और तिरस्कृत रूप, सुकन्या और च्यवन ऋषि की कथा आदि प्रासंगिक कथानक के रूप में हैं।

प्रथम अंक के प्रारम्भ में नटी और सूत्रधार की योजना है। वे नूपुरों की ध्वनि सुनकर, अप्सरियों को अवतरित देखते हैं और छिपकर उनकी बातें सुनते हैं। अप्सरायें धरती की सुषमा का गुणगान करती हैं। किसी प्रकार दैत्य द्वारा

1. इलस्ट्रेड वीकली ऑफ इण्डिया : श्री आर० के० कपूर : (१५ अक्टूबर सन् १९६१)।
2. देखिये—हिन्दी नाटक उद्भव और विकास : डॉ० दशरथ ओझा : अ० १२।
3. वही : अ० ४।

अपहृत उर्वशी राजा पुरूरवा द्वारा बचाई गई और किस प्रकार वह अपना दिल दे बैठी इसकी चर्चा करती हैं। और उर्वशी राजा के प्रेमाकर्षण में शायद स्वर्ग भी छोड़ दे इसकी शक्यता मानती हैं। इसी बीच चित्रलेखा आकर यह बताती है कि वह उर्वशी की राजा के प्रति अनुरक्ति और व्याकुलता देखकर, पुरूरवा के पास क्रीड़ावन में छोड़ आई है। पश्चात् वे सभी गीत गाती आकाश मार्ग से उड़ जाती हैं। इस अंक को आचार्य हजारीप्रसादजी सूच्यांक या विष्कम्भ की मर्यादा का अधिकारी मानते हैं।

द्वितीय अंक में महारानी औशिनरी महाराज और उर्वशी के प्रेम से अवगत हो चुकी हैं। वे अपनी सखी मदनिका से दोनों के प्रेम के सम्बन्ध में जिज्ञासा व्यक्त करती हैं। वह दोनों के प्रथम मिलन और प्रेम का परिचय देती हुई सूचना देती है कि महाराज उर्वशी के साथ एक वर्ष के लिए गन्धमादन पर्वत पर जाकर रहेंगे। लौटने पर नैमिषेय यज्ञ करेंगे। उसमें पत्नी के रूप में आपका रहना आवश्यक है। महारानी यहाँ नारी की विवशता का वर्णन करती हैं। कंचुकी तभी यह सूचना आकर देती है कि महाराज गन्धमादन पर्वत पर पहुँच गए हैं। वे वहाँ से पुत्राभाव में अपनी बेचैनी और रानी को धर्मरत रहने का संदेश भिजवाते हैं। भारतीय नारी की प्रतीक रानी यहाँ भी राजा की मंगल-कामना ही करती है।

तृतीय अंक में कथांश नहीं के बराबर है। यहाँ पुरूरवा और उर्वशी अपने-अपने मनोभावों को व्यक्त करते हैं। उर्वशी मनुष्य की आग और प्रेम के प्रति आकर्षित है। वह बुद्धि पक्ष से अधिक हृदय पक्ष से अपना अनुराग व्यक्त करती है। आचार्य हजारीप्रसाद जी 'उर्वशी' को समाधिस्थ चित्त की देन एवं कला का कमनीय पुष्प मानते हुए लिखते हैं—"उर्वशी का यह तृतीय अंक स्वर्ग और मर्त्य, कल्प-लोक और वास्तविकता वेग और विराम के द्वन्द्व का अद्भुत गान है। ...... "यह अंक कवि के समाधिस्थ-चित्त की देन है।"... "कवि के प्राणों को वेधकर उसका समग्र रस आत्मसात् करके निकली हुई काव्यलता का सर्वाधिक कमनीय कुसुम है—रंगीन, मादक, शामक!"[1]

चतुर्थ अंक में महर्षि च्यवन के आश्रम में उर्वशी के शिशु-पुत्र को गोद में लिए सुकन्या दिखाई देती है। तभी चित्रलेखा का आगमन होता है। यहाँ च्यवन ऋषि और सुकन्या का प्रमाख्यान वर्णित है। इस आख्यान में कवि ने परंपरागत पौराणिक विवाह का कारण न बताकर इनके विवाह का कारण प्रथम साक्षात्कार में एक-दूसरे के प्रति आकृष्ट होकर विवाह का कारण बताया है। तभी उर्वशी आकर अपने पुत्र को छाती से लगाती है और किस प्रकार भरत मुनि के शाप से उसे स्वर्ग-च्युत होना

---

१. दिनकर सृष्टि और दृष्टि (प्रौढ़ किन्तु सुकुमार रचना : उर्वशी आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी : पृ० २१६।

पड़ा, उसको कथा सुनाती है और इस अभिशाप की चर्चा करती है कि वह पति या पुत्र किसी एक को ही पा सकेगी, इसलिए वह पुत्र को सुकन्या के पास छोड कर पुरूरवा के पास चली जाती है। इधर राजा का यज्ञ भी पूर्ण हो जाता है।

पंचम अंक में राजा पुरूरवा राजप्रासाद मे उर्वशी, राजपण्डित राज-ज्योतिषी के साथ चिन्ता की मुद्रा मे दिखाई देते हैं। राजा अपने स्वप्न का वर्णन करते हैं जिसमे वे च्यवन के आश्रम में एक दिव्य बालक के दर्शन का वर्णन करते हैं। राज-ज्योतिषी स्वप्न का फल बताते हुए कहते है कि आप आज सध्या तक पुत्र को राज्य सौंप कर प्रव्रजित हो जायेंगे। प्रतिहारी से सूचना पाकर राजा तपस्विनी सुकन्या और ब्रह्मचारी को बुलाते हैं। सुकन्या के सूचन से ब्रह्मचारी पिता पुरूरवा और माता उर्वशी को प्रणाम करता है। राजा उसे गले लगाते है और तभी शाप के कारण उर्वशी स्वर्ग चली जाती है। राजा क्रोधावेश मे स्वर्ग पर आक्रमण की आज्ञा देते हैं परन्तु आकाशवाणी और महाआमात्य के समझाने पर पुत्र 'आयु' को राज्य सौंप कर प्रव्रज्या ग्रहण करते है। औशिनरी राज-भवन में राजमाता का पद प्राप्त कर रहती है। इधर सुकन्या भी आशीर्वाद देकर तपोवन चली जाती है।

नवीन दृष्टि

दिनकर ने कथानक मे मनोवैज्ञानिक तथ्यों का निरूपण किया है। उसका ध्येय वैदिक आख्यान की पुनरावृत्ति या प्रत्यावर्तन नही रहा। अपनी नूतन दृष्टि को अभिव्यक्त करते हुए कवि ने *'उर्वशी'* की भूमिका मे लिखा है—*"उर्वशी" शब्द का* कोषगत अर्थ होगा—उत्कट अभिलाषा, अपरमित वासना, इच्छा अथवा कामना। और 'पुरूरवा' शब्द का अर्थ है—वह व्यक्ति जो नाना प्रकार का रव करे, नाना ध्वनियों से आक्रान्त हो।

'उर्वशी चक्षु' रसना, घ्राण, त्वक् तथा श्रोत की कामनाओं का प्रतीक है। पुरूरवा रूप, रस, गंध, स्पर्श और शब्द से मिलने वाले सुखो से उद्वेलित मनुष्य।

पुरूरवा द्वन्द्व में है क्योंकि द्वन्द्व मे रहना मनुष्य का स्वभाव है। सुख की कामना करता है और उसमें आगे निकलने का प्रयास भी।"[1]

'उर्वशी' के कथानक काम, आकर्षण सौन्दर्य का मनोवैज्ञानिक रूपाकन मिलता है। अनादि काल से नर-नारी एक-दूसरे के प्रति आकर्षित रहे है। उनमे एक स्वाभाविक भूख और तृपा छिपी रहती है। दोनों की यह पारस्परिक बुभुक्षा आत्म-स्तर पर अवचेतन मे हो शात होती है। नारी के भीतर एक नारी छिपी रहती है जिसका अनुसन्धान मनुष्य तभी कर पाता है, जब वह कायिक प्राचीर का अतिक्रमण कर मानस तल में उतर जाता है। इसी प्रकार स्थूल नर मे एक सूक्ष्म नर का निवास है जिसकी प्राप्ति नारी के आलिंगन से नही, अपितु आत्मा में निमग्न होकर ही होती है। प्रेम का यही समाधिस्थ धरातल उसकी सफलता है। फ्रायड ने भी

---

१. उर्वशी, (भूमिका) : पृ० ख।

काम को एक-मात्र वासना का प्रतीक नहीं माना, परन्तु उसे विराट् प्रेम का प्रतीक माना है। वैदिक-शास्त्रों में भी 'काम' की ऐसी ही अत्युन्नत अवस्था का वर्णन मिलता है। कहने का तात्पर्य है कि पुरवा और उर्वशी की कहानी प्रेम और उसके विस्तृत धरातल की कहानी है। प्रेमी के लिए किसी भी कठिन कार्य की प्रेरणा— प्रेम की ही प्रेरणा है। प्रेमियों का मिलन जैसे उन्हें सुध-बुध हीन बना देता है।

उर्वशी के प्रथम दो सर्ग तो शृंगार चेतना भारतीय आदर्शों के बीच पल्लवित हुए हैं परन्तु तीसरा सर्ग काम के मनोवैज्ञानिक तथ्यों का निरूपित है। इसमें कवि की वैयक्तिक सौन्दर्य भावनाएँ सम्मिश्रित हैं।

'उर्वशी' की कथा में तृतीय-सर्ग में पुरूरवा और उर्वशी का प्रेम, सौन्दर्य, काम को लेकर जो लम्बे संवाद प्रस्तुत हुए हैं वे कथानक में किंचित नीरसता भी उत्पन्न करते हैं। दिनकर अपनी मान्यताओं को येनकेन प्रकारेण पुष्ट करने में दत्तचित्त हो जाते हैं। परिणाम-स्वरूप कथानक और पात्रों की स्वाभाविकता को भी विस्मृत करते हैं। इस दुर्बलता के कारण प्रेमी उर्वशी और पुरूरवा प्रेम की व्याख्या में ही विशेष संलग्न दिखाई देते हैं।

इस दुर्बलता को छोड़कर समग्र दृष्टि से 'उर्वशी' श्रेष्ठ कृति है। 'उर्वशी' में 'रसवन्ती' की सरस्वती पुनः प्रकट होकर वेग से प्रवाहित हो उठती है। शृंगार-रस का अंगीरस में बड़े ही सुन्दर ढंग से चित्रण हुआ है। अन्य रस भी प्रसंगानुसार स्थान पा सके हैं। सच तो यह है कि कवि की भाषा, गुण, छन्द, अलंकार, प्रकृति-चित्रण सभी का चरम विकास 'उर्वशी' है।

'उर्वशी' के अन्तर्गत कवि ने नारी के विविध रूपों को प्रस्तुत किया है। उसका स्वैर-विहार अप्सराओं के साथ है, परन्तु श्रद्धा और महत्ता मातृत्व को ही मिली है।

निष्कर्षतः हम इसे दिनकर की भावनाओं और शिल्प का सर्वोच्च फल कहें तो उचित ही होगा। डा० नगेन्द्र ने इसे सर्वश्रेष्ठ सिद्ध करते हुए लिखा है—'भाव, कल्पना और विचार से परिपुष्ट 'उर्वशी' की कविता में भावों को आन्दोलित करने, प्रबुद्ध कल्पना के सामने मूर्त-अमूर्त के रमणीय चित्र अंकित करने और विचारों को उद्बुद्ध करने की अपूर्व क्षमता है।'[1]

नरेन्द्र शर्मा ने 'उर्वशी' में 'कामायनी' की मनोभूमि, पन्त-काव्य का कोमल-कान्त पदावली और निसर्ग-शोभा, निराला का ओज तथा महादेवी की वेदना समुचित समावेश माना है। आधुनिक काव्य के परिवार में उज्ज्वल कुल-दीपक के रूप में अभिनन्दनीय प्रयत्न माना है।[2]

---

१. दिनकर सृष्टि और दृष्टि, सं० गोपालकृष्ण कौल (अन्तर्मथन का काव्य उर्वशी, डा० नगेन्द्र) : पृ० २२३।

२. वही (मणिकुट्टिम काव्य, उर्वशी, नरेन्द्र शर्मा) पृ० २३६।

पंचम अध्याय

भावपक्ष

अब तक हम दिनकर के व्यक्तित्व एवं कृतित्व का एक सामान्य परिचय प्रस्तुत कर चुके है, और ऐसी स्थिति मे आ चुके है कि जहां सभी कृतियों को सामूहिक रूप से सामने रखकर विश्लेषण-विवेचन संभव है। इस दृष्टि से प्रस्तुत अध्याय मे हम दिनकर-काव्य के वस्तु पक्ष पर विचार करेंगे।

वर्ण्य-विषय :

दिनकर की काव्य-कृतियों के अध्ययन-मनन के पश्चात् हम इस तथ्य से अवगत होते है कि दिनकर ने अपनी कृतियों में मूल विषय के रूप मे राष्ट्रीयता एवं श्रृंगार भावनाओ को ग्रहण किया है। इन विषयो मे भी उसकी वाणी का स्वर-निनाद राष्ट्रीय रचनाओं मे ही विशेष उच्च रहा। श्रृंगार के साथ-साथ कवि ने प्रेम, काम आदि विषयो को भी स्थान दिया।

दिनकर ने अपने मूल विषयो को इतिहास एवं पुराण के कथानकों को आधार-रूप ग्रहण कर अभिव्यक्त किया है। यद्यपि कवि का उद्देश्य न तो पुराण की कथा लिखना रहा और न इतिहास का पुनरावर्तन ही, तथापि कवि ने पुराण और इतिहास को आधार मानकर अपनी कवित्व-शक्ति के सहारे प्राचीन कथानकों को युगानुरूप अंकित किया, जिनसे विषय की स्पष्टता एवं गरिमा को बल प्राप्त हुआ।

'रसवन्ती', एवं 'नीलकुसुम' जैसी परवर्ती प्रगतिवादी रचनाओं मे जहां कवि की वैयक्तिक अनुभूतियों को ही विशेष महत्व मिला है—को छोड़कर प्रायः सर्वत्र ऐतिहासिक और पौराणिक अतीत को ग्रहण किया गया है।

वर्ण्य विषय के मूल स्रोत अधिकांशतः कवि ने इतिहास एवं पुराण से ग्रहण किए हैं। अतः वर्ण्य विषय की दृष्टि से दिनकर की कृतियां मुख्य रूप से दो भागो में विभाजित की जा सकती हैं—

१. ऐतिहासिक वर्ण्य-विषय से युक्त रचनाएं।
२. पौराणिक वर्ण्य-विषय से युक्त रचनाएं।

ऐतिहासिक वर्ण्य-विषय से युक्त रचनाएँ

इतिहास का काव्य विषय के रूप में स्वीकार कवि की मुक्तक रचनाओं में ही मिलता है। 'रेणुका', 'हुँकार', 'सामधेनी', 'इतिहास के आँसू', 'दिल्ली' आदि मुक्तक सकलनों मे अतीत का गौरव-गान एवं इतिहास की स्मृति ही है।

ऐतिहासिक पात्रों, स्थानों एवं घटनाओं को अंकित करते हुए इतिहास के माध्यम से कवि ने देश के समक्ष उस अतीत को प्रस्तुत किया है जो देश के युवकों में सदैव प्रेरणा प्रेरित करता रहा।

कवि ने अतीत के गौरव-गान के अन्तर्गत विहार-भूमि के गौरवशाली अतीत को ही विशेष रूप से महत्व प्रदान किया है। कवि का ध्यान सदैव वर्तमान की चित्रपटी पर भूतकाल को सम्भाव्य बनाने में प्रयत्नशील रहा।[1]

देश में व्याप्त अत्याचार, अनीति एवं शोषण को देखकर वह बार-बार देश के उस उज्ज्वल इतिहास का स्मरण करता है। जब वह देश की ललनाओं का सतीत्व उजडते हुए देखता है तब उसे उन वीरों की याद आती है जिन्होंने नारियों की रक्षा के लिए अपना सर्वस्व होम दिया था। गुलाम देश की सुप्तावस्था में कवि चित्तौड़ और प्रताप को पुकारता है जिसने स्वतन्त्रता के दीपक को प्रज्ज्वलित रखने के लिए जंगलों की खाक छानी थी। शासकों का अत्याचार देखकर कवि को राम और कृष्ण की याद आती है जिन्होंने प्रजा के सुख के लिए सर्वस्व न्योछावर कर दिया था। दलितों की दलित देखकर उसे बुद्ध और महावीर के वे कार्य स्मरित होते हैं जिन्होंने दलितों को अपनाया था एवं अपने उपदेशों से शांति एवं सुख का निर्माण किया था।

मिथिला-भूमि को उजडी हुई देखकर उसे अशोक और चन्द्रगुप्त कालीन वैभव याद आता है। कवि गंगा से अतीत के गौरवशाली महापुरुषों की गाथाएँ पूछता है। उसे समुद्रगुप्त का स्मरण होता है जिसने दुश्मनों के खून से रंगी तलवार को अनेक बार गंगा के जल में धोया था। एक युग था जब यूनान ने मस्तक झुकाकर भारत को अपनी पुत्री अर्पित की थी और आज वही कीर्ति कहीं छिपकर रोती हुई दृष्टिगत होती है। कवि क्रांति को जागृत करने की प्रेरणा भी इतिहास-प्रसिद्ध विभूतियाँ भूषण और लेनिन से प्राप्त करता है।[2]

'कलिंग-विजय' के नायक इतिहास-प्रसिद्ध प्रियदर्शी अशोक हैं। इस रचना द्वारा कवि ने युद्ध के विनाशक पक्ष को प्रस्तुत किया है तथा अशोक के मन का परिवर्तन प्रस्तुत कर युद्ध पर शांति की विजय प्रस्थापित की है। यही ऐतिहासिक-काव्य 'कुरुक्षेत्र' की पृष्ठभूमि बन गया।

'इतिहास के आँसू' में 'मगध-महिमा' के अन्तर्गत कवि बिखरे हुए वैभव का बड़े ही अनूठे ढंग से चित्रण करता है, इतिहास जैसे साकार प्रहरी बनकर सब कुछ सुन रहा है। उस बूढ़े के सामने अतीत चलचित्र की भांति अंकित होता है।

१. रेणुका (मंगल-आह्वान) पृ० ग।
२. वही : (कस्मैदेवाय) : पृ० ३३।

ऐतिहासिक अतीत को अपनाने की प्रेरणा कवि को दो सूत्रों से प्राप्त हुई। प्रथम, छायावादी कवियों से जो अतीत में खोकर सन्तोष ढूँढ रहे थे। और दूसरे द्विवेदी-कालीन कवि मैथिलीशरण एवं अन्य राष्ट्रीय कवियों से जो अतीत से प्रेरणा ग्रहण कर अपनी रचनाओं द्वारा देश मे राष्ट्रीय जागरण की ज्योति प्रज्ज्वलित कर रहे थे।

दिनकर ने छायावादियों की स्वान्तःसुखाय की स्मरण-पद्धति का अनुसरण नही किया। उसे राष्ट्रीय कवियों का दृष्टिकोण ही योग्य लगा। यही कारण है कि दिनकर ने भी इतिहास का एकमात्र गुणगान नही किया, अपितु उससे सतत प्रेरणा ग्रहण की और सुप्त सिंहो को क्रांति के लिए ललकारा।

ऐतिहासिक विषय द्वारा कवि ने जिस चेतना को उद्भूत किया वह कवि की राष्ट्रीय विचार-धारा का ही प्रस्तुतीकरण है। दिनकर की कृतियो मे ग्रहीत इतिहास जैसे साकार हो उठा है। अधिकाशतः कवि को इतिहास के वे ही पात्र अधिक आकर्षक लगे जिनकी शिराओं का रक्त अग्नि-सा प्रज्ज्वलित था।

पौराणिक वर्ण्य विषय से युक्त रचनाएँ

पौराणिक कथानको के आधार पर दिनकर ने मुख्य रूप से तीन प्रबन्ध एव एक मुक्तक की रचना की है।' कुरुक्षेत्र', 'रश्मिरथी' और 'उर्वशी' एव 'परशुराम की प्रतीक्षा'।

कवि ने पौराणिक कथानकों द्वारा आधुनिक युग की समस्याएँ—युद्ध, काम, प्रेम आदि को नए ढग से प्रस्तुत करने का प्रयास किया है। पौराणिक कथानको मे अपने विषय के अनुरूप कवि ने परिवर्तन भी किए है और नवीन योजना द्वारा अपनी मौलिकता का सम्मिश्रण भी किया है।

अब हम क्रमशः उनके प्रबन्धो के वर्ण्य विषय की विवेचना करेंगे, जिसके अन्तर्गत कवि द्वारा स्वीकृत मूल स्रोत और परिवर्तन पर विचार करेंगे तथा निरूपित विषय की गरिमा एवं नाविन्य का अध्ययन करेंगे।

'कुरुक्षेत्र' का मूल स्रोत :

'कुरुक्षेत्र' का मूल स्रोत 'महाभारत' मे मिलता है। भले ही 'महाभारत' के 'शान्ति-पर्व' के प्रारम्भ मे नारद मुनि ने धर्मराज से पूछा कि हे युधिष्ठिर ! तुमने इस युद्ध मे विजय प्राप्त कर इस अपार वैभव को तो प्राप्त किया, परन्तु क्या तुम्हें नर-संहार से किसी प्रकार का शोक नहीं हुआ ? उस समय युधिष्ठिर ने कहा था कि मुझे बन्धु-बान्धवों के नाश के पश्चात् प्राप्त विजय भी पराजय-सी लगती है—

"वयं तु लोभान्मोहाच्च दभं मान च सश्रिताः।
इमामवस्था संप्राप्ता राज्यलाभ बुभुत्सया।

त्रैलोकस्यापि राज्येन, नास्माान्कश्चित्प्रहर्षयेत्
बान्धवान्निहतान्दृष्ट्वा, पृथिव्या विजयैषिण. ।"[1]

युधिष्ठिर इसी पर्व में यह भाव भी व्यक्त करते है कि वे ऐसे क्षात्र-धर्म का धिक्कारते हैं कि जिसमे बन्धुओं का खून बहाकर, गुरुजनो का अपमान कर विजय प्राप्त की गई हो। वे तो वनचारियो की तरह भिक्षा मागकर ही जीवन-यापन श्रेष्ठ मानते हैं। राज्य-लिप्सा के लिये उन्होंने जो रक्तपात किया वह उनमे निर्वेद और वैराग्य के भाव जागृत करने लगा। जब उन्हें यह विदित हुआ कि कर्ण उन्हीं का भाई था तब उनका मन और भी शोक-सन्तप्त हो उठा। चारो भाई और श्रीकृष्ण उन्हे समझाते हैं और द्रौपदी तो उन्हे क्लीव कहकर व्यंग कसती है, परन्तु इन व्यंगों और उपदेशो का युधिष्ठिर पर कोई प्रभाव नही पडता। अपने सन्तप्त हृदय का हाल वे व्यासजी से कहते हैं। व्यासजी उन्हे कर्मयोग की शिक्षा देते हैं और छात्र-धर्म का उपदेश देते हैं। युद्ध के मैदान मे कर्त्तव्य का पालन करते हुये की गई हिंसा में भी वे पाप नही मानते।

व्यासजी राज-धर्म की शिक्षा के लिए उन्हे शर-शैया पर शयित पितामह भीष्म के पास श्रीकृष्ण के साथ भेजते है। श्रीकृष्ण के साथ वे भीष्म पितामह के पास पहुचते हैं परन्तु लज्जा और भय मे कुछ कह नही पाते, अत श्रीकृष्ण कहते हैं—'लोक का सहार करके अभिशाप के भय से तथा बाणो से पूज्य, मान्य, भक्त, गुरु, सम्बन्धी एव बान्धव सभी का विनाश कर ये आपके समक्ष बोलते हुए सकोच का अनुभव कर रहे हैं।'[2]

कृष्ण के इन वचनों को सुनकर और परिस्थिति को जानकर पितामह क्षात्र-धर्म और राज-धर्म की शिक्षा समुचित रूप मे देने लगे। इसी प्रकार पितामह युधिष्ठिरजी को अनेक उपदेशो द्वारा उनके मन की ग्लानि को दूर करते हैं और अन्त मे यह शिक्षा देते हैं कि उन्हे लोक-मगल का ध्यान रखते हुए राज्य करना चाहिए। और लोभ और अधर्म से धनार्जन की वाछा नही रखनी चाहिए। इस प्रकार व्यास जी और भीष्म पितामह द्वारा उपदेश श्रवण कर उनके मन की ग्लानि दूर होती है और वे राज्य-कार्य मे सलग्न हो जाते हैं।

मूल कथा में परिवर्तन एव नवीन उद्भावनाएँ :

महाभारत' की इस मूल कथा के आधार पर ही दिनकरजी ने इस कृति मे अपनी मौलिक उद्भावनाओ का अवलम्बन कर महात्मा भीष्म से धर्मराज युधिष्ठिर को कर्तव्य का उपदेश दिलाया है। कवि ने महाभारत के इस कथानक मे से युधिष्ठिर और भीष्म के पात्र को अपनाकर युद्ध और उसकी समस्याओ पर विचार

१. महाभारत, शांतिपर्व, अ० ७, श्लोक : ७-८।
२. 'महाभारत' (शान्तिपर्व), अ० ५५, श्लोक : १२-१३ का अनुवाद।

व्यक्त किये है। 'कुरुक्षेत्र' के युधिष्ठिर 'महाभारत' के युधिष्ठिर की तरह ही शोक-सन्तप्त है, परन्तु वे न तो व्यासजी के पास जाते हैं और न उन्हे श्रीकृष्ण ही समझाते हैं। युद्ध-भूमि मे व्याप्त नर संहार और भयानकता उनके हृदय को झकझोर डालती है और वे पश्चाताप की ज्वाला मे स्वय जलाने लगते हैं। मन के इस शमन के लिए वे स्वयं पितामह के पास पहुँचते है। कवि की यह सूझ है कि उन्होंने युधिष्ठिर को व्यास जैसे धार्मिक या कृष्ण जैसे राजनीतिक के पास न भेजकर कथा में थोड़ा-सा परिवर्तन कर उन्हे सीधा वीर पितामह के पास भेजे है। क्योंकि पितामह ही ऐसे व्यक्ति थे जो सच्चे अर्थों मे वीर और राजनीति के ज्ञाता थे।

दूसरे महाभारत की तरह कवि ने धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष जैसे तत्वों के स्थान पर युद्ध और उसकी समस्याओ के तत्वो पर विचार किया है और अन्त मे युधिष्ठिर मे जिस प्रकार महाभारतकार ने सन्तोप की भावनाओ का सृजन किया है वैसा न कर कवि ने उस मानव के रूप मे अंकित किया जो हमेशा धर्म के प्रदीप को जलाते हुए मनुष्य की प्रगति का इच्छुक है।

नवीन दृष्टि :

महाभारत और 'कुरुक्षेत्र' के उद्देश्यो मे भी पर्याप्त अन्तर है। महाभारत में व्यासजी सद्राज्य तंत्र की महिमा का वर्णन करते है जबकि कुरुक्षेत्रकार ने साम्य पर आधृत शासन की स्थापना पर जोर दिया है। कवि भीष्म के मुख से राज्यतंत्र की निन्दा और लोकतंत्र की प्रशसा करता है। कवि ने 'कुरुक्षेत्र' मे समाजवादी विचार-धारा का स्वर विशिष्ट रूप से ऊँचा किया है।

'कुरुक्षेत्र' का छठा सर्ग युद्ध की समस्या पर कवि का मौलिक चिन्तन प्रस्तुत करता है जो सर्वथा मौलिक है, जिसका कथानक से पूर्वापर विशेष सम्बन्ध न होने पर भी पूर्ण लगता है। कवि ने विज्ञानवाद से उत्पन्न बुद्धिवाद और तत्जन्य विनाशकारी सूत्रों की चर्चा करते हुए हृदय के महत्त्व का स्वीकार किया है। शांति के हेतु हृदय की कोमलता ही आवश्यक तत्त्व है।

'कुरुक्षेत्र' में कवि ने भीष्म द्वारा युद्ध के औचित्य के अतिरिक्त लोकहित, साम्य की भावनाएँ, वर्गहीन समाज, न्याय पर आधारित आर्थिक व्यवस्था आदि का उपदेश प्रस्तुत कर महाभारत से भिन्न अपनी मौलिकता का परिचय दिया है।

कथानक के उपरान्त 'कुरुक्षेत्र' के भीष्म और युधिष्ठिर भी महाभारत की तरह नहीं हैं। पात्र भी जैसे कवि की नवीन विचार-धारा के वाहक हैं।

निष्कर्षतः यह कहा जा सकता है कि महाभारत मे ग्रहीत कथानक और पात्रो के माध्यम से कवि आधुनिक युद्ध विज्ञान की विनाशकारी शक्तियो, मनुष्य स्वार्थ वृत्तियों एवं निरंकुशता के विपरीत 'कुरुक्षेत्र' कवि के विचारो की समर्थ प्रबन्धात्मक अभिव्यक्ति है।

रश्मिरथी का मूल स्रोत :

महाभारत में कर्ण के जीवन-सम्बन्धित कथा का उल्लेख अनेक स्थानों पर मिलता है। सर्वप्रथम 'आदिपर्व' के ११०वें अध्याय मे इस प्रकार का उल्लेख मिलता है कि भगवान सूर्य ने कुमारी कुंती से समागम किया जिसके परिणामस्वरूप कर्ण का जन्म हुआ। 'वनपर्व' के ३०७ और ३०८ अध्यायों में कर्ण के जन्म के विषय मे लिखा है कि वे सूर्य द्वारा कुती से उत्पन्न हुए। पुन कुती ने लज्जावश उन्हें मंजूषा मे बद कर गंगा मे प्रवाहित कर दिया । इसी पर्व के ३०९वें अध्याय मे लिखा है कि राजा धृतराष्ट्र के सूत अधिरथ और उसकी पत्नी राधा ने उन्हे प्राप्त कर उनका भरण-पोषण किया।

'रगभूमि' मे कृपाचार्य एव भीम द्वारा कर्ण के अपमान तथा दुर्योधन द्वारा सम्मानित करने की कथा 'आदिपर्व' के १३५ और १३६वें अध्याय मे है। रगस्थल मे प्रविष्ट होकर कर्ण ने अर्जुन से कहा कि तुम ने जो कुछ शस्त्र कौशल दिखाये है उनसे अधिक अद्भुत कर्म मैं दिखा सकता हूँ, तुम अपने कर्म का गर्व न करो। तदनन्तर वह अपने कौशल को दिखाता है जिससे लज्जित होकर अर्जुन कहते है कि बिना बुलाये आने वालो को निन्दनीय लोक प्राप्त होना है। कर्ण यहाँ पर अर्जुन को युद्ध के लिए ललकारते हैं। कुती दोनों पुत्रो को युद्ध-सन्नद्ध देखकर मूर्छित हो जाती है। कृपाचार्य कर्ण से उसके कुल का परिचय पूछते है एव कहते हैं कि राजकुमार अज्ञात कुल शीलो के साथ युद्ध नहीं करते।

> "अय पृथायास्तनय. कनीयान् पाण्डुनन्दन. ।
> कौरवो भवत्ता सार्वं द्वन्द्व युद्धं करिष्यति ॥
> त्वमप्येव महाबाहो मातर पितर कुलम् ।
> कथयस्व नरेन्द्राणा येषा त्व कुल भूषणम् ॥
> ततो विदित्वा पार्थस्त्वां प्रति योत्स्यति वा न वा
> वृथा कुल समाचारैर्न युद्धन्ते नृपात्मजा. ॥"[1]

यह सुन कर कर्ण का सिर लज्जा से अवनत हो गया तब दुर्योधन ने उसी समय कर्ण को अगदेश का अधिपति बनाकर अभिषिक्त किया। तदनन्तर कर्ण युद्ध-भूमि मे अवतरित होते है और भीम उनका तिरस्कार करते है। तब दुर्योधन भी भीम की अवहेलना करते हुए उनके और उनके भाइयों के जन्म के विषय मे पूछते हैं।

परशुराम से शस्त्र-प्राप्ति विषयक घटना महाभारत मे उद्योगपर्व के ६२वें अध्याय मे मिलती है। यहाँ धृतराष्ट्र के बार-बार अर्जुन के बल के विषय मे प्रश्न किए जाने पर दुर्योधन को प्रसन्न करने के लिए कर्ण स्वयं कहते हैं।

---

१. महाभारत (आदि पर्व) : अध्याय १३५, श्लोक ३१ से ३३ तक।

"मिथ्या प्रतिज्ञाय मया यदस्त्रं
रमात् कृतं ब्रह्ममयं पुरस्तात् ।
विज्ञाय तेनास्मि तदैव मुक्त-
स्तेनान्तकाले प्रतिभास्य नीति ।"[1]

अर्थात् मैंने पूर्वकाल में मिथ्या ही अपने को ब्राह्मण बताकर परशुरामजी से ब्रह्मास्त्र की शिक्षा ग्रहण की थी तब उन्होंने मेरा यथार्थ परिचय जानकर मुझ से कहा था कि अन्त समय मुझे यह ब्रह्मास्त स्मृत न रहेगा, परन्तु उन्होंने अनुग्रह-वश शाप न दिया । वह ब्रह्मास्त्र अब भी मेरे पास है अतः मैं पाण्डवों के हनन के लिए अभी भी समर्थ हूँ ।

पाण्डवों के अज्ञातवास के पश्चात् श्रीकृष्ण के द्वारा शांति-सदेश, दुर्योधन द्वारा उनके बन्दी बनाने की चेष्टा तथा श्रीकृष्ण द्वारा विराट रूप दिखाने की घटनायें उद्योग पर्व के १२४, १३० और १३१वें अध्याय मे वर्णित हैं । श्रीकृष्ण रथ मे बैठाकर हस्तिनापुर जाते हुए मार्ग मे कर्ण को समझाते हैं । और उसे कुन्ती का पुत्र बतलाते हुए यह प्रलोभन देते हैं । कि यदि वह पाण्डव पक्ष मे आ जाय तो द्रोपदी के साथ उसका राज्याभिषेक करेंगे । यह सूत्र इसी पर्व के अध्याय १४०-१४१ में उल्लेखित हुआ है । कर्ण उनसे स्पष्ट कह देता है कि माँ ने जिस प्रकार मेरा त्याग किया और सारथी ने जिस तरह मेरा पालन-पोषण किया है उसे मैं कभी भूल नही सकूंगा । मैं किसी भी भय या लोभ के कारण दुर्योधन के साथ विश्वासघात नही करूंगा । वह अन्त मे मधुसूदन से प्रार्थना करता है कि वे युधिष्ठिर से यह न कहें कि कर्ण उनका बड़ा भाई है अन्यथा वे राज्य ग्रहण नही करेंगे ।

इन्द्र द्वारा ब्राह्मण का वेश धारण करके कर्ण के कवच कुण्डल ले जाने और अमोघ एकघ्नी शस्त्र को दे जाने की कथा 'वनपर्व' के ३१०वें अध्याय मे अंकित हुई है ।

गंगा-तट पर सूर्योपासना करते समय कर्ण के समीप कुन्ती के जाने एवं उसके द्वारा जन्म के रहस्य को बताने तथा कर्ण के द्वारा अर्जुन के अतिरिक्त चार भाइयों को न मारने की कथा 'उद्योग पर्व' के अध्याय १४४, १४५ और १४६ में वर्णित है ।

शर-शैया पर पड़े भीष्म के समीप जाने और सम्भाषण के पश्चात् उनसे युद्ध की आज्ञा लेने की कथा 'भीष्म पर्व' के १२२वें अध्याय मे प्रतिपादित हुई है ।

कर्ण के साथ घटोत्कच के युद्ध एवं अन्त मे कर्ण द्वारा एकघ्नी शस्त्र से उसके संहार की घटना 'रश्मिरथी' मे 'द्रोणपर्व' के १७९ वें अध्याय के आधार पर हैं ।

१. महाभारत (उद्योग पर्व) : अ० ६२, श्लोक २ ।

कर्णार्जुन युद्ध का वर्णन 'कर्ण पर्व' के अध्याय ६० और ६१ में मिलता है। नाग-बाण का उल्लेख भी महाभारत में मिलता है। भयंकर युद्ध, कर्ण के रथ-चक्र का महीगत हो जाना, अर्जुन का बाण मारने को उद्यत होना, कर्ण का अर्जुन को कर्तव्य का उपदेश देना और श्रीकृष्ण द्वारा कर्ण की भर्त्सना करना और अर्जुन द्वारा कर्ण का मार डाला जाना, ये सभी वर्णन 'कर्ण पर्व' के ६०-६१ अध्याय में हैं।

इन घटनाओं के उपरान्त द्रौपदी का दुःशासन द्वारा सभा में बलपूर्वक केश पकड़ कर लाया जाना राजा शल्य का कर्ण के सारथी के रूप में कार्य करना महाभारत में वर्णित है।

मूल कथानक में परिवर्तन एवं नवीन उद्भावना :

यद्यपि कर्ण का चरित्र भारतीय पाठक के लिए कोई नई बात नहीं है परन्तु 'रश्मिरथी' में कवि ने जिस ओज और तेज से मण्डित कर प्रस्तुत किया है वह पठनीय बन गया है। कवि ने कर्ण के मानस द्वन्द्व को स्पष्ट करने के लिए इन्द्र-कर्ण संवाद, कुन्ती-कर्ण संवाद और भीष्म-कर्ण संवाद में अपनी कल्पना शक्ति के योग से विचार तत्व को गर्भीयं प्रदान किया है। कर्ण का कुन्ती के प्रति जो भाव महाभारत में मिलता है उसे दिनकर ने कोमल बनाकर अंकित किया है। कवि ने कर्ण के पात्र को महाभारत के पात्र से थोड़ा-सा परिवर्तित कर आधुनिक युग के रूप में चित्रित किया है जो शक्ति को ही सर्वश्रेष्ठ मानता है। इसका दृढ़ विश्वास है कि सामाजिक प्रतिष्ठा भी मानव की स्वयं अर्जित सिद्धि है।

महाभारत में कौरव घटोत्कच पर शक्ति चलाने का आग्रह करते हैं जबकि 'रश्मिरथी' में मात्र दुर्योधन ही।

कर्ण के तूणीर में स्थिति नाग-बाण को कवि ने आधुनिक मानवतावादी दृष्टिकोण को अपना कर उसे त्याज्य बनाया है। मृत्यु के सम्मुख स्थित कर्ण सर्प-बाण चलाकर मानवता को लज्जित नहीं करना चाहता।

कवि ने महाभारत के सभी प्रसंगों मनुजत्व के प्रतिपादन के लिए ग्रहण किया है। महाभारत का इन्द्र कवच और कुण्डल पाकर विचलित नहीं होता। 'रश्मिरथी' का इन्द्र आत्मग्लानि का अनुभव करता है। कवि ने मनोवैज्ञानिक मोड़ देकर इन्द्र के प्रति भी सहानुभूति उद्भूत करा दी है।

कुन्ती और कर्ण का प्रसंग भी वैसे तो महाभारत के अनुरूप ही है परन्तु कवि ने भावना तर्क, विवशता और करुणा का रंग देकर कुन्ती के आत्म-संघर्ष का मनोवैज्ञानिक विश्लेषण किया है।

'रश्मिरथी' प्रबंध के अन्तर्गत दिनकरजी ने मूल कथानक में विशेष परिवर्तन तो नहीं किया है परन्तु कथा-प्रसंगों को इस ढंग से प्रस्तुत किया है कि कर्ण का चरित्र श्रेष्ठ बन गया है। कवि ने कर्ण के माध्यम से जातिवाद का सशक्त

विरोध कराया है और ऐसी समाज-व्यवस्था की मंगल-कामना की है जो व्यक्ति के गुणों पर आधारित हो।

उर्वशी का मूल स्रोत :

उर्वशी की कथा के मूल स्रोत वेद, ब्राह्मण-ग्रन्थ महाभारत तथा पुराणों में से मिलते हैं। संस्कृत साहित्य मे ऋग्वेद में सर्वप्रथम १०वें मडल के ९५वें सूक्त में आर्षदृष्टा ऋषि को उर्वशी के सर्वप्रथम दर्शन हुए। यहाँ सर्वप्रथम पुरुरवस् और उर्वशी का थोडा-सा संवाद मिलता है। उर्वशी पुरूरवा को मात्र-भोग्य पदार्थ ही समझती है। उसे इससे अधिक मोह नही। ऋग्वेद की उर्वशी स्वयम् पुरूरवा को छोड़कर चली जाती है। पुरूरवा उससे स्वयम् को छोड़कर नही जाने की प्रार्थना करता है। उर्वशी उसकी याचना पर ध्यान नही देती; उल्टे पुरूरवा से कहती है—"नारियों के साथ मैत्री कैसी ? उनके हृदय तो सियार और भेड़िये की तरह निर्दय और कठोर होते हैं।"[1]

ऋग्वेद के पश्चात् ब्राह्मण-ग्रन्थों में सर्वप्रथम 'सतपथ ब्राह्मण' मे ऋग्वेद की कथा से कुछ विशेष विस्तार मिलता है। इस ग्रथ मे ऐसा निर्देश मिलता है कि वह पुरूरवा के साथ आकर तो रहती है किन्तु शर्त करती है—"त्रि. स्मः माह्नो वैतसेन दण्डेन हतादकामा स्म मा निपद्यामै मो स्म त्वा नग्नं दर्शमेष वै न स्त्रीणामुपचार इति।" अर्थात् वह जब भी पुरूरवा को सपूर्ण नग्न रूप मे देख लेगी, तब उसे छोड़कर चली जायेगी। घटना भी ऐसी ही घटित होती है स्वर्ग के देव उर्वशी पृथ्वी पर रहे, यह वियोग सहन नही कर सकते। वे उर्वशी के शयन कक्ष मे बँधी दो भेडें चुराने का उपक्रम करते हैं, उर्वशी रक्षणार्थ चिल्लाती है; आर्तनाद सुनते ही पुरूरवा सहायतार्थ शर्त को भूल कर नाग्नावस्था मे ही दौडे आते हैं। देवतागण अपनी शक्ति से बिजली का प्रकाश फैलाते हैं, उर्वशी उन्हे नग्न देख लेती है और शर्त के भग होने के कारण स्वर्ग मे चली जाती है। उर्वशी को ढूढते-ढूढते राजा ने एक बार उसे सखियों के साथ स्नान करते देखा, वह पुनः लौटने की प्रार्थन करता है जिसे उर्वशी स्वीकार नही करती।

'शतपथ ब्राह्मण' की 'उर्वशी ऋग्वेद' की उर्वशी से मृदु, सुन्दर, शुद्ध एवम् उच्च भावना पूर्ण है।

'शतपथ ब्राह्मण' के पश्चात् इस कथा के अंश 'बृहद्‌वता' नामक ग्रंथ में मिलते है। वैसे इस ग्रंथ के अधिक अंश 'शतपथ ब्राह्मण' से मिलते-जुलते हैं। स्वयं देवेन्द्र उर्वशी का वियोग सहन नहीं कर पाते इसीलिए अपनी धूर्तनीति का उपयोग कर वज्र को भेज कर पुरूरवा और उर्वशी में भेद पैदा करवा देते हैं। उर्वशी स्वर्ग में चली जाती है। विरह-व्याकुल राजा एक बार उर्वशी को सखियों के साथ देखते हैं, उर्वशी से प्यार एवं सहचार की याचना करते हैं मगर उर्वशी सखेद यह कह कर इन्कार कर देती है कि अब वे स्वर्ग में ही मिल सकेंगे—

---

१. ऋग्वेद : १० : ९५।

"तामाह पुनरेहीति नेति सा त्वब्रवीन्नृपम् ॥
तामुपाह्वयत प्रीत्या दुःखात्मा त्वब्रवीन्नृपम् ।
अप्राप्याहं-त्वयाद्येह स्वर्गे प्राप्स्यसि मां पुनः ॥'[1]

जैसा कि ऊपर कहा है कि 'बृहद्देवता' में 'शतपथ ब्राह्मण' से मिलते-जुलते अश हैं परन्तु इस ग्रंथ के कथानक की अपनी विशिष्टता भी है। यहाँ भी इन दोनों प्रेमियों के मध्य विक्षेप किया गया है। उर्वशी को जाते समय वेदना होती है। नवीनता तो यह है कि उसका यह कहना कि 'अब स्वर्ग मे ही मिल सकते हैं'—उर्वशी के हृदय की पुनर्मिलन की आकाक्षा को व्यक्त करते हैं। यही आकांक्षा इस उर्वशी को पूर्व के दो रूपो से ऊँचा उठाती है अतः उसे हम प्रेमिका की कक्षा मे रख सकते हैं। 'बृहद्देवता' की उर्वशी मे मृदुता, स्नेह, सत्य एवम् सद्भाव हैं—जो पहले दो ग्रंथों में प्रायः नही मिलते।

बृहद्देवता के पश्चात् 'बृहत्-सहिता' मे इस कथानक के दर्शन होते हैं। दुर्भाग्य से आज 'बृहत्-सहिता' मूल रूप से उपलब्ध नही है किन्तु उसके जो तीन सस्कृत रूपांतर—१. कथा सरित्सागर २. बृहत्कथा-मजरी ३ बृहत्-कथाश्लोक मिलते हैं उनमे पुरूरवा और उर्वशी के कथानक का विस्तृत रूप दिखाई देता है। 'बृहत्कथा' के अनुसार उर्वशी के दर्शन से पुरूरवा उसके प्रति आकर्षित एवम् प्रेम-वश हो जाता है। पुरूरवा की यह स्थिति देखकर श्रीहरि इन्द्र को आज्ञा करते हैं कि वह पुरूरवा को उर्वशी सौंप दे—तदनुसार इन्द्र उर्वशी को पुरूरवा को सौंप देता है।

इसी प्रकार देव-दानव-युद्ध के समय पुरूरवा देवो की मदद करने स्वर्ग लोक मे आता है। वहाँ एक नृत्योत्सव मे वह रभा की कुछ अभिनय त्रुटियाँ जो उर्वशी के ससर्ग से वह जान सका था—निकालता है। रभा के गुरु तुम्बुरु को यह अरुचिकर लगता है वे उर्वशी का दोष समझकर पुरूरवा को 'तुझे उर्वशी का विरह होगा' कहकर अभिशाप देते हैं। शाप के अनुसार गधर्व उर्वशी को स्वर्ग मे ले जाते हैं। उर्वशी की स्थिति बडी ही दयनीय होती है।

'उर्वशी' के विरह मे पुरूरवा व्याकुल होता है वह अपनी तपस्या से 'अच्युत-भगवान' को प्रसन्न करता है—उर्वशी को प्राप्त करता है। उर्वशी के साथ आनद-किल्लोल करता हुआ स्वर्गीय भोगो को भोगता है।

मत्स्य पुराण मे सर्वप्रथम सम्पूर्ण कथा का व्यवस्थित रूप अंकित हुआ। मत्स्यपुराण की कथा के अनुसार पुरूरवा इन्द्र का मित्र था जो यथासमय स्वर्ग मे इन्द्र से मिलने जाया करता था। ऐसे ही एक बार उसने, केशी दैत्य को उर्वशी और चित्रलेखा का हरण करके ले जाते देखा और तुरन्त उन अप्सराओ के रक्षणार्थ गया तथा वायवास्त्रो से उसे हराकर उन्हें दैत्य के बधन से मुक्त किया। इससे उसे इन्द्र की मैत्री एवम् समृद्धि और भी अधिक प्राप्त हुई।

१. बृहद्देवता : ७।१४।१४६।

इसी मे आगे वर्णन है कि पुरुरवा एक बार स्वर्ग मे अभिनीत 'लक्ष्मीस्वयंवर' नाटक देख रहा था। नायिका का अभिनय करने वाली उर्वशी पुरूरवा को देखते ही पुरूरवा-मय हो गई और उससे अभिनय मे भूल हुई; अतः भरतमुनि ने उसे अभिशाप दिया कि उसे पचपन वर्ष तक पुरुरवा का विरह सहन करना होगा; पश्चात् वह लता रूप से पुनः मूल रूप प्राप्त कर सकेगी। इतना विरह भोगने के बाद ही दोनो पुनः मिले। उर्वशी को राजा पुरूरवा से आठ पुत्र उत्पन्न हुए यह कथा भी वर्णित है।

इन कथाओ के उपरात 'वेदार्थ-दीपिका' नामक ग्रंथ मे भी 'पुरूरवस् तथा उर्वशी की प्रणय-कथा प्राप्त होती है। इस ग्रंथ के अनुसार मित्र और वरुण दोनों यज्ञ की दीक्षा लेकर ब्रह्मचर्य का पालन कर रहे थे। उस समय उर्वशी ने आकर उन दोनों को मोहाध किया, जिससे क्रुद्ध होकर उन्होंने उर्वशी को मृत्यु-लोक मे जाने का शाप दिया यही शाप उसका सौभाग्य बन गया और धरती के सम्राट पुरुरवा की प्रणयिनी बन सकी। यहाँ एक बात और मिलती है कि उर्वशी पुरूरवा से वर्ष मे एक बार ही मिलती थी। इस अवधि-मर्यादा को दूर करने के लिए पुरुरवा यज्ञ द्वारा देवताओ को प्रसन्न करता है जिससे वह गधर्व-पद प्राप्त करता है और उर्वशी का आजीवन योग प्राप्त करता है। यह कथा पूर्ववर्ती सभी ग्रन्थों से पृथक है और रसिकता से प्लावित भी।

इन सब ग्रथो के पश्चात् उर्वशी का सर्वांगपूर्ण, साहित्यिक स्वरूप कविकुल गुरु कालिदास द्वारा लिखित नाटक 'विक्रमोर्वशीयम्' मे दिखाई देता है। यहाँ उर्वशी देवी कम किन्तु मानवी के रूप मे अधिक सफलता से चित्रित की गई है। 'विक्रमोर्वशीयम्' के कतिपय अश चूँकि मत्स्यपुराण के आधार पर ही है परन्तु कालिदास की उर्वशी मे जो चमक, प्रभावोत्पादकता, सौन्दर्य अनुराग की उच्चता, त्याग-प्रेम की तड़प, उत्कटता, अधीरता, आसक्ति, उदारता एव महानता प्रकट हुई है वह अन्यत्र कही व कभी नही हुई थी। पूर्वकालीन ग्रन्थो की तरह कालिदास पुरूरवा उर्वशी का वियोग अवश्य कराते है मगर अलौकिक तत्त्व की योजना द्वारा दोनो को मिला देते है और अंत मे भी अपनी युक्ति द्वारा वे उर्वशी को स्वर्ग जाने से रोक लेते है। पुरुरवा उर्वशी को सदैव के लिए प्राप्त कर लेता है। वियोग अवस्था मे कालिदास ने दोनों के प्रेम की परिशुद्धि की, जो केवल दैनिक न रह कर, हृदय के शाश्वत सम्बन्ध के रूप मे परिपक्व रूप से फलित हुई।

कालिदास ने उर्वशी में नाविन्य तो बढ़ाया ही है पात्रों की दृष्टि मे भी औशीनरी की पतिपरायणता विदुषक एवं निपुणिका का विनोदी रूप तथा आश्रम की तापसी का निर्माण नाटक को विशेष प्रभावशाली बनाते है।

मौलिकता

कालिदास के पश्चात् भारतीय साहित्य मे उर्वशी के विषय में कतिपय रचनाएँ उपलब्ध हैं परंतु दिनकर ने ऋग्वेद से प्रचलित इस कथा के परिवर्तित अन्तिम

रूप विक्रमोर्वशीयम् को ही लक्ष्य में रखकर अपने गीति-नाट्य का सृजन किया। कवि ने 'उर्वशी' के माध्यम से आधुनिक युग की युद्ध के पश्चात् की मुख्य समस्या—काम और प्रेम पर अपने विचार प्रकट किये हैं। कवि ने उर्वशी को तो जैसे मानव के रूप में ही प्रस्तुत किया है। उन्होंने तो प्रेम सौन्दर्य, काम, वासना, नारी आदि प्रश्नों को ही मनोविश्लेषणात्मक ढंग से प्रस्तुत किया है।

उर्वशीकार ने किसी भी आख्यान का कोरा अनुगमन नहीं किया। वह आवश्यकतानुसार अपने विचारों को व्यक्त करने के लिए उसमें परिवर्तन करता है। काव्य का द्वितीय अंक मानवी और उसकी कोमल अन्तर्वृत्तियों के निदर्शन के लिए ही मौलिक रूप में अंकित हुआ है जिसमें कथा या घटना के स्थान पर शुद्ध रूप में अन्तर्द्वन्द्व ही व्यक्त किया गया है। तृतीय अंक में तो कवि जैसे कथानक भूलकर प्रेम और काम की व्याख्या में ही लीन हो गया है। इसी प्रकार चतुर्थ अंक में मौलिक कथा ग्रहण न होकर प्रासंगिक कथा को स्थान दिया गया है। पुरुष मात्र में चाहे वह गृहस्थ हो या तपस्वी मन में काम भावना का बीज सुरक्षित रहता है।

पंचम अंक में स्वप्न योजना ने मूल कथा में विशेष चमत्कार ला दिया है। स्वप्न की पृष्ठभूमि पर मूल कथा का चित्र चमत्कृत हो उठा है और पाठकों के हृदय में जिज्ञासा या कौतूहलवृत्ति जग जाती है। अन्त में उर्वशी के अन्तर्धान और राजा के गृहत्याग के कारण गंभीर विषाद के वातावरण में नाटक की समाप्ति होती है।

कवि दिनकर कालिदास की तरह कथानक का सुखान्त न कर, राजा को राज्यत्याग कर हिमालय की ओर प्रयाण करते हुए अंकित करते हैं। कवि ने अन्त में औशीनरी की व्यथा द्वारा नारी की विवशता जन्य वेदना का निरूपण किया है। उर्वशी की सर्वाधिक मौलिकता तो यह है कि कवि के केन्द्र में मात्र उर्वशी ही नहीं है परन्तु सुकन्या और औशीनरी भी है जिनके चरित्र का विकास कवि ने अपनी मौलिक सूझ-बूझ से किया है। उर्वशी का चरित्र पूर्व कृतियों की तरह दैवी ही नहीं रहा। उसमें मानवीय गुणों को प्रस्थापित कर उसे सहज रूप देकर कवि ने अपनी मौलिकता का परिचय दिया है।

'उर्वशी' पर कथानक की दृष्टि से जैसा कि पहले उल्लेख किया जा चुका है 'विक्रमोर्वशीयम्' का सर्वाधिक प्रभाव है। कवि ने उसमें भी पर्याप्त परिवर्तन किए हैं। उर्वशी और पुरूरवा का मिलन दोनों में समान ही है। कवि ने 'विक्रमोर्वशीयम् की तरह रम्भा, सहजन्या, मेनका और चित्रलेखा इन चार सखियों का चित्रण किया है। लेकिन उर्वशी में कवि ने जिस प्रकार इन्हें प्रस्तुत किया है वह अधिक सुन्दर है। उर्वशी और पुरूरवा की प्रेम विह्वलता दोनों ग्रन्थों में लगभग समान है परन्तु उर्वशीकार ने इसे आधुनिक मनोवैज्ञानिक रूप से प्रस्तुत किया है। औशीनरी के व्रत साधन की कथा भी कवि ने अपनाई है। 'विक्रमोर्वशीयम्' में औशीनरी का प्रिय-

प्रमादन व्रत से तात्पर्य था कि राजा भले ही अभीष्ट रमणी से रमण करे परन्तु 'उर्वशी' की औशीनरी तो महाराज किसी पर अनुरक्त न हो यही कामना करती है। द्वितीय अंक के कथानक मे दोनो ग्रन्थों मे विशेष साम्य नही है। 'विक्रमोर्वशीयम्' मे राजा के वियोग का वर्णन अधिक और सयोग का कम है जबकि 'उर्वशी' मे निपुणिका द्वारा राजा के प्रेमोपचार का अधिक वर्णन है। 'उर्वशी' की औशीनरी कालिदास की औशीनरी की तरह रुष्ठ होकर नही जाती परन्तु व्यथा का भार सहन करने वाली त्यागपूर्ण नारी के रूप मे प्रस्तुत होती है। हां वह सौतिया डाह से प्रभावित होकर अवश्य उर्वशी को कोसती है। 'विक्रमोर्वशीयम्' के तृतीय अक की व्रत साधना की कथा को दिनकरजी ने प्रथम और द्वितीय अक मे ही समावित कर लिया है। तीसरा अंक तो पुरुरवा और उर्वशी के गन्धमादन पर्वत पर विहार को लेकर ही है।

भरत के शाप की घटना दिनकरजी ने 'विक्रमोर्वशीयम्' की तरह तृतीय अक के स्थान पर चतुर्थ और पचम अक मे ली है।

उर्वशी के अन्तर्गत सयोग वियोग का शृगारिक चित्रण, नर-नारी के सौन्दर्य का वर्णन, प्रकृति-चित्रण, प्रेम तथा काम का गभीर विवेचन, ईश्वर, जीव-जगत् का दार्शनिक निरूपण, नारी भावनाओं का प्रगठन, मानव कर्त्तव्य तथा उर्वशी के रूप मे सनातन नारी का अकन कवि ने तृतीय अक मे बड़े ही औचित्य पूर्ण ढग से प्रस्तुत किया है।

चतुर्थ अक मे तो कवि ने सुकन्या एव च्यवन ऋषि के प्रेम का परिचय देते हुए उनके मुत्री, गृहस्थ जीवन एव सुकन्या का उदार-चरित्र ही उद्घाटित किया है। उर्वशी का आयु के प्रति वात्सल्य आदि की चर्चा भी कवि ने प्रस्तुत की है। इस अंक में सुकन्या आदि के चरित्र की विशेषता द्वारा कवि की नवीन दृष्टि का परिचय मिलता है।

पचम अक मे कवि ने 'विक्रमोर्वशीयम्' की तरह उर्वशी का न तो लता-रूप में परिवतन बताया है और न राजा का प्रेम में पागल रूप ही अंकित किया है। उन्हे उर्वशी के लुप्त हो जाने की वेदना अवश्य है परतु 'उर्वशी' का पुरुरवा अपनी प्रेयसी के अन्वेषणार्थ गर्वोक्तियो एव रोषोक्तियों का आश्रय लेता है।

इस अंक की रचना कवि ने अपनी मौलिक दृष्टि से की है। कालिदास ने जहाँ सगमनीय मणि का उल्लेख कर आयु से पुरुरवा को मिलाया है; उसके स्थान पर कवि ने स्वप्न का सृजन कर नई दृष्टि का परिचय दिया है और भार्गवी के स्थान पर सुकन्या उसे लेकर आती है।

कालिदास और दिनकर की कृतियों में पुत्र-दर्शन होते ही उर्वशी विह्वल हो जाती है। परन्तु कालिदास उर्वशी को शाप से मुक्ति दिलाकर राजा के साथ ही रहने देते हैं, जबकि दिनकर उसे पुनः स्वर्ग मे भेज देते हैं। 'उर्वशी' के पुरुरवा प्रथम तो

इन्द्र पर कोप करते हैं, परन्तु अन्त में आयु को राज्य सौंपकर प्रव्रज्या ग्रहण कर लेते हैं।

'परशुराम की प्रतीक्षा' कवि की मुक्तक रचनाओं का संकलन है। मात्र 'परशुराम की प्रतीक्षा' कविता में कवि ने भगवान् परशुराम के मातृ-ऋण अदा करने के संक्षिप्त विषय को प्रस्तुत कर देश को मातृ-भूमि का ऋण चुकाने की प्रेरणा दी है।

यद्यपि 'परशुराम की प्रतीक्षा' में कथानक की दृष्टि से कवि ने मातृ-ऋण अदा करने की पौराणिक मान्यता को ग्रहण किया है। कवि का अभिप्रेत तो देश को जागृत करना रहा है। उसकी कल्पना अवश्य ऐसे पुरुष के अवतार की प्रतीक्षा में है जो परशुराम-सा तेज-सम्पन्न हो।

अन्य वर्ण्य-विषय

अन्य वर्ण्य-विषयों में कवि ने मुख्यतः उन्हीं भावनाओं का समावेश किया है जो राष्ट्रीय जागृति में सहायभूत हो सकते थे। स्वतन्त्रता से पूर्व की मुक्तक-रचनाओं में विशेषकर देश में व्याप्त अन्याय, शोषण आदि कुरीतियों को अंकित किया। इसी प्रकार स्वातन्त्र्योत्तर मुक्तक रचनाओं में भी कवि ने देश में व्याप्त भ्रष्टाचार, गरीबी, सामाजिक असमानता आदि को ही वर्ण्य-विषय के रूप में स्वीकार कर अपने आक्रोश को प्रकट किया।

दिनकर के वर्ण्य-विषयों में किंचित् रूप में कहीं-कहीं प्रकृति, नारी आदि भावनाओं का भी समावेश है। परन्तु ऐसे विषय कम ही हैं।

निष्कर्षतः यह कहा जा सकता है कि कवि ने ऐतिहासिक विषयों को काव्यों द्वारा आलोकित कर राष्ट्रीय जागरण को शक्ति प्रदान की। पौराणिक कथानकों के माध्यम से कवि ने युद्ध की समस्या और समाधान को प्रस्तुत किया। समाज में व्याप्त भेद-भाव के उन्मूलन की हिमायत की तथा प्रेम, सौन्दर्य और काम जैसी मानसिक वृत्तियों के परिष्कृत रूप प्रस्तुत किये।

पौराणिक कथानकों में कवि ने परिवर्तन अवश्य किए परन्तु उनकी मूल गरिमा को यथावत् रखा। यद्यपि पात्र और घटनाएँ नवीन परिवेश में कवि द्वारा प्रस्तुत समस्याओं के अनुरूप हैं तथापि उनकी पौराणिक मौलिकता में कहीं विकृति या अवास्तविकता नहीं है।

दिनकर की पात्र-सृष्टि

प्रत्येक कवि अपने विचारों को अपनी कृतियों के माध्यम से व्यक्त करता है। विचारों की अभिव्यक्ति या तो कवि स्वयं करता है या फिर पात्रों की सृष्टि द्वारा करता है जहाँ कवि पात्रों के माध्यम से विचार व्यक्त करता है वहाँ उसकी कथ,

का परिचय भी मिलता है। कलाकार की यह विशिष्टता होती है कि वह पात्रों को स्वाभाविक रूप में प्रस्तुत करते हुए भी अपने कथ्य को कह सके। जहाँ कवि पात्र पर छा जाता है—वहाँ पात्र तो दुर्बल हो ही जाता है—कवि की दुर्बलता भी परिलक्षित होती है।

दिनकर ने अपनी मुक्तक रचनाओं द्वारा स्वय ही विचारों को प्रस्तुत किया है, परन्तु प्रबंधों की रचना द्वारा भी पात्रों के माध्यम से अपने विचारों को व्यक्त किया है। दिनकर की पात्र योजना का विभाजन निम्नलिखित रूप से किया जा सकता है।

१. पौराणिक पात्र

२. ऐतिहासिक पात्र

३. युगीन पात्र

पौराणिक पात्र

दिनकर ने अपने तीनों प्रबंधो की कथा के सूत्र पुराण, महाभारत से ग्रहण किए हैं। अतः उनके पात्रों में विशिष्ट रूप से पौराणिक पात्रों का ही समावेश है। दिनकर के मुख्य पौराणिक पात्रो को निम्नलिखित रूपो में विभाजित किया जा सकता है।

(अ) पुरुष पात्र

(ब) नारी पात्र

पुरुष पात्र :

दिनकर के पौराणिक पुरुष पात्रों को विषय-निरूपण की दृष्टि से निम्नांकित रूप-विभागों मे विभाजित करना विशेष योग्य लगता है।

१. समस्या निरूपण के माध्यम-रूप मे

२. परपरागत पौराणिक रूप मे

३. विचार पुष्टि के माध्यम के रूप मे

समस्या निरूपण के माध्यम के रूप में

समस्या निरूपण के माध्यम के रूप में दिनकर के 'कुरुक्षेत्र' के मुख्य पात्र भीष्म एवं युधिष्ठिर को लिया जा सकता है। 'कुरुक्षेत्र' की भूमिका में कवि ने अपने आत्मनिवेदन द्वारा यह स्पष्ट कर दिया है कि कुरुक्षेत्र के भीष्म और युधिष्ठिर ठीक-ठीक, महाभारत के ही युधिष्ठिर या भीष्म हैं। परन्तु सर्वत्र इस बात का ध्यान तो उसका रहा ही है कि भीष्म या युधिष्ठिर के मुख से कोई ऐसी बात न निकल जाए जो द्वापर से अस्वाभाविक हो। कवि ने यह भी स्वीकार किया है [1]कि वह अपने

विचारों को भीष्म या युधिष्ठिर के प्रसंग को उठाए बिना भी कह सकता था। परन्तु प्रबन्ध के मोह में उसने महाभारत का प्रसंग निरूपित कर 'युद्ध की समस्या' को सुलझाने का प्रयास किया है। यह सत्य है कि भीष्म तथा युधिष्ठिर कवि के विचारों के वाहक है तथापि उनमें महाभारत कालीन गरिमा तो है ही। हम क्रमशः इन पात्रों की चारित्रिक प्राचीन गरिमा एवं आधुनिक विचारधाराओं का अध्ययन करेंगे।

भीष्म :

भीष्म का चरित्र कवि ने उसी गौरव से प्रस्तुत किया है जिससे उनकी महाभारत कालीन वीरता किसी भी तरह कम न रहे। समर-भूमि में उनके दर्शन शरसैय्या पर ही होते है। कवि ने भीष्म का वीरत्व-पूर्ण सौन्दर्य सुन्दर उपमाओं द्वारा प्रस्तुत किया है।[1] मृत्यु स्वयं जैसे उनकी प्रार्थिनी बनकर खड़ी है।

युद्ध के समर्थक

'कुरुक्षेत्र' के भीष्म युद्ध के समर्थक हैं। युधिष्ठिर के मन में युद्ध-जन्य ग्लानि एवं निर्वेद का शमन वे अनेक तर्कों द्वारा पुष्ट करने का प्रयत्न करते हैं। वे तूफान का उदाहरण देकर समझाते है कि तूफान बड़े-बड़े वृक्षों को तोड़-मरोड़ देता है और निरर्थक तत्वों को नष्ट कर देता है। उसी प्रकार व्यक्तियों में व्याप्त असंतोष जब समष्टि का असंतोष बन जाता है तब वह तूफान-सा फूट कर असंतुष्ट तत्वों का नाश कर, नवीन वातावरण का निर्माण करता है।

भीष्म महाभारत के युद्ध का उत्तरदायित्व पाडवों के व्यक्तिगत स्वार्थ को नहीं मानते, वे तत्कालीन समाज में व्याप्त अन्याय और अत्याचार, स्वार्थ आदि कारणों को मानकर युद्ध के उत्तरदायी उपकरणों में समूह को ही मानते हैं।

भीष्म स्पष्ट रूप से मानते हैं कि समूह में व्याप्त दुःखों के उन्मूलन और उच्छेदन के लिए किया गया युद्ध सर्वथा योग्य और धर्म है। द्वार पर आए हुए शत्रु का प्रतिकार शक्ति से करना ही वीरता का लक्षण है। उनकी दृष्टि में युद्ध के संदर्भ में पाप और पुण्य दर्शन की भ्रांति मात्र है। जब तक संसार में स्वार्थ और संघर्ष का विभीषिकाएँ प्रज्वलित हैं, तब तक दया और क्षमा का कोई महत्त्व नहीं है। समुदाय के हितार्थ युद्ध ही श्रेष्ठ उपाय है। व्यक्तिगत धर्म, तप, करुणा और क्षमा सभी को भूल जाना ही ऐसी परिस्थितियों में योग्य है। युद्ध के समर्थक भीष्म को युधिष्ठिर का निर्वेद अरुचिकर लगता है। युद्ध के वातावरण में शांति की बातें उन्हें क्लीवता की परिचायक लगती हैं। भीष्म तो सदैव ईंट का जवाब पत्थर से देने के पक्षपाती हैं। समाज एवं देश में व्याप्त अत्याचार शोषण, स्वार्थ आदि कलुषता का दूर करने के लिए वे युद्ध को अनिवार्य तत्त्व के रूप में स्वीकार करते हैं।

---

१. कुरुक्षेत्र : च० स० : पृ० ४७।

भीष्म युद्ध का उत्तरदायी कौन ? इस प्रश्न को बड़े ही मार्मिक ढंग से प्रस्तुत करके स्वयं यह सिद्ध कर देते हैं कि युद्ध का उत्तरदायी शोषक, जाल बनाने वाला आततायी है। युद्ध का दायित्व कभी भी शोषित या जाल तोडने का प्रयत्न करने वाला नही हो सकता। उनकी दृष्टि मे जब तक ससार पर हिंसा और हिंसक है—तब तक युद्ध भी अनिवार्य हैं। युद्ध को अनिवार्य तत्त्व मानने वाले भीष्म स्वार्थ के वशीभूत होकर किए गये युद्ध को तो घृणा की दृष्टि से ही देखते है।

स्पष्ट-वक्ता

भीष्म स्पष्ट-वक्ता एव कटु आलोचक है। वे महाभारत के कारणों की विवेचना करते समय भगवान कृष्ण के राजसूय यज्ञ के आयोजन की टीका करते है। भीष्म दूसरो को ही नही स्वय की आलोचना करना भी नही चूकते। वे मानते है कि उन्हें द्रोपदी के चीर-हरण के समय मौन नही रहना चाहिए था और जीवन-निर्वाह के स्वार्थ से कौरवो का साथ भी नही देना चाहिए था। उन्हे अपने उस अह पर भी पश्चाताप है जिसने उनमे कभी प्रेम और सौन्दर्य के प्रति आकर्पित नही होने दिया। वे तो युद्ध के अनेक कारणो मे से एक कारण स्वय को भी मानते है। भीष्म की यह आलोचना उनके चरित्र मे वास्तविकता एव निखार ही उत्पन्न करती है।

शांति और साम्य के चाहक

'कुरुक्षेत्र' के भीष्म शाति के चाहक अवश्य है, परन्तु अभी वे इस तथ्य की खोज मे चिंतित है कि कब वह दिन आवेगा जब दया, क्षमा और शाति पूरे विश्व मे फैल जायेगी। उन्हे दुख है कि बाहर से दिखाई देने वाली शाति विस्फोटक ही है। वे हृदय की शाति को ही श्रेष्ठ मानते हैं।

यद्यपि भीष्म युद्ध के समर्थक है, उसे अनिवार्य भी मानते है परन्तु यह मान्यतायें उनकी चिर-स्थाई मान्यतायें नही बनती। वे अन्तरग से यही मानते है कि समाज म शाति और साम्य की भावनाओं का विस्तार होना चाहिए।

भीष्म समाजवादी समाज रचना का समर्थन करते है। तानाशाही राज्यतत्र के दुर्गुणो को प्रस्तुत करते हुए वे जनतत्र के प्रखर हिमायती के रूप मे प्रस्तुत होते हैं। जनतत्र, जिसमे न कोई किसी का दास हो और न कोई किसी का स्वामी। प्रत्येक व्यक्ति भाग्य से अधिक श्रम को महत्त्व दे। श्रम से अर्जित धन का सदुपयोग करे और प्रसन्न रहे। पारस्परिक द्वेष, ईर्ष्या की समाप्ति हो एवं व्यक्तिमात्र विश्व-कल्याण की शुभ कामना का चाहक बने।

भविष्य के प्रति आस्थावान

भीष्म भविष्य के प्रति आस्थावान हैं। उन्हे विश्वास है कि एक दिन अवश्य

ऐसा आयेगा जब विज्ञानवाद से आघात मनुष्य बुद्धिवाद से हटकर हृदयवादी बनेगा। व्यक्ति बाह्य शत्रुओं के नाश करने की अपेक्षा आन्तरिक शत्रु, लोभ, द्वेष, स्वार्थ आदि का नाश करेगा। व्यक्ति शान्ति की खोज वन मे, पलायन कर नही खोजेगा। अपितु कर्तव्य का निर्वाह करते हुए उसे वह प्राप्त होगी।

वे युधिष्ठिर को समता के प्रदीप को जलाकर धरती को ही स्वर्ग बनाने का सन्देश देते है।'

भीष्म के विचार परिवर्तनो को देखकर कोई भी उनमे गाँधीवाद का प्रभाव देख सकता है। परन्तु भीष्म के विचारो और गाधी के विचारो मे पर्याप्त अन्तर है। भीष्म परिस्थिति के अनुसार युद्ध के महारात्मक पक्ष के समर्थक है। वे तो चाहते हैं कि युद्ध बद हो, सभी मे प्रेम बढे। जबकि गाँधीजी तो प्रत्येक समयाविषम परिस्थिति मे युद्ध का निषेध ही करते है। हाँ भीष्म के अन्तिम आशावाद मे अगर गाँधीवाद की शान्ति की चाहना या साम्य देखना अनुचित भी नही है।

वस्तुत. भीष्म शौर्य *हिंसा, शान्ति और युद्ध के औचित्य को सबल तर्कों द्वारा* सिद्ध करने के बाद रण-भीति से मुक्त पृथ्वी की कल्पना हिंसा और बल प्रयोग के आधार पर नही, मनुष्य के प्रेम, स्नेह, बलिदान और त्याग को मूलतत्त्व मानकर ही करते है। कुरुक्षेत्र के भीष्म शौर्य और करुणा के समन्वित रूप हैं।

भीष्म के चरित्र की विशेषता इस रूप मे अवश्य आकर्षक है कि कवि ने उन्हे मात्र महाभारत के वीर या उपदेशक रूप मे ही अकित नही किया, परन्तु उनके पश्चाताप मे उनके अह का स्वीकार एव प्रेम एव सौन्दर्य को कभी नही उभरने देने का जो दुष्परिणाम हुआ, उसे अकित कर कवि ने भीष्म के मनोमथन का चित्रण आधुनिक मनोवैज्ञानिक विश्लेषणात्मक रूप से अकित कर भीष्म को युगानुरूप मानव के रूप मे चित्रित किया है। मनोविज्ञान यह मानता है कि मानव मन की दमित भावनाएँ कभी न कभी समय पाकर प्रकट अवश्य होती हैं। भीष्म भी जीवन भर जिन भावनाओ को बरबस दबाये रहे—वे अन्तिम समय प्रकट होकर जैसे उनके हृदय के बोझ को हल्का कर देती हैं।

युधिष्ठिर :

युधिष्ठिर कुरुक्षेत्र के दूसरे मुख्य पात्र है। वे नैतिक दृष्टि से धर्मभीरू सामाजिक दृष्टि से दुर्बल व्यक्तित्व के प्रतीक है। दिनकरजी ने युधिष्ठिर के पात्र द्वारा इस तथ्य को स्पष्ट किया ही है कि युद्ध और उसमे व्याप्त हिंसा और सहार बड़े से बड़े क्रूर राजनीतिज्ञ योद्धा को भी विचलित कर देता है। युधिष्ठिर का पश्चाताप हमारी उस विकास यात्रा का शुभ चिन्ह है जहाँ हम युद्ध के घिनौने रूप से

१. कुरुक्षेत्र, स० स० : पृ० १८१।

ग्लानि करने लगे है। युधिष्ठिर के पात्र में 'कलिंग विजय' के अशोक का निर्वेद और वैराग्य फैलकर पूरे काव्याकाश पर छा गया है।

युद्ध-त्रस्त मानव के रूप में

युद्ध के संहार से त्रस्त श्मशानवत् रणभूमि मे उठने वाली कराहें और चीत्कार युधिष्ठिर के मन को पिघला देती—वे पूरे संहार का उत्तरदायी वे अपने आपको मानने लगते हैं। उन्हें कहीं भी शांति और स्वस्थता प्राप्त नही होती। वे अपने मानसिक द्वन्द्व के शमन हेतु पितामह के पास जाते है। वहाँ जाकर भी वे अपने स्वार्थ अपनी तुच्छ भावनाओ को ही युद्ध का निमित्त मानते है। वे ऐसे राज्य को त्याग कर वानप्रस्थ ग्रहण करना अधिक उपयुक्त समझते हैं।

युधिष्ठिर आदर्श युग-पुरुष के रूप मे ही चित्रित किए गए हैं। जो युद्धोपरांत के हर्षोल्लास में भी मन ही मन विनाश पर रोते है। कुरुक्षेत्र मे इसी विकलतामय चिन्तन से युधिष्ठिर के चरित्र का पट खुलता है। जिन्हें अंत तक किए गए संहार और ध्वंस पर पश्चाताप और ग्लानि घेरे रहती है।

निर्लोभी

उन्हें 'राज्य-लिप्सा' तो जैसे छू ही नही सकती और इसीलिए ऐसे अधर्मराज्य को भोगने के स्थान पर वे वन-गमन को अधिक महत्त्व देते है।

युधिष्ठिर सघर्ष और युद्ध का प्रतिकार अहिंसा, क्षमा, प्रेम, त्याग और तपश्चरण से करना चाहते हैं।

भीष्म जब उन्हें कर्मयोग के महत्त्व को समझाते है और अपने तर्कों द्वारा यह सिद्ध कर देते हैं कि युद्ध का मूल कारण कौन-सी परिस्थितियाँ थी—और अन्याय के प्रति किया गया युद्ध—पाप नहीं पुण्य है, तब उनके मन को शांति मिलती है। परन्तु फिर भी यह भावना कि विश्व में शांति कब होगी उनके विकास-शील शांतिमय चरित्र का उद्घाटन करती है।

भीष्म युधिष्ठिर को पलायनवादी भी कहते है क्योंकि धर्म कर्त्तव्य-निर्वाह मे है—संसार से दूर भागने मे नही वस्तुत. युधिष्ठिर का पलायनवादी या प्रलापी रूप कायर का नही अपितु करुणामयी वीरता का ही मानवीय संस्करण है।

युधिष्ठिर भीष्म के समझाने पर राज्य स्वीकार करने के लिए अवश्य तैयार हो जाते हैं परन्तु फिर भी उनका मन हिंसा को स्वीकार कभी नही करता। वे तो व्याकुल हैं कि विश्व में 'धर्म का दीपक' कब जलेगा ?

यह सत्य है कि युधिष्ठिर मे गांधीवाद की पूर्ण स्थापना तो नही है, परन्तु कवि की आस्था अवश्य व्यक्त हुई है। युधिष्ठिर ही ऐसे पात्र हैं जो स्वार्थों का विनाश

शांति में करना चाहते हैं। वे तनदल की अपेक्षा मनोबल को महत्त्व देते हैं। स्वार्थ-जन्य युद्ध में प्राप्त राज्य की अपेक्षा उन्हें त्यागमय वनवास ही प्रिय है।

निष्कर्ष भीष्म और युधिष्ठिर के पात्रों की चारित्रिक विशेषताओं से स्पष्ट होता है कि कवि के भीष्म और युधिष्ठिर यद्यपि पौराणिक गरिमा से युक्त हैं तथापि कवि के विचारों के ही विशेष समर्थक हैं। ऐसा लगता है कि कवि जब चाहता है उनसे युद्ध का समर्थन कराता है और जब चाहता है—शांति और समन्वय की बातें कराता है। कवि के इस प्रकार पात्रों पर छा जाने के कारण पात्रों का जिस उच्च धरातल को प्राप्त करना था उसमें अभाव रह गया है।

परम्परागत पौराणिक रूप में:—परम्परागत पौराणिक रूप में दिनकर ने कर्ण के पात्र को ही अंकित किया है। कर्ण महाभारत के कर्ण के ही विशेष अनुरूप है।

कर्ण

दिनकर की पात्र-सृष्टि का पौराणिक पात्र कर्ण 'रश्मिरथी' के नायक के रूप में अंकित किया गया है। कर्ण का चरित्र 'कुरुक्षेत्र' के पात्रों की तरह न तो किसी समस्या को प्रस्तुत करने वाले माध्यम की तरह है और न समाधान के साधन की तरह। 'रश्मिरथी' की भूमिका में ही कवि ने स्पष्ट कर दिया है कि इस कृति के पीछे कोई ठोस समस्या या उद्देश्य नहीं है। उन्होंने तो कथा-संवाद की दृष्टि से आख्यान शैली में इस प्रबंध की रचना की है। मैथिलीशरण गुप्त की भाँति उपेक्षित पात्र 'कर्ण' की दिव्य प्रतिभा का चित्र प्रस्तुत किया।

'रश्मिरथी' का कर्ण अधिक अंशों में महाभारत का ही कर्ण है—हाँ कवि ने आधुनिक युग में व्याप्त ऊँच-नीच कुल और जाति के अहम् और बंधनों के प्रति अपनी ग्लानि व्यक्त करते हुए गाँधी जी के समानता के सिद्धांत का अवश्य समर्थन किया है।

पराक्रमी —कर्ण के प्रथम दर्शन ही हमें एक युद्ध-वीर के रूप में होते हैं वह भरी सभा में अर्जुन को ललकारता है। उसकी कलाओं द्वारा समस्त सभा को आश्चर्य-चकित कर देता है—परन्तु उसे अज्ञात कुलशील बता कर, सूत-पुत्र हीन समझकर, उसका तिरस्कार किया जाता है। कवि ने कर्ण द्वारा आत्माभिमान व्यक्त कराते हुए यह स्पष्ट कराया है कि तेजस्वी लोग गोत्र और कुल से नहीं पूजे जाते—उनके कुल और गोत्र उनके भुजदंड ही होते हैं। कवि यह स्पष्ट करता है कि आज के युग में कुल और जाति को न देखकर उसके गुणों और उज्ज्वल चरित्र को देखना चाहिए।

मित्र :—दुर्योधन जब उसे अंग देश का अधिपति घोषित करता है तब वह उसके प्रति कृतज्ञ हो उठता है और इस सम्मान का बदला अगर जान देकर भी कर सके—ऐसी कामना व्यक्त करता है। महाभारत के युद्ध से पूर्व भगवान श्रीकृष्ण जैसों के समझाने और लोभ दर्शाने पर भी वह मैत्री के अनमोल रत्न का अनादर नहीं

करता । उसे जब यह ज्ञात होता है कि महारानी कुंती उसकी माता है—तब भी वह अपनी पाल्या 'राधा' के प्रति पूर्ण आस्था और स्नेह को व्यक्त करता है । वह मैत्री में अपना तन-मन-धन सभी दुर्योधन के चरणों में देना स्वर्ग पाने से भी अधिक गौरवशाली मानता है ।

दानी :—कर्ण दानी के रूप में महाभारत के कर्ण से भी आगे है । महाभारत का कर्ण इन्द्र द्वारा छला जाकर कवच-कुंडल के बदले में किसी शक्ति की याचना करता है—परन्तु 'रश्मिरथी' का कर्ण तो जैसे कवच-कुंडल देकर इस प्रसन्नता का अनुभव करता है कि चलो ठीक हुआ अब समाज में कोई यह तो नहीं कह सकेगा कि कर्ण की जीत के कारणों में दैवी कवच-कुंडल थे । उसकी दान-वृत्ति से इन्द्र तक का मस्तक नत हो जाता है । कर्ण अपनी माँ कुंती को भी निराश नहीं करता जिसने लोकलाज के भय से मंजूषा में बन्द करके उसे बहा दिया था । वह उसे भी चार पुत्रों का अभयदान देता है; और यही कारण है कि कौरव पक्ष की अवहेलना सह कर भी वह अर्जुन के अतिरिक्त सभी को अभयदान देता जाता है ।

गुरुभक्त :—दानी कर्ण गुरुभक्ति का प्रतीक है । उसने शिक्षा प्राप्ति के लोभ में परशुराम से असत्य कहकर अपने आपको ब्राह्मण अवश्य बतलाया । परन्तु उसकी गुरुभक्ति बड़ी ही उत्कृष्ट कोटि की थी । गुरु की निद्रा भंग न हो । अत: वह अपने शरीर की क्षति की भी चिन्ता नहीं करता । भेद खुलने पर गुरु की क्रोधाग्नि को अश्रुओं से ही शान्त करता है । 'ब्रह्मास्त्र' चलाना भूल जायेगा—का शाप देने वाले परशुराम भी उसकी भक्ति और शक्ति से प्रभावित होकर उसे शीघ्र चले जाने की इसलिए आज्ञा देते है कि कहीं उनका विचार अभिशाप लौटाने का न हो जाये अन्यथा ऋषि-वचन झूठे हो जायेंगे । अन्त में वे उसे कीर्तिमान होने का वरदान तो देते ही है।

युद्ध वीर .—युद्ध भूमि में उसकी कला द्वितीय के चाँद सी बढ़ती है । अन्तिम समय सर्प उसे मदद करना चाहता है परन्तु वह उसका इसलिए तिरस्कार करता है—कि *उसका युद्ध मानव से है उसे विषाक्त सर्प सहायता नहीं चाहिए ।* कर्ण का यह पहलू सचमुच उसकी मानवता का झिलमिलाता प्रकाश है ।

उसका रथ जब कीचड़ में धँस जाता है और कृष्ण प्रेरित अर्जुन जब उस पर बाण-वर्षा करते हैं तब वह अन्यायपूर्ण युद्ध के लिए अर्जुन की भर्त्सना करता है । अभिशाप के कारण उसकी मृत्यु हो जाती है । परन्तु उसके सबल विरोधी कृष्ण भी उसकी प्रशंसा अर्जुन के सम्मुख करते हैं ।

वस्तुतः कर्ण के चरित्र में कवि ने वीर मानव के गुणों की प्रतिष्ठा की है । वर्ण वीरता, मैत्री निर्वाह, दानवीरता एवं मानवता में अर्जुन से भी श्रेष्ठ है ।

यह सत्य है कि कवि ने समाज में व्याप्त-ऊँच-नीच के भेद-भाव की समस्या का समाधान कर्ण के माध्यम से किया है परन्तु कुरुक्षेत्र के पात्रों की तरह वह कर्ण

पर विचारों को आक्षेपित नहीं करता। उसने कर्ण को विशेष स्वाभाविक बनाकर भी जिस कौशल से समस्या प्रस्तुत की है वह श्लाघनीय है।

कर्ण के चरित्र द्वारा यद्यपि चरित्रांकन कला में विशेष नावीन्य नहीं है, परन्तु कवि ने जिस मनोवैज्ञानिक ढंग से कर्ण के उदात्त गुणों की प्रतिष्ठा की है वह अवश्य कवि की विशेषता है।

विचार पुष्टि के माध्यम के रूप में

जिस प्रकार 'कुरुक्षेत्र' में दिनकर ने भीष्म और युधिष्ठिर के माध्यम से युद्ध की समस्या का निरूपण किया है उसी भाँति कवि ने 'उर्वशी' के अन्तर्गत अपने प्रेम और काम सम्बन्धी विचारों को पुरूरवा के माध्यम से व्यक्त किया है। कवि ने भीष्म एवं युधिष्ठिर के पात्रों की भाँति पुरूरवा के पौराणिक प्रेमी रूप को अंकित अवश्य किया है तथापि वह नायिका और विचार संपुष्टि का माध्यम ही अधिक है। पुरूरवा की चारित्रिक विशेषताओं द्वारा हम इस तथ्य की पुष्टि करेंगे।

पुरूरवा :

पुरूरवा 'उर्वशी' का नायक है। संस्कृताचार्यों की मान्यतानुसार वह प्रबन्ध काव्य का धीर, ललित नायक है। पुरूरवा के अनेक रूप कवि ने अंकित किये हैं। वह प्रजापालक वीर राजा है। सौन्दर्य-पिपासु प्रेमी है और द्वन्द्व-युक्त मानव के रूप में भी है।

वीर नृपति :—पुरूरवा प्रतिष्ठानपुर के अधिपति हैं जो पराक्रमी, सुन्दर और ज्ञानी हैं। उनके रूप और गुणों का परिचय निपुणिका द्वारा इस प्रकार मिलता है—

> "कार्तिकेय-सम शूर, देवताओं के गुरु-सम ज्ञानी,
> रवि-सम तेजवन्त, सुरपति के सदृश प्रतापी, मानी;
> धनद-सदृश संग्रही, व्योमवत् मुक्त, जलद-निभ त्यागी,
> कुसुम-सदृश मधुमय, मनोज, कुसुमायुध से अनुरागी।"[1]

विभिन्न गुणों से विभूषित पुरूरवा वीर है। उन्होंने दैत्य के बन्धन से उर्वशी को मुक्त किया था। यही कारण है कि उर्वशी इस वीर और सुन्दर पुरुष को अपना दिल दे बैठी। पुरूरवा की इस वीरता का वर्णन अप्सरायें प्रथम अङ्क में करती हैं।

पुरूरवा ने अनेक बार इन्द्र की रक्षा देव-दानव-युद्ध में की थी। उनकी इस वीरता और उसके अनुरूप पुरूरवा के क्रोध का परिचय हमें उस समय होता है जब उर्वशी के अन्तर्धान होने पर वे इन्द्र पर किए गये उपकारों का स्मरण करते हुए हुँकार कर उठते हैं और अपने धनुर्बाण से ध्वंस और प्रलय मचा देने का संकल्प करते हैं।

---

१. 'उर्वशी' : द्वि० अं० : पृ० ३५।

शील स्वभाव :—वीर होने के साथ-साथ वे सुशील भी है। यह शील धर्म उनकी मानवता की शोभा है। उर्वशी के प्रति मोहित होने पर वे बार-बार सोचते हैं कि इन्द्र से जाकर उर्वशी को प्राप्त करें। परन्तु उन्हे भीख मागना स्वीकार नही और वे किसी दैत्य की भांति उसका हरण करना भी श्रेयस्कर नही समझते। वे उर्वशी के 'हरण क्यो नहीं कर लाये' कहने पर अपने उस स्वभाव का परिचय देते हैं कि जिसमें उन्होने किसी राजा या प्रजा के न्याय को कभी नही छीना। यही नीति थी, जिसके द्वारा उनके राज्य का विस्तार उत्तरोत्तर बढ़ता रहा।

आश्रम वासियों के प्रति उनका विनय व्यक्त होता है। वे देवी सुकन्या का श्रद्धा से अभिवादन करते है और आश्रम तथा ऋषिराज का कुशलक्षेम पूछते है।

पिता :—पुत्र-प्राप्ति की चाहना अथ से इति तक उनमे विद्यमान है। वे कंचुकी द्वारा महारानी को धर्म-कर्म मे रत रहने का इसीलिए सन्देश भेजते है कि उन्हे पुत्र की प्राप्ति हो। जब वे अन्तिम अक मे अपने समक्ष आयु को देखते है और वह उन्ही का पुत्र है—यह ज्ञात करते हैं तब उनका वात्सल्य उमड पड़ता है।

पति :—पति के रूप मे वे अवश्य उत्तरदायित्व का निर्वाह नही कर पाते। औशीनरी के प्रति उनकी उपेक्षा अथ से इति तक दृष्टव्य है। वे गृहिणी को मात्र पुत्र-प्राप्ति और यज्ञादि धार्मिक कार्यों की सहगामिनी मानते हैं। वे प्रेम उर्वशी से करते है, औशनरी तो पति के प्रेम के लिए चिरअतृप्त रहती है। अन्तिम समय भी सन्यस्य ग्रहण करते समय वे औशीनरी से कुछ भी नही कहते।

प्रेमी

पुरूरवा के चरित्र का सर्वाधिक सफल रूप उसका प्रेमी रूप है। उर्वशी से पूर्व के ग्रंथो मे कालिदास आदि सभी ने पुरूरवा के प्रेमी रूप को ही विशेष महत्त्वपूर्ण ढग से अंकित किया है।

दिनकर ने भी पुरूरवा के प्रेमी रूप का अंकन किया है परन्तु पुरूरवा मे व्याप्त प्रेम तथा काम सबंधी द्वन्द्व उसे पूर्ण-रूपेण प्रेमी नही बनने देते।

यद्यपि प्रारभ मे पुरूरवा प्रेमी के रूप मे बड़े ही भावुक, स्नेह-सिक्त और स्पन्दनशील हैं। प्रेम की पीडा और प्रेमिका से मिलने की उत्कटता का परिचय चित्रलेखा के शब्दो मे मिलता है—

> "धुंआ नहीं, ज्वाला देखो है, ताप उभय दिक्-सम है,
> जो अमर्त्य की आग, मर्त्य की जलन न उससे कम है।
> सुखा मोद से उदासीन जैसे उर्वशी विकल है,
> उसी भाँति दिन-रात कभी राजा को रंच न कल है।"[1]

१. उर्वशी, प्र० अं० : पृ० २३।

द्वितीय अंक में निपुणिका महाराज के उर्वशी के प्रति आकर्षण और मिलन के क्षणों का वर्णन करती है, जो सच्चे प्रेमी के हृदय को खोलती है।

तृतीय सर्ग में संयोगावस्था में वे प्रेमिका के समक्ष वियोगावस्था के दुखों का वर्णन करते हैं, जिसमें उनकी उत्कण्ठा, विकलता, आतुरता, उन्मत्तता का परिचय मिलता है। दैहिक धरातल पर वे उर्वशी के आलिंगन चुम्बन का रसास्वादन करते हैं। जिनमें उनकी काम-चेष्टायें अंकित हैं।

अन्तिम अंक में प्रेम के वशीभूत होकर वे क्रोध भी करते हैं और प्रेमिका के अन्तर्धान होने पर स्वयं भी सन्यासी बन जाते हैं। प्रेम ही उन्हें निर्वेद की ओर अभिमुख करता है। कवि ने पुरूरवा के पात्र द्वारा यह सिद्ध किया है कि प्रेम मात्र आसक्ति का माध्यम नहीं है अपितु निर्वाण की ओर ले जाने वाला तत्त्व भी है।

द्वन्द्वात्मक रूप

उपरोक्त समस्त गुणों के उपरान्त कवि ने पुरूरवा में प्रेम और काम संबंधी जो द्वन्द्व व्यक्त किया है वह मानो कवि के मन का द्वन्द्व ही प्रकट करता है। कवि ने उर्वशी की भूमिका में पुरूरवा की व्याख्या करते हुए लिखा भी है—"पुरूरवा रूप, रस, गंध, स्पर्श और शब्द से मिलने वाले सुखों से उद्वेलित मनुष्य।

पुरूरवा द्वन्द्व में है, क्योंकि द्वन्द्व में रहना मनुष्य का स्वभाव है। मनुष्य सुख की कामना भी करता है और उससे आगे निकलने का प्रयास भी।"[1]

तृतीय अंक में उर्वशी का मादक, सौन्दर्यमयी साहचर्य पाकर उसका रसपान करने के स्थान पर वह द्वन्द्व में उलझ जाता है। कभी प्रेम की आराधना आलिंगन में करता है और कभी उसका समापन आध्यात्म में खोजता है। पुरूरवा प्रेम के जैविक धरातल से आध्यात्मिक धरातल की ओर विशेष उन्मुख है।

कवि पुरूरवा के माध्यम से उसके मन के प्रेम और काम संबंधी द्वन्द्वों को प्रश्नों के रूप में प्रस्तुत करता है और उर्वशी के तर्कों द्वारा उनका समाधान प्रस्तुत करता है। कभी उसके तर्क भारतीय दर्शन से पुष्ट होते हैं और कभी फ्रायड के लिबिडोवाद से समर्थित हैं।

उर्वशी के पुरूरवा का चिन्तनशील रूप इस दृष्टि से विशेष पुष्ट है जो दर्शन की गहराइयों में उतरकर मूलसत्ता की ओर उन्मुख है।

पुरूरवा का पात्र जब प्रेमी के प्रेम-प्रवाह से दूर प्रेम की व्याख्या और अनुसंधान में लग जाता है तब लगता है कि पुरूरवा प्रेमी नहीं प्रेम व्याख्याता है। इस दृष्टि से पुरूरवा के पात्र में जो उसकी मूल विशेषता अंकित होनी चाहिए थी वह नहीं हो पाती।

---

१. 'उर्वशी' (भूमिका) पृ० ख।

दूसरे उर्वशी के समक्ष उसके सम्पूर्ण तर्क वापन सिद्ध होते हैं। वह प्रेमी से अधिक उर्वशी के इंगितो पर चलने वाला ही लगता है दिनकर के इस प्रकार के चरित्र-निरूपण से पात्र के प्रति भी अन्याय सा हुआ है तथा कथा मे भी किंचित् शैथिल्य आ गया है।

गौण-पात्र

मुख्य पौराणिक पात्रो के अलावा दिनकर के प्रबधों मे गौण-पात्रो को भी यथेष्ठ स्थान दिया है। दिनकर द्वारा गौण-पात्रो का चरित्राकन प्राय: परपरायुक्त ही है। गौण-पात्र मुख्य पात्रों के चरित्र के विकास के सहायक ही हैं। मात्र परशुराम ही ऐसे हैं जिनमे एक ओर महाभारत कालीन गरिमा है और दूसरी ओर आधुनिक युगों को प्रेरणा प्रदान करने का तेज भी है।

दिनकर के प्रबधो मे निरूपित गौण-पात्रों की विशेषताओं का सक्षिप्त परिचय देना यहां यथेष्ठ ही है। यथा गौण-पात्रो का परिचय प्रस्तुत किया जा रहा है।

परशुराम :—परशुराम का चरित्राकन कवि ने 'रश्मिरथी' और 'परशुराम की प्रतीक्षा' मे किया है।

गुरु एवं क्रोधी ऋषि

'रश्मिरथी' के परशुराम कर्ण के गुरु है जो अपनी सम्पूर्ण आस्था और स्नेह से शिष्य को शस्त्र-विद्या सिखाते है। परन्तु उन्हें जब ज्ञात होता है कि कर्ण ब्राह्मण नहीं क्षत्रीय कुमार है, तब उनका क्रोध सातवें आसमान पर धधक उठता है। उनके रौद्र-रूप का परिचय मिलता है। वे कर्ण को युद्ध के समय ब्रह्मास्त्र चलाना भूल जाने का अभिशाप देते हैं। परन्तु दूसरे ही क्षण कर्ण की आंखों से बहती हुई जल धारा और उसकी एकनिष्ठा का ध्यान कर उनका क्रोध स्नेह मे पिघलने लगता है। उन्हें भय लगता है कि कहीं प्रेम के वशीभूत हो वे अपने अभिशाप को वापिस न ले लें। अत: कर्ण को शीघ्र चले जाने का आदेश देते है और उसकी कीर्ति की शुभकामना करते हैं।

परशुराम का यह रूप क्रोध और स्नेह का सम्मिश्रण है।

नये युग के प्रतीक

परशुराम की प्रतीक्षा मे वे परशुराम के उस रूप की कल्पना करते हैं जिसके एक हाथ मे अमृत-कलश हो, दूसरे में खड्ग हो, जिसमे सहारक शक्ति हो और सृजनात्मक प्रेम भी।

राजनीतिज्ञ श्रीकृष्ण

'रश्मिरथी' के अन्तर्गत श्रीकृष्ण गौण-पात्रों में प्रमुख हैं। वे सर्वप्रथम सन्धि-दूत के रूप में कौरवों के पास जाते हैं। उनकी हार्दिक इच्छा है कि दोनों पक्ष समझ जायें और युद्ध न हो। परन्तु दुर्योधन आदि कौरव जब उन्हें बाँधना चाहते हैं तब उनका विराट स्वरूप उनके देवत्व को साकार कर देता है। वे मानव मिट कर भगवान अधिक बन जाते हैं। कृष्ण का कौरवों के प्रति क्रोध व्यक्त होता है। वे मार्ग में लौटते समय कर्ण को अनेक प्रकार से समझाते हैं, लालच देते हैं कि वह पाण्डव पक्ष में मिल जाय परन्तु कर्ण जैसे दृढ़ प्रतिज्ञ पर उनका कोई प्रभाव नहीं पड़ता।

युद्ध के मैदान में अर्जुन के सारथी के रूप में वे उपस्थित होते हैं। कर्ण-द्वारा पाण्डव सेना का विनाश देख वे अर्जुन को ललकारते हैं। उन्हें कर्ण की जिस एकघ्नि शक्ति का डर था उसका प्रयोग हो जाने के पश्चात् सर्वाधिक प्रसन्नता उन्हें होती है। अत. जब पाण्डव-चमू में शोक व्याप्त था, तब उनकी प्रसन्नता की सीमा नहीं थी। पुन युद्ध प्रारंभ होने पर वे कर्ण के विरुद्ध अर्जुन को उकसाते हैं। कृष्ण 'युद्ध में सब कुछ योग्य है' इस नीति के समर्थक हैं। अत. जब कर्ण का रथ अभिशाप के कारण कीचड़ में धस जाता है और कर्ण निशस्त्र पर आक्रमण को हेय कहता है तब कृष्ण कुटिल राजनीतिज्ञ की तरह कौरवों द्वारा किए गए अत्याचारों का बखान करते हैं और अर्जुन द्वारा उसका वध करवा देते हैं।

कर्ण के प्रशंसक :—पक्ष की दृष्टि से वे कर्ण का वध करवा देते हैं, परन्तु उनके मन में कर्ण के प्रति प्रच्छन्न स्नेह है। वे उसकी वीरता, दानवीरता और उच्च चरित्र के प्रशंसक हैं। अन्त में उनके उद्‌गार बड़े ही मार्मिक हैं। कर्ण के गुणों की वे मुक्त-कंठ से प्रशंसा करते हैं और उसका सम्मान भीष्म की भाँति करने की सलाह भी देते हैं।[1]

वस्तुत 'रश्मिरथी' के कृष्ण, सफल राजनीतिज्ञ पाप-पुण्य से परे परमब्रह्म हैं जिनमें शुभ एवं श्याम पक्ष विद्यमान हैं।

इन्द्र

इन्द्र कूटज्ञ रूप में 'रश्मिरथी' के चतुर्थ सर्ग में उपस्थित होता है। वह ब्राह्मण का वेश धारण कर छल से कर्ण को वचन-बद्ध कर लेता है और उससे कवच-कुण्डल ले लेता है। प्रारम्भ में उसके मन में यह द्वन्द्व है कि उसे मनोनीत दान मिलेगा या नहीं। साथ ही उसे अपनी छल-वृत्ति पर भी हिचक है, परन्तु अपने पुत्र अर्जुन की रक्षा के स्वार्थ में अन्धा होकर वह कर्ण से कवच और कुण्डल माँग ही लेता है।

---

१. दे० रश्मिरथी, स० स० : पृ० १६५-६६।

इन्द्र का दूसरा पक्ष उस व्यक्ति का पक्ष है जो अपने कुकृत्य पर पश्चाताप करता है। उसे आत्मग्लानि होती है। वह कर्ण की प्रशंसा करता है। उस पद-धूलि के लिए व्याकुल हो उठता है। पश्चाताप की ज्वाला मे जलता हुआ वह अपने आपको बर्बर, प्रवंचक, पापी न जाने क्या-क्या अपशब्द कहता है। यही कारण है कि अन्त मे बिना माँगे एकघ्नि शक्ति, कर्ण को प्रदान करता है।

इन्द्र के चरित्र मे जिस पश्चाताप का स्रोत कवि ने प्रवाहित किया है उससे कोई भी सुधी पाठक उसे नीच नही कहेगा। पश्चाताप की अन्तर्ज्वाला मे उसके पाप धुलते नजर आते है।

आयु :—आयु पुरूरवा का उर्वशी से उत्पन्न ज्येष्ठ पुत्र था। बालक के रूप मे उसके सर्वप्रथम दर्शन च्यवन ऋषि के आश्रम में होते हैं। सर्वप्रथम महाराज पुरूरवा स्वप्न मे देखे हुए बालक का जो वर्णन करते हैं वह उसके बलिष्ठ, सुन्दर रूप का परिचायक है।[1]

आयु मे पिता के शारीरिक गुण, विनम्रता विद्यमान है। वह माता-पिता को प्रणाम कर लेता है। उसमे माता-पिता के प्रेम की भूख है जो पुरूरवा से बातें करते समय होती है—

"अब तक रहा वियुक्त अंक से, यही क्लेश क्या कम है ?
तात ! आपकी छाँह-छोड मैं किस निमित्त भागूँगा ?
जब से पाया जन्म, उपोषण रहा धर्म प्राणो का;
हृदय भूख से विकल, पिता ! मैं बहुत-बहुत प्यासा हूँ,
यद्यपि सारी आयु तापसी-माँ का प्यार पिया है॥"[2]

बालक आयु भेद-भाव-रहित है। वह सुकन्या और उर्वशी की भाँति औशीनरी को सगी माँ की तरह ही चाहता है। जब औशीनरी सताप व्यक्त करती है तब उन्हे सान्त्वना देता हुआ उनके स्वर्ण-मय जीवन की कामना करता है। उसे राजमुकुट से अधिक औशीनरी के मातृत्व की चाहना है।[3]

कवि ने आदर्श पुत्र के रूप मे आयु का चरित्र उपस्थित किया है।

(ब) नारी-पात्र

पौराणिक पुरुषपात्रो की भाँति दिनकर के मुख्य नारी-पात्रो का विभाजन भी निम्न प्रकार से किया जा सकता है।

(अ) तर्कशीला, रूपसी-प्रेयसी।
(ब) आदर्श पत्नी।
(क) वात्सल्यमयी मा।

---

१. उर्वशी : पं० अं० पृ० १३०।
२. वही : वही पृ० १३६।
३. वही : वही पृ० १४७।

(अ) तर्कशीला, रूपसी-प्रेयसी

उर्वशी के चरित्र-चित्रण द्वारा कवि ने नारी के सौन्दर्य-सम्पन्न, प्रेमासिक्त तर्कशीला रूप को अंकित किया है। कवि ने यद्यपि उर्वशी के चरित्र को पौराणिक प्रेमिका के रूप में अंकित अवश्य किया है तथापि उर्वशी के माध्यम से काम, सौन्दर्य और प्रेम की भावनाओं का मनोवैज्ञानिक परिवेप मे अंकन किया है। यह सत्य है कि उर्वशी आकर्पण का केन्द्र है, परन्तु वह बौद्धिक द्वन्द्वों का शमन करने वाली विदूषी नारी भी है। कवि ने 'उर्वशी' की भूमिका मे उर्वशी का अर्थ करते हुए लिखा है— "उर्वशी शब्द का कोपगत अर्थ होगा उत्कट अभिलाषा, अपरिमित वासना, इच्छा अथवा कामना। ... उर्वशी चक्षु, रसना, घ्राण, त्वक् तथा श्रोत्र की कामनाओं का प्रतीक है।"[1]

इन्हीं चारित्रिक विशेषताओं के आधार पर उर्वशी के चरित्र का निरूपण करेंगे।

दैवी रूप :

अयोनिजा, अप्सरा उर्वशी कवि के कथनानुसार सनातन नारी के प्रतीक के रूप मे उपस्थित होती है। काम वंश-गता उर्वशी स्वय राजा के पास अभिसार करने आती है। अपनी उत्पत्ति के विषय मे वह स्वय कहती है कि वह अदेह और अदृश्य कल्पना है। वह सागर की आत्मजा और नारायण की मानसिक तनया है।[2] इस कथन से उर्वशी के जन्म की उन दोनों मान्यताओं की पुष्टि होती है जिसमे वह या तो समुद्र-मंथन से प्रसूत थी या नारायण ऋषि के उरु से उत्पन्न हुई थी।

उसके जन्म आदि के बारे मे जब पुरूरवा अपनी जिज्ञासा प्रकट करते हैं तब वह स्पष्ट रूप से कह देती है कि वह देवी है, जिस पर रहस्य का झिल-मिल आवरण आच्छादित है। उसका विस्तार और निवास तो जैसे सम्पूर्ण प्रकृति है।[3]

उर्वशी स्वयं को नाम-गोत्र से रहित, सौन्दर्य-चेतना की तरंग के समान विश्व-नर के अतृप्त इच्छा-सागर मे समुद्भूत चिरयौवना अप्सरा के रूप में ही प्रस्तुत करती है।[4]

---

१. उर्वशी (भूमिका) : पृ० ख।
२. वही : तृ० अंक : पृ० ८८।
३. उर्वशी : तृतीय अंक : पृ० ८८।
४. वही : वही ,, : पृ० ९०।

सौन्दर्य और प्रेम की प्रतिमा

उर्वशी का सौन्दर्य बडा ही मनमोहक है। सहजन्या के शब्दो मे कवि ने उर्वशी का रूप-वर्णन बड़े ही आकर्षक रूप मे प्रस्तुत किया है—

"इसलिए तो सखी उर्वशी उषा नन्दन-वन की।
सुर-पुर की कौमुदी फलित कामना इन्द्र के मन की ॥
सिद्ध विरागी की समाधि मे राग जगाने वाली।
देवो के शोणित मे मधुमय आग लगाने वाली ॥
रति की मूर्ति, रमा की प्रतिमा, तृषा विश्वमय नर की।
विधुकी प्राणेश्वरी, आरती शिखा काम के कर की ॥"[1]

सचमुच कवि ने उर्वशी की मूर्ति शब्द-शिल्प मे ढाल दी है। यही वह सौन्दर्य है जो पुरूरवा को मादक बना देता है।

सौन्दर्य की अधिष्ठात्री उर्वशी प्रेम की देवी है। प्रथम दर्शन में ही वह पुरूरवा को अपना सर्वस्व अर्पित कर देती है और मानवी की तरह प्रेम मे विह्वल मिलन के लिए उत्कण्ठित हो उठती है। स्वर्ग का सौन्दर्य धरती के प्रेम के लिए तडप उठता है। स्वर्ग के सुखो में भी उस पर उदासी छाई रहती है। धरती के प्रेम के लिए वह अभिशाप को भी वरदान मान लेती है।

कवि ने तृतीय अक मे उर्वशी और पुरूरवा की सयोगावस्था के चित्रण में उर्वशी के प्रेमासिक्त हृदय का आलेखन किया है जहा वह सब कुछ भूल कर प्रेमी के अनवरत आलिगन-चुम्बन, दर्शन-स्पर्शन की अभिलाषिणी बन जाती है उसकी तो एक मात्र यही अभिलाषा है कि वह प्रेमी के बाहु-पाश में आजीवन आबद्ध रहे। जब वह पुरूरवा में चिन्तन निहारती है तब उसे लगता है कि उसे तो धरती का प्यार चाहिए, प्यार का चिन्तन नही। उसे तो प्रेमी मे जैसे ईश्वर का रूप ही दिखाई देता है। वह पुरुष और प्रकृति मे प्रेम के कारण इसी अद्वैत भाव को निहारती है। प्रकृति का कण-कण मानो उसे प्रेम का सन्देश देता है। प्रेमी का ससर्ग प्राप्त करने के पश्चात् उसे प्रकृति मे नवीन सौन्दर्यमय परिवर्तन दिखाई देने लगते है। उसे लगता है जैसे कोई उसके शोणित मे स्वर्ण तरीखे रहा हो।

अन्तिम क्षणों मे उसे अभिशाप के कारण प्रेमी से दूर होना पड़ेगा यह कल्पना ही उसके हृदय को चीरती है। परिणाम-स्वरूप जब महाराज अन्तिम अंक मे अपने स्वप्न का वर्णन करते हैं तब विरह के अज्ञात भय से वह कॉप उठती है।

उर्वशी के प्रेमिका-रूप का प्रारम्भ कवि ने जिस सुन्दर मनोवैज्ञानिक ढग से किया है उसका निर्वाह उस ढग से नही हो सका। तृतीय अंक मे पुरूरवा की प्रेमिका अपने स्वरूप को भूल कर उसके द्वन्द्वो का अपने तर्कों द्वारा शमन करने मे ही लगी

१. वही : अंक १ : पृ० ११।

रहती है। वह प्रेम और काम की लम्बी-लम्बी व्याख्याएँ प्रस्तुत करती है। वह जैविक और आध्यात्मिक धरातलों पर काम के रूपों की चर्चा करती है। कवि की उर्वशी जैसे प्रेमिका से हटकर विदूषी नारी बन जाती है और वह पुरुरवा की भाँति कवि के प्रेम और काम-सम्बन्धी विचारों को पुष्ट करने के माध्यम के रूप मे काम करती है। तृतीय अक की उर्वशी प्रेमिका से अधिक प्रेम की व्याख्याता नारी ही विशेष लगी है। यह सत्य है कि उर्वशी का विदूषी-रूप प्रकट हुआ है परन्तु उसका प्रेमिका-रूप दब गया है।

अन्य रूप :

प्रेमिका के उपरान्त उर्वशी स्नेहमयी सखी के रूप मे अकित है। अप्सराएँ उसके सौन्दर्य की प्रशसक हैं और प्रेम-विह्वलता के प्रति सहानुभूति-दर्शक भी। सुकन्या भी उसके स्वभाव के कारण उसकी सखी बन कर उसके लाल का पालन-पोषण करती है और उर्वशी भी उस पर सर्वाधिक विश्वास करती है। मातृत्व उसके चरित्र का उज्ज्वल अश है। गर्भ-धारण करने के पश्चात् गर्भिणी के सभी लक्षण उसमे प्रकट होते हैं। इस बोझिल और कृषगात रूप मे भी उसे असीम आनन्द की प्राप्ति होती है। वह निरन्तर पुत्र को सुन्दर, तेजस्वी, प्रसन्न, धर्मात्मा, विक्रमी एवं प्रजा-पालक बनाने के लिए चिन्तित रहती है। अपने हृदय की शांति और सतोष के लिए वह यदा-कदा च्यवनाश्रम मे जाकर पुत्र को गले से लगाती है। पुत्र को पाकर जैसे वह सर्वस्व पा लेती है। उसे प्रेमी से अधिक पुत्र प्रिय लगने लगता है।

दिनकर ने भोग-तृप्ति में विश्वास करने वाली उर्वशी के स्थान पर प्रेम की पीर से युक्त मानवीय गुणों से सम्पन्न 'उर्वशी' की रचना की है, जो अभिसारिका से प्रेमिका और तत्पश्चात् माता के गौरव-पूर्ण पद को प्राप्त कर क्रमश उच्चतम स्थान प्राप्त कर लेती है।

निष्कर्षत. उर्वशी के चरित्र-चित्रण के अन्तर्गत कवि ने उसे प्रेमिका ही रहने दिया होता तो उसका रूप और भी निखर उठता। कवि ने जैसा कि पहले कहा जा चुका है कि उर्वशी के माध्यम से अपने विचारों को ही पुष्ट किया है—उर्वशी के चरित्र को किंचित बोझिल बना देते हैं।

उर्वशी के चरित्राकन मे कवि की यह विशेषता ध्यान देने योग्य है कि उर्वशी के विविध रूपों के अन्तर्गत भी उसकी गरिमा तो कवि ने मातृत्व मे ही स्थापित की है, *जो भारतीय आदर्श को निरूपित करता है।*

आदर्श पत्नी

दिनकर द्वारा प्रस्तुत नारी-पात्रों मे आदर्श-पत्नी के रूप मे औशीनरी और सुकन्या को लिया जा सकता है। कवि ने औशीनरी के चरित्र-चित्रण मे पौराणिक

भावनाओं के साथ आधुनिक नारी-सुलभ प्रेमकांक्षा, ईर्ष्या आदि का समावेश कर उसे सुन्दर ढंग से अंकित किया है।

औशीनरी :

दुखी नारी .—औशीनरी उस नारी का प्रतिनिधित्व करती है जो पुरुरवा की परिणीता भार्या होने के बाद भी पति-प्रेम से वंचित हो गई। औशीनरी का चरित्रांकन 'विक्रमोर्वशी' के आधार पर ही है। परन्तु कवि ने नारी में व्याप्त मनोवैज्ञानिक व्यथा का सुन्दर ढंग से निरूपण किया है। औशीनरी को जब यह ज्ञात होता है कि महाराज गन्धमादन पर्वत पर गणिका के साथ आनन्द-विहार के लिए गए हैं तब वे अपनी धीरता और नारी की सहन शक्ति का परिचय देती है। निपुणिका द्वारा सूचना देने में हिचकिचाहट देखकर वे कहती है, "पगली। कौन व्यथा है जिसे नारी नहीं सहेगी ?"[1]

अन्तिम समय में पुनः एक अतृप्त प्रेम की भावना जागृत होती है और इसलिए वे इसका विलाप करती हैं कि अन्तिम समय वे मुझे अपने साथ नहीं ले गए। औशीनरी की वेदना, करुणा और प्रेमनिष्ठा अन्तिम पृष्ठों में व्यक्त होती है और वे इन सब घटनाओं का दोष अपने आप पर ले लेती है। उन्हें लगता है कि वे पुरूरवा को अपना प्रेम ही न लुटा सकी। औशीनरी की इस वेदना में कवि ने समग्र नारी जगत की वेदना को वाणी देकर साकार कर दिया है और अन्त में सुकन्या द्वारा प्रबोधित हो, धैर्य धारण कर भविष्य की भार्याओं के लिए स्वर्णिम भविष्य की कामना करती हुई आयु को छाती से लगा लेती हैं और जैसे सारे दुःखों को भूलकर पुत्र-मय बन जाती हैं।

नारी सुलभ ईर्ष्या :—औशीनरी को बार-बार यह आश्चर्य होता है कि महाराज किस प्रकार उर्वशी के प्रेम में एकाएक बदल गए और फिर उनमें नारी सुलभ ईर्ष्या भी उत्पन्न होती है जिसके वशीभूत हो वे उर्वशी के प्रति अपना रोष व्यक्त करती हैं—

> "हाय मरण तक जीकर मुझको हलाहल पीना है,
> जाने, इस गणिका का मैंने कब क्या अहित किया था ?
> कब, किस पूर्व जन्म में उसका क्या सुख छीन लिया था ?
> जिसके कारण भ्रमा हमारे महाराज की मति को
> छीन ले गई अधम पापिनी मुझसे मेरे पति को,
> ये प्रवंचिकायें, जाने, क्यों तरस नहीं खाती हैं।
> निज विनोद के हित कुल-वामाओं को तड़पाती हैं"[2]

---

१. 'उर्वशी' : अंक २ : पृ० २८।

२. उर्वशी : अ० २ : पृ० ३२।

पति परायणा :—लेकिन औशीनरी का वह द्वेष अधिक समय तक नहीं रहता है और वे प्रेम की पीर और उससे उत्पन्न उलझन तथा पुरुषों के हृदय की भ्रमर-वृत्ति पर पश्चात्ताप करती है। उन्हें इस बात का तो दुःख रहता ही है कि सब कुछ समर्पित करने वाली गृहिणी रूप के सामने अपने पति को खो बैठती है।[1]

औशीनरी यह जानकर कि महाराज का प्रेम उनके प्रति कम हो गया है—वे अपने त्याग, तपस्या से मुख नहीं मोड़ती और पति के सुख के लिए अपना तन-मन-धन अर्पित करने की कामना करती है और सदैव उनकी मंगल-कामना के लिए व्रत-साधना करती है, उनके हर दुःखों को अपनाने को उत्सुक रहती है।[2]

औशीनरी मंत्रियों की इस सूचना को भी स्वीकार कर लेती है कि वर्ष-पर्यन्त विहार करने के बाद लौटकर महाराज नैमिषेय यज्ञ करेंगे जिसमें परिणीता पत्नी का साथ में होना धर्मानुकूल है—इस धर्म निर्वाह और पति की इच्छा की पूर्ति के लिए वे मर भी नहीं पातीं। उनका त्याग उस समय और भी निखरता है जब महाराज का यह सन्देश उन्हें मिलता है कि वे पुत्र-प्राप्ति के लिए ईश्वराधना में कोई त्रुटि न आने दें। इस विचित्र आदेश का भी वे नत-मस्तक होकर पालन करती हैं। औशीनरी की उदारता का भव्य-रूप उस समय और भी निखर उठता है जब महाराज के संन्यास ग्रहण कर लेने पर, धैर्य-धारण कर आयु का स्वीकार राजमाता के रूप में कर लेती हैं और उसे उतना ही प्रेम देती है जितना एक सगी माँ दे सकती है।

सुकन्या :

सुकन्या आदर्श-पत्नी के रूप में ही अंकित हुई है। सुकन्या राजा शर्याति की पुत्री और महर्षि च्यवन की पतिव्रता, साध्वी पत्नी थी, जो अपने पति पर सदैव गर्व का अनुभव करती है—

"एक चारिणी मैं क्या जानूँ स्वाद विविध भोगों का ?
मेरे तो आनन्द-धाम केवल महर्षि भर्ता हैं।"[3]

सुकन्या ऐसे ही एक पतिव्रत-धर्म का उपदेश चित्रलेखा को देती है। वे मानती हैं कि गृहस्थ-जीवन में साफल्य तभी है जब नर और नारी इस प्रकार अभिन्न हो जायें, जैसे एक ही वृक्ष पर खिले हुए दो पुष्प।

सौन्दर्य :—सुकन्या में नारी-सुलभ मुग्धता भी है, जिसमें निर्भयता का पुट निखार ला देता है। उसका रूप-सौन्दर्य च्यवन ऋषि जैसे क्रोधी ऋषि का क्रोध भी मोम-सा पिघला देता है। स्वयं सुकन्या अपनी निडरता का उल्लेख करती है और किस प्रकार ऋषि उन पर मोहित हो गये थे इस कथा को चित्रलेखा को सुनाती है।

१. वही : वही : पृ० ३५।
२. वही : वही : पृ० ३६।
३. उर्वशी : अंक चार : पृ० १०२।

उनके और ऋषि के प्रेम-प्रसंग का वर्णन भी उनके द्वारा ही विदित होता है। सुकन्या अपने और च्यवन ऋषि के प्रेम वर्णन द्वारा पति-पत्नी के प्रेम के आदर्श को निरूपित करती है और नारी जीवन की सार्थकता व सौन्दर्य मातृत्व मे ही मानती है—

"नारी ही वह महासेतु जिस पर अदृश्य से चलकर
नए मनुज, नव-प्राण दृश्य जग मे आते रहते हैं।
नारी ही वह कोष्ठ; देव, दानव मनुष्य से छिप कर।
महाशून्य, चुपचाप, जहाँ आकार ग्रहण करता है॥"[१]

सखी :—नारी सुलभ सहानुभूति और प्रेम उनमे कूट-कूट कर भरा है। उर्वशी को गर्भवती जानकर और भरत-शाप का ज्ञान होते ही उर्वशी के प्रति असीम करुणा और भरत के प्रति अपना रोष प्रकट करती है। उर्वशी के पुत्र से उन्हें असीम स्नेह है। उसे हर प्रकार से सुख देने को उत्सुक है। उनकी सदैव उसे महान बनाने की कामना बनी रहती है। उसके लालन-पालन की जिम्मेदारी वे स्वय उठा लेती है।

विदुषी :—अन्तिम समय उर्वशी के अन्तर्धान हो जाने पर वे राजा पुरूरवा को समझाती हैं; और राजा के सन्यास ग्रहण कर लेने पर औशीनरी को सान्त्वना प्रदान करती हुई कहती है कि उन्हें सन्तप्त नही होना चाहिए। विधि के नियमों को ही वे श्रेयस्कर मानती हैं। सुकन्या नारी-जीवन का साफल्य त्याग को ही मानकर अपने विद्वत्ता-पूर्ण विचारो को प्रस्तुत करती हैं।

इस प्रकार कवि सुकन्या को तपस्विनी, विदुषी, पतिव्रता एव त्यागमयी नारी के रूप में अंकित करता है। कवि ने इन दो नारी पात्रो के माध्यम से सर्वत्र त्यागमयी नारी और भारतीय पत्नीत्व के आदर्श का समर्थन किया है।

वात्सल्यमयी माँ-कुंती

दिनकर ने नारी-पात्रो के तीसरे रूप के अन्तर्गत कुती के वात्सल्यमयी स्वरूप का अंकन किया है।

'रश्मिरथी' के अन्तर्गत यद्यपि कुती का पात्र गौण ही है, परन्तु उसमे माँ के जिस गौरवपूर्ण रूप को कवि ने प्रस्तुत किया है वह अवलोकनीय है।

यद्यपि कुती, समाज के भय से अपने पुत्र कर्ण को मजूषा मे बन्द करके प्रवाहित कर दिया था परन्तु उसका दुःख उसे आजीवन सालता है। प्रथम बार जब वह कर्ण को निहारती है और उसकी वीरता को देखती है, उस समय भी यही सामाजिक भय उसके बीच दीवार बन जाता है, जिससे वह कर्ण को छाती से नहीं लगा पाती। उसे तो मन मसोस कर ही चला जाना पड़ता है।

उसे जब विदित होता है कि महाभारत के युद्ध मे कर्ण भाग लेकर अपने शौर्य और शक्ति का परिचय देगा, उस समय उसके मन में यह दुःख घनीभूत हो जाता

१. उर्वशी : च० अंक : पृ० १११।

है कि चाहे कर्ण की विजय हो या अर्जुन की दोनों ओर उसके ही बेटों का रक्त बहेगा। इस युद्ध को टालने के लिए वह अनेक दुविधाओं में डूबती-तैरती कर्ण के पास पहुँचती है। कर्ण के पास पहुँचकर उसका वात्सल्य हिलोरें लेने लगता है। वह जैसे सभी सामाजिक बन्धन, भय और दु:खद परिणामों को भूलकर पुत्र-प्रेम को ही महत्व देती है। वह अनुभव करती है कि पुत्र-प्रेम के बल पर वह संसार के किसी भी संघर्ष का सामना कर लेगी।

कर्ण जब उसके प्रति उपेक्षा प्रदर्शित करता है और उससे भला-बुरा कहकर अपनी युद्ध-विषयक कार्यक्रम में किसी प्रकार का परिवर्तन नहीं करना चाहता, तब कुन्ती मात्र यह कहकर कि वह दो क्षण उसके वक्ष से लग जाय जिसमें वह अपनी वात्सल्य-तृषा को बुझा सके, इन शब्दों में कुन्ती के ममतामयी रूप का ही दर्शन हुआ है।

कुंती के वात्सल्य में ही वह शक्ति है कि वह कर्ण के हृदय को भी अभिभिन्न कर देता है जिसके वशीभूत होकर वह अर्जुन के उपरान्त सभी भाईयों के अभयदान का वचन देता है।

कुन्ती कर्ण से चार पुत्रों का अभय-दान पाकर अतृप्त ही है। वह तो चाहती है कि उसके सभी बेटे जीवित रहें। उसकी दृष्टि में तो सभी बराबर हैं। कुंती अर्जुन और कर्ण की क्षति को समान ही मानती है।

कुन्ती के हृदय में निहित वात्सल्य का प्रकटीकरण कर कवि ने कुंती के प्रति *स्वाभाविक श्रद्धा उत्पन्न कर दी है।*

वस्तुत. कुन्ती का चरित्र उस माँ का प्रतीक है जिसे युद्ध के प्रति घृणा है, जिसके मन में दोनों ओर समभाव है, जिसे दोनों पक्षों की क्षति में अपने अंगों की क्षति ही दिखाई देती है। कुंती माँ के रूप में उस नारी का प्रतिनिधित्व करती है जिसकी करुणा अश्रु युद्ध की ज्वाला को शांत कर सकते हैं।

गौण नारीपात्र :

दिनकर के अन्य नारी पात्रों में चित्रलेखा आदि अप्सराएँ निपुणिका और मदनिका का समावेश किया जा सकता है।

चित्रलेखा —चित्रलेखा उर्वशी की सखी और दूती के रूप में काम करती है। वह प्रेम-विरह से व्यथित मरण-उद्यत उर्वशी को सुरपुर से लाकर मर्त्यभवन में पुरूरवा के पास उद्यान में पहुँचा देती है। वह चतुर और वाक्पटु है। वह अपनी सखियों द्वारा शंका करने पर कि पुरूरवा के एक रानी है? फिर उर्वशी का क्या होगा—यह कहकर समाधान करती है कि एक घाट पर किस राजा का प्रेम बँधा रहता है, लेकिन उसे विश्वास है कि उर्वशी ही राजा के हृदय की रानी बनेगी।[1] चित्रलेखा द्वारा ही प्रथम पुरूरवा और उर्वशी के हृदय की उभयदिक् ज्वाला का

१. उर्वशी : प्र० अं० : पृ० २२।

परिचय मिलता है। इसी वेदना को वह प्रेमियों की शोभा मानती है। चित्रलेखा प्रेम की बड़ी सुन्दर व्याख्या चतुर्थ अंक में सुकन्या के साथ करती है। जहाँ प्रेमी एक दूसरे में खो जायं उसे ही वह प्रेम की पूर्णता मानती है। जैसे प्रसून एक ही डाल पर खिलकर एकाकार बने रहते हैं।[1] वह प्रेम में पवित्रता और दाम्पत्य जीवन का पक्ष लेती है, जो सुकन्या की भावनाओं के अनुरूप है। नारी-जीवन की सार्थकता अप्सरा होकर भी वह समर्पण में मानती है।[2] यद्यपि वह 'उर्वशी' में कहीं प्रेम-पाश-बद्ध नहीं है तथापि प्रेम की विदग्धता और उसके रूपों से भुक्त-भोगिनी की भाँति परिचित अवश्य है। वह मातृत्व की समर्थक है और इसीलिए उर्वशी के साथ वह अपनी सहानुभूति प्रगट करती है।

चित्रलेखा नारीत्व के अधिक निकट है, परन्तु वह अप्सरा है यह कभी नहीं भूलती। इसीलिए उर्वशी को दुःखी देखकर वह कहती है कि अप्सरायें सतति का पालन कब करती है अतः वह उसके साथ स्वर्ग मे लौट चले।[3] अन्य अप्सराओं की तुलना में वह अधिक भावुक है जो प्रेम और उसकी पीड़ा से परिचित है और भारतीय आदर्श के अनुरूप आदर्श पत्नीत्व की समर्थक है।

मेनका :—मेनका अवश्य चित्रलेखा के निकट लगती है। वह धरती के प्रेम और पीड़ा मे आनन्द निहारती है। उसके विचारानुसार धरती के लोग ही विशेष सुखी है जो सुख-दुःख का अनुभव कर दो दिन की जिन्दगी मे भी धधक-धधक कर जीते हैं।[4]

मातृत्व को वह महान गुण मानती है। नारी जब मातृत्व ग्रहण करती है तब वह पयस्विनी बन जाती है। उसे नारी का मातृ-रूप अधिक प्रिय लगता है।[5]

मेनका की भावनायें चित्रलेखा की ही भाँति प्रेम मातृत्व की समर्थक अवश्य हैं, परन्तु वह भी मुक्त रहना विशेष प्रिय मानती है।

अन्य अप्सरायें :

रम्भा, मेनका, सहजन्या हैं। ये सभी धरती से अधिक स्वर्ग की सुख-भावनाओं की समर्थक हैं। सहजन्या और रम्भा भोगवाद की अधिक समर्थक है। वे प्रेम या पत्नीत्व को घृणित वस्तु मानती है। रम्भा तो किसी एक पुरुष के लिए रोना बेवकूफी समझती है। उसके सिद्धान्त के अनुसार तो अप्सराओं का जन्म ही मोद करने के लिए सुर-नर सभी का मन भरने के लिए तथा सैर विहार करने के लिए

१. वही : च० अं० : पृ० १०४।
२. वही : वही : पृ० १०६।
३. उर्वशी : च० अं० : पृ० १२१।
४. वही : प्र० अं० : पृ० ११।
५. वही : वही : पृ० १६।

हुआ है। उसे तो अनेकों की चाहों में और अनेकों की बाहों में रहना ही योग्य लगता है। सहजन्या के साथ बातचीत करते समय वह धरती के प्रेम की पीड़ा और मातृत्व का पीड़ामय चित्रण करती है जो सहजन्या के मन में धरती के प्रति घृणा पैदा करती है।[1] अप्सरायें मातृत्व का भार भी सहन कर सकतीं है—यह कल्पना रम्भा और सहजन्या के लिए तो हास्यास्पद ही है।

निपुणिका एवं मदनिका—ये दोनों महारानी औशीनरी की सखी के रूप में हैं। निपुणिका सर्वप्रथम महारानी औशीनरी को पुरूरवा और उर्वशी के प्रेम की तथा गन्धमादन पर्वत पर जाकर विहार करने के दुखद समाचार देती है। पुरूरवा और उर्वशी के मिलन और प्रेम-संवादों का वर्णन वह महारानी को सुनाती है। महारानी के प्रति उसके हृदय में नारी सुलभ सहानुभूति है। वह महारानी को समझाती है कि उन्होंने क्यों महाराज को प्रेम से जीत न लिया ?

मदनिका औशीनरी को निपुणिका की भांति सान्त्वना देती है और पति-आज्ञा को शिरोधार्य कर तब तक जीना अनिवार्य बताती है जब तक महाराज लौटकर न आ जायें। क्योंकि यज्ञ में तो पत्नी के रूप में उसे ही बैठना होगा।

प्रेम का विश्लेषण वह बड़े ही आकर्षक ढंग से करती है। नारी-जीवन के सर्वाधिक गौरवमयी क्षण वे हैं जब वह प्रेम को अपना कर अपना शृंगार करती है। नारी के प्रेम में वह शक्ति है कि वह तपस्वियों और ज्ञानियों को नत कर लेती है।[2]

नारी की तरह नर का प्रेम नए-नए पात्रों की ओर विशेष उन्मुख रहता है। पुरुष के प्रेम को वह नारी की तरह स्थायी और समर्पणशील नहीं बनाती। पुरुष जब सभी क्षेत्रों से असफल होकर लौटता है तब उसे नारी का वक्ष ही सान्त्वना देता है। उसके विचारानुसार नारी का प्रेम त्यागमयी एवं समर्पणशील होता है, जबकि नर नित्य नई नूतनता की ओर भ्रमर-वृत्ति से भटकता है।

वस्तुतः गौण-नारी पात्रों में कवि चित्रलेखा और मेनका द्वारा धरती के प्रेम और नारीत्व के गुणों की चर्चा करता है तथा सहजन्या आदि के माध्यम से आधुनिका के प्रति अपनी अनास्था व्यक्त करता है वैसे सभी नारी पात्र मुख्य पात्रों के सहायक ही हैं जिनका अंकन परम्पराजन्य ही है।

ऐतिहासिक पात्र

दिनकर के वर्ण्य-विषय के अन्तर्गत हम यह स्पष्ट कर चुके हैं कि दिनकर ने ऐतिहासिक आधार लेकर मुक्तक रचनाएँ ही लिखीं। 'कलिंग विजय' ही उनकी ऐसी मुक्तक रचना है जिसमें कवि ने अशोक को पात्र के रूप में अंकित किया है।

---

१. वही : वही : पृ० १६-१७।
२. उर्वशी : द्वि० अं० : पृ० ३३।

क्रांति और ध्वंस का कवि अशोक के माध्यम मे पहली बार अपने शांति के विचारों को प्रस्तुत करता है ।

कवि ने अशोक के उस पक्ष को अंकित किया है, जो युद्धोपरान्त ध्वंस को देखकर करुणा से ओत-प्रोत है, जिसके मन मे ग्लानि और निर्वेद उभर उठे हैं । युद्ध के मैदान मे मँडराती हुई मौत की छाया, कुत्तो और सियारों की आवाजें एव घूंट भर पानी के लिए तड़प-तड़प कर मरते हुए लोगों का क्रन्दन, क्रूर अशोक के हृदय को भी पिघला देता है । अशोक किसी अज्ञात लोक मे खो जाते हैं । उन्हें पुनः यह महसूस होता है कि चारो ओर से उन्हे धिक्कारा जा रहा है ।[1]

अशोक सम्पूर्ण युद्ध का उत्तरदायी अपने आप को मानते हैं । बालको, वृद्धों और विधवाओं का चीत्कार उन्हें विक्षिप्त बना देता है । लगता है कि विजय के मद मे उन्होने आदमी का रक्त बहाया है । अशोक के अन्दर प्राणो मे शान्ति रूपी नारी उदित होती है जो पुरुष के अहं पर विजय प्राप्त करती है । वे भगवान बुद्ध के सर्वहित के सिद्धान्त को अपनाकर प्रार्थना करते है कि वे सदैव प्रजा के प्रति पिता-सा व्यवहार करें ।

अशोक जिस शाति को प्राप्त कर सके वही उनकी सच्ची विजय थी जिसमें करुणा की ज्योति झिलमिला रही थी ।

अशोक के चरित्र द्वारा दिनकर ने युद्ध से त्रस्त मानव का वृत्तियो की नवीन परिवेश मे चित्रण किया है । अशोक के चरित्र मे परिलक्षित परिवर्तन कवि की परिवर्तित मान्यताओ का ही प्रतिबिम्ब है ।

अशोक के पात्र को देखकर ऐसा आभास होता है कि जिस दिन विश्व के महान राजनीतिज्ञो के हृदय भी ऐसी ही घृणा से भर जाएँगे उस दिन विश्व मे सच्ची शांति स्थापित होगी ।

युगीन पात्र :

दिनकर की पात्र-योजना के अन्तर्गत पौराणिक और ऐतिहासिक पात्रो के उपरान्त युगीन पात्रो को भी स्थान मिला है जिसमे गांधी जी प्रमुख हैं ।

'बापू' काव्य-संग्रह में कवि ने गांधी जी से सम्बन्धित रचनाएँ प्रस्तुत की है । यह सत्य है कि दिनकर ने गांधीवाद की नीति का अपनी प्रारंभिक रचनाओ मे खण्डन किया है परन्तु पूर्वाग्रह कभी नही रखा । कवि को गांधी की शाति, समाजवाद, अस्पृश्यता-निवारण, नारी-उत्थान आदि की जो भावनाएँ अनुकूल लगी, उनको अपने कृतित्व मे अवश्य स्थान दिया । कवि को गांधी की विराटता के जब दर्शन हुए तब नि.संकोच होकर उसने वामन-स्वरूप मे उनकी पूजा भी की ।

गांधी की असमय और अमानुषिक ढग से जो हत्या की गई उसने कवि के

१. सामधेनी (कलिंग-विजय) : पृ० ५२ ।

मन को उद्वेलित कर दिया। कवि को लगा कि पशुता मानवता को चर गई है। उसे चारों ओर अन्धकार दिखाई देने लगता है। वह देश के उत्कर्ष के लिए बार-बार गांधी को पुकारता है। कवि ने अपनी सम्पूर्ण श्रद्धा गांधी के व्यक्तित्व और शक्ति में प्रदर्शित की है। दिनकर के गांधी की विशिष्टता यह है कि वह उनका गांधी है, जो कर्त्तव्य का मंत्र सिखाता है, जिसकी महत्-शक्ति पहाड़-सी अडिग है। दिनकर गांधी की पूजा अन्य सत्ता-लोलुप कांग्रेसियों की तरह नहीं करते।

गांधी जी के उपरान्त विनोबा, जयप्रकाश, राजेन्द्र बाबू, यतीन्द्रनाथ दास, जवाहरलाल आदि को अपनी मुक्तक-रचनाओं में कवि ने स्थान दिया है। परन्तु ऐसी रचनाएँ अति अल्प मात्रा में एकाध ही हैं।

सम्पूर्ण पात्रों के अनुशीलन के बाद ऐसा प्रतीत होता है कि दिनकर द्वारा पात्रों का आलेखन जिस गरिमा के साथ होना चाहिए था, वह नहीं हो पाया या तो पात्र कवि के विचारों के माध्यम बनकर प्रस्तुत हुए हैं या फिर साधारण से बनकर गौण रह गए हैं। पात्र-सृष्टि के अन्तर्गत कवि की कवित्व-शक्ति का समुन्नत रूप किन्हीं अंशों तक कम प्रतीत होता है।

रस-दर्शन

'रस' शब्द की व्याख्या करते हुए निरुक्तकार ने लिखा है—"रस्यते आस्वाद्यते जिह्वया लिह्यते इति रसः।"[1] इस व्याख्या में जीभ के आस्वाद का महत्व स्थापित कर मात्र बाह्य-रस का परिचय ही दिया गया है।

भरत मुनि ने इस आस्वाद के आधार पर 'नाट्य-शास्त्र' में रस की परिभाषा के अन्तर्गत आस्वाद देने वाले पदार्थ को रस माना है और रस की निष्पत्ति के विषय में उन्होंने लिखा है—

"विभावानुभाव व्यभिचारिसंयोगाद् रसनिष्पत्तिः।"[2] अर्थात् विभाव, अनुभाव और व्यभिचारी भावों के संयोग से रस निष्पन्न होता है। आचार्य मम्मट ने रस की परिभाषा देते हुए लिखा है—

"विभावानुभावास्तत्र कथ्यन्ते व्यभिचारिणः।
व्यक्तः स तैर्विभावाद्यैः स्थायीभावो रसः स्मृतः।"[3]

भावार्थ कि—ललना आदि एवं उद्यानादि विभाव, कटाक्ष, भुजाक्षेप आदि अनुभाव तथा हर्षादि व्यभिचारियों से परिपुष्ट रति आदि स्थायी भाव ही सहृदय में रस की संज्ञा ग्रहण कर लेता है।

---

१. निरुक्त (निघण्टु) : अध्याय १, उदकनामानि।
२. नाट्यशास्त्र : अध्याय ६, श्लोक ३२ के पश्चात्।
३. काव्यप्रकाश, उल्लास ४, कारिका २८।

साहित्य-दर्पणकार ने रस की व्याख्या और विवेचना करते हुए लिखा है —

"सत्वोद्रेकादखण्डस्वप्रकाशानन्दचिन्मयः ।
वेद्यान्तरस्पर्शशून्यो ब्रह्मास्वाद सहोदर. ॥
लोकोत्तरचमत्कारप्राणः कैश्चित्प्रमातृभि ।
स्वकारवदभिन्नत्वेनायमास्वाद्यते रसः ॥"[1]

भावार्थ कि—अन्त करण मे रजोगुण एव तमोगुण को दबाकर सत्व के उद्रेक से अखण्ड, स्वयं प्रकाश रूप, आनन्दमय और चिन्मय, विषयान्तर के ज्ञान से शून्य, ब्रह्मास्वाद के समान अलौकिक चमत्कार से पूर्ण यह रस किन्ही ज्ञाताओ द्वारा पूर्व-पुण्य-जनित संस्कारों के फलस्वरूप ही अपने आकार की भाति अभिन्नरूप से आस्वाद्य होता है ।

दूसरे शब्दो मे कहे तो जब हम किसी कृति का अध्ययन या श्रवण करते हैं, अथवा नाटक देखते हैं उस समय हमारे मन मे जो भाव जागृत होते है । हमे जिस आनद की अनुभूति होती है—वही रस है। हम इसको इस तरह प्रस्तुत कर सकते है—

काव्य के पठन, श्रवण या नाटकादि के दर्शन से सहृदय के मन मे विभाव, अनुभाव एव संचारी-भावों से अभिव्यक्त स्वाद या आनन्द का नाम ही रस है ।

मूलतः रति, हास्य, शोक, उत्साह, भय, जुगुप्सा, आश्चर्य तथा निर्वेद नौ स्थायी भावो के अनुसार शृंगार, हास्य, करुण, रौद्र, वीर, भयानक, वीभत्स, अद्भुत और शात नौ रस माने गये है । इसके अतिरिक्त कई आचार्यों ने वात्सल्य और भक्ति को भी रस की श्रेणी में माना है ।

रस भारतीय काव्य मीमासा की मौलिक देन है ।

दिनकर की कृतियों में रस-दर्शन :

अंगी-रस—दिनकर की मुक्तक और प्रबन्ध कृतियो को रस की कसौटी पर कसने से स्पष्ट होता है कि दिनकर ने यद्यपि सभी रसो का न्यूनाधिक मात्रा मे प्रयोग किया है । परन्तु विशेषता वीर और शृंगार रस की ही है । कवि के काव्यो के अध्ययन में भी विषय की दृष्टि से विचार करते समय हम यह स्पष्ट कर चुके हैं कि कवि ने राष्ट्रीय और प्रेम एवं सौन्दर्य सम्बन्धी रचनायें ही सर्वाधिक मात्रा मे प्रस्तुत की है । इस आधार पर भी हम उनकी कृतियो मे विशेष रूप से निष्पन्न वीर और शृंगार रस की चर्चा करेंगे ।

वीर-रस—वीर-रस मुख्यतः शत्रु का उत्कर्ष, उसकी ललकार, दीनों की दशा, धर्म की दुर्दशा आदि देखकर पात्र के हृदय मे उनको मिटाने के लिए जो कार्य करने, अपना पुरुषार्थ दिखाने आदि का उत्साह उत्पन्न होता है और क्रियाशील हो-

१. साहित्यदर्पण : परि० ३, कारिका, २-३ ।

जाता है, उसी के वर्णन में वीर-रस का स्रोत पाठक या श्रोता में उमडता है। 'नाट्य-दर्पण' मे श्री रामचन्द्र गुणचन्द्र वीर-रस की व्याख्या करते हुए लिखते हैं—

"पराक्रम, सैन्य, धन-धान्य मंत्री, शारीरिक शक्ति, युद्ध-उपाय के प्रयोग, शौर्यादि गुण की ख्याति इत्यादि विभावों की मदद से जो उत्साह का स्थायी भाव सहृदय के मन मे पूर्व संस्कार से अस्तित्व मे था वह वीर-रस के रूप मे परिणमित होता है।"[1]

वीर-रस का स्थायी भाव उत्साह है, आलम्बन शत्रु या जिसे जीतना हो वह होता है, उद्दीपन विभाव मे उसकी चेष्टायें, सेना, विपक्षी के प्रताप, उत्कर्ष का श्रवण होता है। अनुभाव में बाँह फड़कना, प्रहार करना आदि होते है। संचारियो में वितर्क, स्मृति, धृति, रोमाच, गर्व, उग्रता आदि भाव होते हैं।

वीर चार प्रकार के माने गये हैं—युद्धवीर, दयावीर, दानवीर और धर्मवीर।

वीर-रस का देवता महेन्द्र और रग स्वर्ण माना गया है।

दिनकर की प्रारंभिक मुक्तक कृतियाँ, 'रेणुका' 'हुंकार' और 'सामधेनी' में तथा प्रबन्ध 'कुरुक्षेत्र' और 'रश्मिरथी' मे वीर-रस की निष्पत्ति सुन्दर बन पड़ी है। 'कुरुक्षेत्र' तथा 'रश्मिरथी' के अगी-रस के रूप मे वीर-रस ही है।

दिनकर राष्ट्रीय काव्य-धारा के कवि होने के कारण वीर-रस को विशेष रूप से निष्पन्न कर, पराधीन देश के सुप्त सिंहो को जगाते है। उनके वीर रस-पूर्ण वर्णनो से प्रभावित हो देश मे क्रांति की अगडाई आ जाती है। उसे वीरो की आवश्यकता है—

"रे रोक युधिष्ठिर को न यहाँ, जाने दे उनको स्वर्ग धीर
पर, फिरा हमे गाण्डीव-गदा, लौटा दे अर्जुन, भीम वीर।"[2]

'रेणुका' की 'कस्मै देवाय' कविता की उत्साहपूर्ण उक्तियाँ हृदय मे उत्साह प्रेरित करती हैं—

"क्रांति-धात्रि कविते ! जागे, उठ, आडम्बर मे आग लगादे,
पतन, पाप, पाखण्ड जलें, जग मे ऐसी ज्वाला सुलगा दे।"[3]

'हुंकार' की 'स्वर्ग-दहन', 'आलोक धन्वा', 'हाहाकार', 'दिगम्बरि', 'विपथगा' रचनाओ मे वीर-रस रौद्र रस से सम्पृक्त है—

---

१. 'नाट्यदर्पण' रामचन्द्र-गुणचन्द्र : पृ० १६८,
(गायकवाड—ओरीएन्टल सिरीज)।
२. 'रेणुका' (हिमालय) : पृ० ७।
३. वही (कस्मै देवाय) : पृ० ३३।

"'दूध-दूध' फिर सदा कब्र की, आज दूध लाना ही होगा,
जहाँ दूध के घड़े मिलें, उस मंजिल पर जाना ही होगा।
हटो व्योम के मेघ, पंथ से, स्वर्ग लूटने हम आते हैं,
'दूध-दूध' ओ वत्स! तुम्हारा दूध खोजने हम जाते हैं।"[1]

यहाँ उत्साह स्थायी रूप से वर्तमान है। कवि आश्रय है। स्वर्ग (पूँजीवादी सम्यता) आलम्बन है। पूँजीवाद का निर्ममता उद्दीपन है। 'हटो व्योम' के मेघ पथ से, गर्भसूचक वाक्य अनुभाव है। 'दूध-दूध' की पुकार की स्मृति वीर-रस का संचारी-भाव है।

'सामधेनी' की 'अतीत के द्वार पर', 'आग की भीख', 'फलेगी डालों मे तलवार', 'जवानी का झण्डा', 'जवानियाँ' आदि कविताओ मे वीर-रस का अङ्कन हुआ है—

"हटो तमीचरो कि हो चुकी समाप्त रात है,
कुहेलिका के पार जगमगा रहा प्रभात है।
लपेट मे समेटता, रुकावटो को तोड के।
प्रकाश का प्रवाह आ रहा दिगन्त फोड़ के।
विपीर्ण डालियाँ महीरुहों की टूटने लगी;
शमा की झालरें व टक्करों से फूटने लगी।
चढ़ी हुई प्रभजनो पे आ रही जवानियाँ।"[2]

यहां जवान आश्रय है। जवानी आलम्बन है। प्रकाश का प्रवाह, डालियो का टूटना उद्दीपन-भाव हैं। गर्व, उग्रता आदि सचारी भाव है और साहस स्थायी भाव है।

'बापू' काव्य की कतिपय पक्तियाँ वीर रस के सुन्दर उदाहरण के रूप में प्रस्तुत की जा सकती हैं—

"एकाकी, हा एकाकी हूँ, डसना चाहे तो व्याल उसे,
करुणा को जिसने ग्रसा, बढे आगे, मुझको वह काल ग्रसे।
मैत्री, विश्वास, अहिंसा को, जिस महा दनुज ने खाया है,
है कहाँ छिपा! ले ले भोजन, फिर वैसा ही कुछ आया है।
वामी से कढ़ बाहर आवे, वह दनुज मुझे भी खाने को,
मैं हो गया तैयार प्रेम का अन्तिम मोल चुकाने को।"[3]

यहाँ उत्तम प्रकृति बापू वीर रस के आश्रय हैं। नोआखली मे अकेले घूमने वाले पुरुष से बढ़कर और कौन वीर है? दानवता (साम्प्रदायिकता) शत्रु आलम्बन विभाव है। बापू की ललकार अनुभाव है। असीम धैर्य और आत्मगर्व सचारी हैं।

---

१. हुंकार (हाहाकार): पृ० २३।
२. 'सामधेनी': (जवानियाँ) पृ० ८२-८३।
३. बापू: पृ० २५-२६।

'कुरुक्षेत्र' मे यद्यपि वीर, करुण और शान्त तीनों रसों की बहुलता है। परन्तु उत्साह की मात्रा अधिक होने से इसे वीर-रस पूर्ण कृति मानना ही योग्य है। इस कृति मे वीर-रस की निष्पत्ति भीष्म द्वारा युद्ध की अनिवार्यता को सिद्ध करने वाले कथनों मे हुई है। जो उत्साह के जनक हैं। भीष्म को कायरता की बातें कभी पसन्द नही रही। 'कुरुक्षेत्र' मे युद्ध के कारणों मे कवि भीष्म द्वारा जिन विविध परिस्थितियों को उत्तरदायित्व सिद्ध करता है वे उद्दीपन-स्वरूप स्वीकार की जा सकती हैं। सम्पूर्ण तृतीय और चतुर्थ सर्ग भीष्म की ऐसी ही उत्साहपूर्ण व्याप्तियो से परिपूर्ण हैं। युधिष्ठिर को धिक्कार वचन कहते समय उनकी वाणी का ओज दृष्टव्य है—

"अपने दुःख और सुयोधन के सुख, क्या न सदा तुझको खलते थे?
कुरुराज का देख प्रताप बला, सच, प्राण क्या तेरे नही जलते थे?
तप से ढँक, किन्तु, दुराग्नि को पाण्डव साधु बने जग को छलते थे,
मन मे थी प्रचण्ड शिखा प्रतिशोध की, बाहर वे कर को मलते थे।"[1]

यहाँ पाण्डव आश्रय है। सुयोधन के सुख के प्रति ईर्ष्या आलम्बन है। कौरवो का प्रताप उद्दीपन है। कुरुराज के प्रताप से व्याप्त द्वेष, पाण्डवो का छलना, प्रतिशोध की भावना एव कर मलना अनुभाव है। ईर्ष्या असूया आदि सचारी भाव हैं।

'कुरुक्षेत्र' के द्वितीय, तृतीय, चतुर्थ एव पचम सर्गो मे उत्साह का भाव सर्वाधिक प्रबल होने के कारण वीर-रस के अनेक उदाहरण प्रस्तुत किये जा सकते हैं। 'कुरुक्षेत्र' के वीर-रस के सबध मे कान्तिमोहन शर्मा के विचार उल्लेखनीय हैं। वे 'कुरुक्षेत्र' मे वीर-रस के सचारी भावो की बहुलता देखकर लिखते है—"गर्व, वितर्क, आवेग आदि सचारियो की सहायता के कारण भीष्म के कथनो मे एक अद्भुत वक्रता तथा ओजस्विता का समावेश हो गया है।"[2]

'रश्मिरथी' मे वीर-रस अगीरस है। जिसका अथ से इति तक सफलता से निर्वाह किया गया है। श्री लालधर त्रिपाठी ने 'रश्मिरथी' की रसयोजना के बारे मे लिखा है—"इस प्रबध मे आकर उन्हें अपनी रस-सिद्धि दिखाने का पर्याप्त अवसर मिल पाया है। जिस प्रकार कर्ण वीरता की मूर्ति था उसी प्रकार अपने सर्वथा अनुकूल ही उसे कवि भी प्राप्त हो गया।"[3]

'रश्मिरथी' का प्रारम्भ ही कर्ण की वीरतापूर्ण उक्तियो से होता है। वह अपने तेज का वर्णन जिन शब्दो मे करता है वह उत्साह और वीरता से सभर है। कर्ण 'रश्मिरथी' मे युद्धवीर, दानवीर, दयावीर और धर्मवीर चारो रूपो मे अङ्कित है। परन्तु उसका युद्धवीर और दानवीर रूप ही विशेष रूप से प्रतिभासित है। तृतीय

---

१. कुरुक्षेत्र . पंचम सर्ग : पृ० ६७।
२ 'कुरुक्षेत्र मीमांसा' कान्तिमोहन शर्मा पृ० १७३।
३. दिनकर के काव्य : लालधर त्रिपाठी : पृ० १८१।

सर्ग में वह मैत्री के बदले मे सिर कटाने को प्रस्तुत है। उसकी चाह तो युद्ध में कूद पड़ने की है—

> "संग्राम-सिंधु लहराता है, सामने प्रलय घहराता है,
> रह-रहकर भुजा फड़कती है, बिजली से नसे कड़कती हैं
> चाहता तुरत मैं कूद पड़ूँ, जीतूँ कि समर मे डूब मरूँ,
> अब देर नहीं कीजै केशव। अब रोर नहीं कीजै केशव !
> धनु की डोरी तन जाने दें, संग्राम तुरत ठन जाने दें,
> ताण्डवी तेज लहरायेगा, ससार ज्योति कुछ पायेगा।"[१]

चतुर्थ सर्ग में कर्ण का दानवीर रूप उसके वीर स्वभाव का परिचायक है और उसकी उक्तियो मे वीररस प्रवाहित होता है। छठे और सातवें सर्ग मे तो जैसे वीर-रस साकार रूप धारण कर लेता है। युद्ध मे जाते हुए कर्ण का रूप कितना तेजस्वी है—

> "सेना समग्र हुंकार उठी, 'जय-जय राधेय' पुकार उठी,
> उल्लास-मुक्त तो छहर उठा, रण-जलधि घोष मे घहर उठा,
> बज उठी समर-भेरी भीषण, हो गया शुरू सग्राम गहन
> सागर-सा गर्जित, क्षुभित, घोर, विकराल, दण्ड-धर-सा कठोर,
> अरिदल पर कुपित कर्ण टूटा, धनु पर चढ़ महामरण छूटा
> ऐसी पहली सी आग चली, पाण्डव की सेना भाग चली।"[२]

'रश्मिरथी' मे वर्णित युद्ध-वर्णन की एक-एक पंक्ति वीररस से सभर है।

'रश्मिरथी' मे अङ्कित वीर-रस पूर्ण लक्षणो से व्यक्त हुआ है। कर्ण मानो युग मे व्याप्त असंस्कार, भेद-भाव, सर्प-वृत्ति के उन्मूलन के लिए ही वीर के रूप में अवतरित हुआ था।

'उर्वशी' कवि की शृंगार-रस की कृति है। परन्तु उर्वशी के अन्तर्धान होने पर पुरूरवा का करुण विप्रलम्भ भाव क्रोध में परिवर्तित हो जाता है। वे धनुष-बाण मांगते हैं और युद्ध के लिए प्रस्तुत हो जाते हैं—

> "लाओ मेरा धनुष, सजाओ गगन-जयी स्पंदन को,
> सखा नहीं, बन शत्रु स्वर्ग पर मुझे आज जाना है।
> और दिखाना है, दाहकता किसकी अधिक प्रबल है,
> भरत-शाप की या पुरुरवा के प्रचण्ड बाणों की।"[१]

× × × ×

---

१. 'रश्मिरथी' : तृतीयसर्ग : पृ० ४४-४५।
२. वही : षष्ठ सर्ग : पृ० १०६।

उठो, बजाओ पटह युद्ध के, कहदो पौर-जनों में,
उनका प्रिय सम्राट स्वर्ग में वैर ठान निकला है।
साथ चले, जिसको किंचित भी प्राण नहीं प्यारे हो।"[1]

यहाँ पुरुरवा आश्रय है। उर्वशी का स्वर्ग में चला जाना आलम्बन है। उसके अन्तर्धान होने से देवगणों का हाथ उद्दीपन है। धनुष मांगना, युद्ध पटों का बजना, गर्वोक्ति का उच्चार अनुभाव हैं। त्रोत, असूया, गर्व संचारी भाव हैं।

स्वातन्त्र्योत्तर रचनाओं में 'नीम के पत्ते' की 'रोटी और स्वाधीनता,' 'जनता' तथा 'स्वाधीन' भारत की सेना' काव्यों में वीररस दृष्टव्य है।

'मृति-तिलक' की 'वीर-वन्दना' 'भारत-वृत्त' कविताओं में वीर-रस की अभिव्यक्ति हुई है।

सर्वाधिक उत्साहपूर्ण और वीर-रस से ओत-प्रोत संग्रह 'परशुराम की प्रतीक्षा' है। जिसमें 'हुँकार' कालीन वीरता जीवित हो उठी है। कविता की हर पंक्ति वीर-रस का उदाहरण है—

"दुर्दान्त दस्यु को सेल हूलते हैं हम, यम की दंष्ट्रा से खेल झूलते हैं हम,
वैसे तो कोई बात नहीं कहने को, हम टूट रहे केवल स्वतंत्र होने को।"[2]

इसी संग्रह की 'हिम्मत की रोशनी', 'आज कसौटी पर गांधी की आग हैं', 'जौहर', 'समर शेष है', जैसे काव्यों में वीर-रस के उत्तम अंश दृष्टव्य हैं।

शृंगार-रस

"कामदेव का अंकुरित होने या प्रादुर्भाव शृंग कहलाता है। उसकी उत्पत्ति का कारण अधिकांश उत्तम प्रकृति में उत्पन्न रस-शृंगार कहलाता है।"[1] शृंगार का स्थायी भाव प्रेम या रति है। इसलिए आलम्बन के भेद से स्त्री-पुरुष के प्रेम से अधिक अन्य कई प्रकार का प्रेम हो सकता है। परन्तु, दाम्पत्य रति ही रस दशा तक शीघ्र पहुँचने के कारण आचार्यों ने आलम्बन रूप में पुरुष-स्त्री अर्थात् प्रेमी-प्रेमिका को ही महत्व दिया है।

शृंगार के मूल दो पक्ष होते हैं—संयोग और वियोग। संयोग शृंगार का दूसरा नाम सम्भोग शृंगार भी है। परस्पर प्रेम में अनुरक्त नायक नायिका जहाँ दर्शन-स्पर्शन आदि करते हैं, वहाँ संयोग-शृंगार होता है। और जहाँ परस्पर अनुरक्त प्रेमी परतंत्र होने के कारण मिल नहीं पाते वहाँ विप्रलम्भ या वियोग शृंगार होता है। विप्रलम्भ को अभिलाष, विरह, ईर्ष्या, प्रवास एवं शाप के कारण पंचविध कहा

१. उर्वशी : पंचम अंक : पृ० १३८-१३९।
२. 'परशुराम की प्रतीक्षा' : पृ० ६-७।

है।[1] उद्दीपन विभाव के अन्तर्गत प्रेमियों की वेश-भूषा, विविध चेष्टायें, चन्द्र-चादनी, वसन्त ऋतु, एकान्त स्थल आदि आते है। अनुरागपूर्ण आलाप, स्पर्श, आलिंगन, चुम्बन, भृकुटि-भग, कटाक्ष, अश्रु आदि संयोग और वियोग के अनुभाव है। उत्कण्ठा उग्रता, रोमांच, आहे भरना, धृति, आदि संचारी भाव हैं।

दिनकर की प्रारंभिक रचनाओं में श्रृंगार के स्थान पर सतही सौन्दर्य-भावनायें ही व्यक्त हुई है। सौन्दर्य का इच्छुक कवि युगधर्म की ओर जागृत रहने के कारण श्रृगार को प्रदर्शित करने में हिचकिचाता रहा।

मुक्तक रचनाओ मे 'रसवन्ती' मे अवश्य श्रृंगार की किंचित निष्पत्ति हुई है। कवि नारी को आलम्बन बनाकर उसके अनेक रूपो का वर्णन करता है—

"मैं रहा देखता निर्निमेष, तुम खड़ी रही अपलक चितवन,
नस-नस जृम्भा सचरित हुई संत्रस्त शिथिल उर के बंधन,
सहसा, बोली 'प्रियतम', अधीर, श्लथ कटि से गिरा कलश तेरा
गिर गए बाण, गिर गया धनुप सिहरा यौवन का रस मेरा।"[2]

यहाँ पुरुष आश्रय और प्रिया आलम्बन है। निर्निमेष देखना, नस-नस में जम्हाई आना, प्रेम विभोर हो धनुष बाण का गिरना, सिहर उठना आदि अनुभाव हैं। प्रेयसी का रूप, सौन्दर्य, एकान्त मिलन उद्दीपन है। मिलने की उत्कण्ठा, औत्सुक्य, व्रीडा आदि सचारी भाव हैं।

'रसवन्ती' मे नारी काव्य में प्ररूढ यौवना मध्या नायिका का सुन्दर चित्रण हुआ है। संग्रह की 'बालिका से वधू', 'नारी', अन्तर्वासिनी' कविताओ मे कवि नारी के वायवीय सौन्दर्य का ही विशेष वर्णन कर सका है। कहीं-कहीं श्रृंगार इस दोष भी दृटव्य है—

"कढी जमुना से कर तुम स्नान, पुलिन पर खड़ी हुई कच-खोल,
सिक्त कुन्तल से झरते देवि ! पिये हमने सीकर अनमोल।
तुम्हारे अधरो का रस प्राण ! वासना तट पर पिया अधीर,
अरी ओ माँ ! हमने है पिया तुम्हारे स्तन का उज्ज्वल क्षीर।"[3]

एक ही सांस मे कामिनी और जननि सम्बन्धी रति की व्यंजना रस-दृष्टि से दोषपूर्ण है।

कवि का श्रृंगार सम्बन्धी सर्वाधिक सुन्दर परिपाक 'उर्वशी' मे ही हुआ है। 'उर्वशी' मे श्रृगार-रस के उभय पक्षों का चित्रण बड़े ही कलात्मक ढंग से हुआ है।

---

१. काव्य प्रकाश : उल्लास ४ (रसभेद प्रकरण)।
२. रसवन्ती (पुरुष-प्रिया) पृ० ५४।
३. रसवन्ती' (नारी) पृ० ३०-३१।

सहयोग शृंगार :—'उर्वशी' मे प्रथम व पंचम अंक को छोड़कर प्रायः सभी अंकों में सहयोग शृंगार दृष्टव्य है। और तृतीय अक तो संयोग शृंगार का रस भंडार ही है। जिस प्रकार 'साकेत का नवम सर्ग वियोग शृंगार का उज्ज्वलतम अंश है, उसी प्रकार 'उर्वशी' का तृतीय अक सयोग का सुन्दरतम अश है।

द्वितीय अक मे निपुणिका द्वारा पुरूरवा और उर्वशी के प्रेम की घटनाओं का जो वर्णन हुआ है वह बडा ही मनोहारी है—

"महाराज ने देख उर्वशी को अधीर अकुलाकर,
बाँहो मे भर लिया, दौड गोदी मे उसे उठाकर।
× × × ×
और प्रेम पीडित नृप बोले क्या उपचार करूँ मैं,
सुख की इस मादक तरग को कहा समेट धरूँ मे ?"[1]

पुरूरवा किस प्रकार उर्वशी का ध्यान चाँदनी मे किया करते थे, चुम्बन की कल्पना उर में कैसे स्पन्दन भर देती थी, मेघो की छाया मे छिपा उसका रूप किस प्रकार उनका मन हर लेता था, विधु की ओट मे जिन्हे प्रिया का सकेत मिलता था; आज उसी को प्राप्त कर उनके मन मे आषाढ़ की हरीतिमा छा गई। वे आजीवन संयोग की कामना करने लगे।

पुरूरवा आश्रय है। उर्वशी आलम्बन है। पुरूरवा को अधीरता, आलिगन-पाश मे बाँध लेना, गोदी मे उठ लेना अनुभाव हैं। उर्वशी का सौन्दर्य, चाँदनी, मेघ उद्दीपन है। मोह, स्मृति, हर्ष, आवेश सचारी भाव हैं।

तृतीय अक का प्रारभ ही शृगार की स्रोतस्विनी के तट पर होता है। वियोगावस्था मे युगो से लम्बे लगने वाले क्षण सयोगावस्था मे लघु हो जाते हैं। उनमे आलिगन की प्रगाढ लालसा झलकती है। उर्वशी पुरूरवा के वक्षस्थल पर अपने कपोलों को रखकर पुरूरवामय बन जाना चाहती है।[2]

प्रियतम का सयोग पाकर प्रेमिका को प्रकृति मे नए-नए सौन्दर्य दिखाई देने लगते है। उर्वशी को हिम-भूषित शृगो पर कोई नई तूलिका फेरता दृष्टिगत होता है, वृक्षो की छाया मे मृगाक की किरणें लेटी दिखाई देती हैं। रजनी के अगो पर चन्दन के लेप की कल्पना करती है। उसे भू और गगन के आलिगन का आभास होने लगता है। उर्वशी रोम-रोम से पुलकित उन्मादावस्था मे दिखाई देती है। प्रेमी का सस्पर्श उसे उद्दीप्त करता है—

"और मिले जब प्रथम-प्रथम तुम, विद्युत चमक उठी थी,
इन्द्र-धनुष बन कर भविष्य के नीले अँधियाले पर।

१. उर्वशी . द्वितीय अक . पृ० ३० ।
२. उर्वशी : तृतीय अक : पृ० ५८-६१ ।

तुम मेरे प्राणेश, ज्ञान-गुरु, सखा, मित्र, सहचर हो;
जहाँ कहीं भी प्रणय सुप्त था, शोणित के कण-कण में,
तुमने उसको छेड़ मुझे मूर्छा से जगा दिया है।

× × ×

भरी चुम्बनों की फुहार कम्पित पयोदकी अति से,
जाग उठी हूँ मैं निद्रा से जगी हुई लतिका-सी॥"[1]

यहाँ उर्वशी आश्रय है। पुरूरवा आलम्बन है। अन्य भाव पूर्ववत हैं।

पुरूरवा को भी उर्वशी की प्राप्ति मणिकुट्टिम प्रतिमा-सी लगती है। जिसकी प्राप्ति और संयोग से उसके सारे द्वन्द्व और सन्ताप मिट जाते है।[2] उसे उर्वशी के समान आकाश सुषमा से भरा दिखाई देता है, चन्द्रमा शीतल लगता है। वह समय, सरिता, पल, अनुपल, घटिकाओं को रुक जाने का आग्रह करता है। वह यही कामना व्यक्त करता है कि आजीवन प्रेमिका के आलिंगन में बँधा रहे, अधरों का रस पीता रहे।

सम्पूर्ण प्रेम-प्रलापो में दोनों अन्योन्य के आश्रय और आलम्बन हैं। गन्ध-मादन का सुरम्य प्रदेश, उसकी प्राकृतिक शोभा, चाँदनी रात, रूपाकर्षण उद्दीपन हैं। विविध मधुरालाप व चेष्टायें अनुभाव है। मोह, स्मृति, उन्माद, उत्साह आदि संचारी भाव हैं।

चतुर्थ सर्ग मे सुकन्या और च्यवन-ऋषि के सयोग शृंगार का वर्णन कवि ने बड़े ही सयत ढंग से किया है।[3]

प्रेम-प्रसंग मे च्यवन ऋषि और सुकन्या परस्पर आश्रय और आलम्बन हैं। सुकन्या का रूप एवं शालीनता तथा ऋषि का प्रेम-व्यवहार उद्दीपन हैं। क्रोध का उड जाना, ऋषि का आह्लादित होना, सुकन्या की मुसकुराहट, लज्जा आदि अनुभाव हैं। हर्ष, गर्व, औत्सुक्य व्रीड़ा आदि संचारी भाव है।

वियोग शृंगार :—'उर्वशी' मे विप्रलम्भ शृंगार के अन्तर्गत पूर्वराग, और करुण को विशिष्ट स्थान मिला है। प्रवास और मान का समावेश अल्प मात्रा में हुआ है। प्रवास का समावेश करुण के अन्तर्गत हो जाने से वह करुण में ही अंकित किया गया है। कवि चाहता तो पुरूरवा और उर्वशी के पुनर्मिलन से पूर्व मान को स्थान दे सकता था।

पूर्वराग :—दैत्य से रक्षा के पश्चात् पुरूरवा और उर्वशी के मन मे प्रेम का प्रादुर्भाव होता है। परिस्थिति-वश दोनों का मिलन सम्भव नही होता है। उर्वशी की सखियो द्वारा दोनों के वियोग का परिचय मिलता है।

१. वही : तृतीय अंक : पृ० ७१।
२. उर्वशी : तृतीय अंक : पृ० ५४।
३. वही : चतुर्थ अक : पृ० १०६-७-८।

"सखी उर्वशी भी कुछ दिन से है खोयी-खोयी-सी,
तन से जगी, स्वप्न के कुञ्जों में मन से सोयी-सी।
खड़ी-खड़ी अनमनी तोड़ती हुई कुसुम-पंखुड़ियाँ,
किसी ध्यान में पड़ी गँवा देती घड़ियों पर घड़ियाँ।
दृग से झरते हुए अश्रु का ज्ञान नहीं होता है,
आया गया कौन, इसका कुछ ध्यान नहीं होता है।
मुख सरोज मुस्कान बिना आभा-विहीन लगता है।"[1]

इसी तरह चित्रलेखा द्वारा पुरूरवा की अवस्था दर्शनीय है—

"फिर योगे, जाने, कब तक परितोष प्राण पायेंगे?
अन्तराग्नि में पड़े स्वप्न कब तक जलते जायेंगे?
जाने, कब कल्पना रूप धारण कर अंक भरेगी?
कल्पना, जाने आलिंगन में कब तपन हरेगी?

× × ×

मेरे अश्रु ओस बन कर कल्पद्रुम पर छायेंगे,
पारिजात वन के प्रसून आँहों से कुम्हलायेंगे।"[2]

इन दोनों वर्णनों में क्रमशः उर्वशी और पुरूरवा आश्रय और आलम्बन हैं। प्रियतम का रूप-स्मरण उद्दीपन है। दुःखी होना, प्राण त्यागने की भावना, शोणित में तरंगें उठना, आग भड़कना आदि अनुभाव हैं। विषाद, चिन्ता, ग्लानि, उत्कण्ठा आदि संचारी हैं।

करुण :—करुण वियोग औशीनरी के वियोग में प्रकट होता है जहाँ उसे उपेक्षिता का जीवन जीना पड़ता है—

"हाय मरण तक जीकर मुझको हलाहल पीना है,
जाने इस गणिका का मैंने कब क्या अहित किया था,
कब, किस पूर्व जन्म में, उसका क्या सुख छीन लिया था?
जिसके कारण भ्रमा हमारे महाराज की मति को,
छीन ले गई अधम, पापिनी मुझसे मेरे पति को।"[3]

औशीनरी आश्रय है। उर्वशी-रत पुरूरवा आलम्बन है। महाराज का उर्वशी के प्रति आसक्त होना, आजीवन पति-प्रेम-वंचिता रहने की निराशा उद्दीपन है। उर्वशी के प्रति कटूक्तियाँ अनुभाव हैं तथा निर्वेद ग्लानि, असूया, दैन्य, विषाद संचारी भाव हैं।

---

१. उर्वशी : प्रथम अंक : पृ० १४।
२. वही : वही : पृ० २४-२५।
३. वही : द्वितीय अंक पृ० ३२।

इसी प्रकार सुकन्या के आश्रम से लौटते समय उर्वशी के मन मे जिस भावी वियोग की कल्पना है, तथा आयु के आगमन के पश्चात् उर्वशी को वियोग का जो शूल चुभ रहा है एवं उर्वशी के चले जाने के पश्चात् पुरुरवा के जो दुःखद उद्‌गार हैं; उनमे करुण विप्रलम्भ ही निष्पन्न है।

मान :—मान को उर्वशीकार ने विशेष स्थान नही दिया। मात्र तृतीय सर्ग में एक स्थान पर उर्वशी पुरुरवा की निष्ठुरता और वियोगावस्था मे अपनी दशा का चित्रण करती है।[1] यह मान मात्र उसकी तडप बन कर ही रह गया है जो रोष मिश्रित विनोद ही लगता है जिसमे पूर्ण रस-निष्पत्ति नही होती।

विप्रलम्भ के अन्तर्गत विरह की जो दश दशा मे आचार्यो ने स्वीकार की हैं उसमे मरण एव प्रवास को छोड कर अन्य सभी की उपलब्धि 'उर्वशी' मे है। जिनका उल्लेख विप्रलम्भ के अन्तर्गत किया जा चुका है।

अन्य रस :

दिनकर की कृतियो मे वीर और शृंगार के पश्चात् रौद्र, करुण तथा शांत रसों को स्थान मिला है। तदुपरान्त भयानक, बीभत्स, अद्‌भुत और वात्सल्य रस का यत्किंचित वर्णन हुआ है।

रौद्र रस :—दिनकर की कृतियो मे रौद्र रस वीररस के साथ-साथ ही अंकित हुआ है। इसका स्थायी भाव क्रोध है जो शत्रुओ की ललकार आत्म-सम्मान पर चोट और गुरुजन अथवा देश के अपमान से प्रतिशोध की भावना मे उत्पन्न होता है।

'रेणुका', 'हुँकार' की उन रचनाओ मे जिनमे कवि दमन, शोषण और अत्याचारो के विरुद्ध हुँकार उठा है—रौद्र-रस निष्पन्न हुआ है। वह रोष से तिलमिला कर अन्धड आग को बुलाता है। शंकर के ताण्डव की कल्पना करता है।[2]

'हुँकार' की कविताओ मे तो जैसे वीर और रौद्र-रस की होड़ ही लगी है।

"अब की अगस्त्य की बारी है, पापो के पारावार सजग;
बैठे, 'विसूवियश' के मुख पर होले, अबोध संसार सजग;
रेशों का रक्त कृशानु हुआ, ओ जुल्मी की तलवार सजग;
दुनिया के 'नीरो' सावधान ! दुनिया के पापी 'जार' सजग,
जाने किस दिन फुँकार उठे, पद-दलित काल सर्पो के फन।"[3]

क्रूर शासक आलम्बन है। कवि की क्रांति-भावना आश्रय है। नीरो, जार और पूँजीपतियों के अत्याचार उद्दीपन विभाव हैं। क्रोध-भावनायें, सावधान करने की धमकी आदि अनुभाव हैं। क्रोध, विनाश आदि सचारी भाव हैं।

---

१. उर्वशी : तृतीय अंक पृ० ४१।
२. 'रेणुका' (ताण्डव) : पृ ३।
३. हुँकार (विपथगा) : पृ० ७५।

'सामधेनी' की 'जवानियाँ' काव्य मे रौद्र-रस की अभिव्यजना हुई। जहाँ कवि पहाड़ों को टूटता हुआ देखता है, आकाश के तारों को छूटता हुआ निहारता है।[1]

'कुरुक्षेत्र' के भीष्म के कथन मे वीर के साथ रौद्र-रस भी तब प्रकट होता है जब वह पुरुषत्वहीन बातें करने पर युधिष्ठिर को फटकारते हैं तथा कौरवो द्वारा किए गए अत्याचारों पर रोष प्रकट करते हैं।

'रश्मिरथी' मे रौद्र-रस की अभिव्यक्ति विशिष्ट रूप से द्वितीय सर्ग में परशुराम द्वारा कर्ण पर किए गए क्रोध के प्रसंग मे होती है। और दूसरे भगवान श्रीकृष्ण जब कौरवो द्वारा अपमानित होकर अपना विशाल रूप दिखाते हैं और जो रोष प्रकट करते हैं, उसमें रौद्र-रस प्रकट होता है।

'उर्वशी' के अन्तर्गत जब पुरूरवा इन्द्रादि देवो पर जो क्रोध प्रकट करता है उसमे उसका रौद्र रूप प्रकट होता है और रौद्र-रस की निष्पत्ति होती है।

'परशुराम की प्रतीक्षा' मे रौद्र-भाव हिलोरें मारता नजर आता है—

विश्रमी रूप नूतन अर्जुन जेता का।
आ रहा स्वय वह परशुराम त्रेता का॥
यह उत्तेजित, साकार, क्रुद्ध भारत है,
यह और नही कोई विशुद्ध भारत है।
पापो पर बन कर प्रलय-बाण छूटेगा,
यह क्लीव धर्म बाज-सदृश टूटेगा।
जो रूष्ट खड्ग से हैं, उनसे रूठेगा,
कृत्रिम विभाकरो का प्रकाश लूटेगा।"[2]

स्वातंत्र्योत्तर अन्य कृतियों मे जहाँ देश मे व्याप्त भ्रष्टाचार और अन्याय के प्रति भूखे, नंगो की कवि ने वकालत की है, वहाँ उसकी वाणी मे रौद्रता का स्वर फूटा है।

करुण-रस :— दिनकर की कृतियों मे करुण-रस भी पर्याप्त मात्रा मे अभिव्यक्त है। इष्ट के नाश और अनिष्ट की प्राप्ति से करुणता जन्मती है और उससे करुण-रस की निष्पत्ति होती है। अनिष्ट के अन्तर्गत द्रव्य-नाश और धर्म के घात के अतिरिक्त राष्ट्र का घोर दारिद्रय, साम्प्रदायिक द्वेष, देश की अज्ञानता, सबल राष्ट्र का निर्बल पर अत्याचार आदि करुणा के आलम्बन हैं।

'रेणुका' मे सग्रहित अनेक रचनाओं मे जहाँ कवि देश की विपन्नावस्था को देख कर दुखी होता है वहाँ अपनी करुणा को ही व्यक्त करता है—

१. सामधेनी (जवानियाँ) : पृ० ८४।
२. परशुराम की प्रतीक्षा : खण्ड ४ : पृ० १६।

"तू पूछ, अवध से, राम कहाँ ? वृन्दा ! बोलो, घनश्याम कहाँ ?
ओ मगध ! कहाँ मेरे अशोक ? वह चन्द्रगुप्त बल धाम कहाँ ?
पैरों पर ही है पड़ी हुई मिथिला भिखारिणी सुकुमारी,
तू पूछ कहाँ इसने खोयी अपनी अनन्त निधियाँ सारी ?"[१]

कवि आश्रय है। देश आलम्बन है। उसकी दरिद्रावस्था उद्दीपन है। उसे देखकर जो आवेग उत्पन्न होता है वह संचारी भाव है। तथा कवि का अतीत के महापुरुषों से पूछना, गरीब-दशा का वर्णन प्रलाप, निश्वास, भूमि पतन आदि अनुभाव हैं।

'रेणुका' की 'बोधिसत्व', 'मिथिला' 'कोयल' 'समाधि के प्रदीप से' और 'वैभव की समाधि पर' काव्यों मे ऐसे ही करुणा अभिव्यक्त हुई है।

'हुंकार' की 'आमुख' और 'सामधेनी' की 'हे मेरे स्वदेश !' तथा 'कलिंग-विजय' में करुण-रस मुखरित है। मृत मानवों की लाशें, घायलों की कराहें, महाराज अशोक के मन में करुणा उत्पन्न करती है।[२]

'कुरुक्षेत्र' मे प्रथम सर्ग मे युद्ध के विनाश के प्रति युधिष्ठिर ने अपने जिन करुणामयी उद्गारों को व्यक्त किया है उनमे करुण-रस की ही निष्पत्ति हुई है।

'रश्मिरथी' में प्रथम सर्ग में सभा विसर्जित होने के पश्चात् कुन्ती की जिस निराशा का वर्णन हुआ है वह बड़ा ही करुण है। पचम सर्ग में कुन्ती की आत्मग्लानि में करुण-रस को वाणी मिली है—

"बेटा ! धरती पर बड़ी दीन है नारी,
अबला होती सचमुच योषिता कुमारी।
है कठिन बन्द करना समाज के मुख को,
सिर उठा न पा सकती पतिता निज सुख को।"[३]

द्वितीय सर्ग मे गुरु के क्रोध करने के पश्चात् कर्ण के मन मे कवि ने जिस आत्मग्लानि और रुदन को आलेखित किया है वह करुण-रस से सभर है।

चतुर्थ सर्ग मे कर्ण से छल द्वारा कवच और कुण्डल लेने के पश्चात् इन्द्र के मन मे जो करुणा उमड पडी है उसका कवि ने मार्मिक चित्रांकन किया है।

'उर्वशी' मे करुण-रस अन्तिम अंक मे मिलता है। जब पुरूरवा औशीनरी और आयु को छोड़कर सन्यास ग्रहण कर चले जाते हैं। औशीनरी की वेदना मे करुण-रस की निष्पत्ति हुई है—

---

१. 'रेणुका' (हिमालय) : पृ० ६।
२. सामधेनी (कलिंग-विजय) : पृ० ५४।
३. (रश्मिरथी) पंचम सर्ग : पृ० ७०।

"भूल गए क्यों दयित, हाय, उस नीरव, निभृत निलय में,
बैठी है कोई अनाथ प्रणयिनी प्रमदावन में,
अश्रुमुखी माँगती एक ही भीख त्रिलोक-भवन में,
पल-भर भी मत अकल्याण हो प्रभो ! कभी स्वामी का,
जो भी हो आपदा, मुझे दो, मैं प्रसन्न सह लूँगी ।"[1]

औशीनरी आश्रय है । सर्वत्यागी पुरूरवा आलम्बन है । राजा का बिना कहे चले जाना, माता-पिता विहीन आयु का उपस्थित रहना उद्दीपन भाव है । रानी का दुखी होना, आहें भरना, रोना, करुण वचन अनुभाव है । रानी का दैन्य भाव, मोह, स्मृति, विषाद संचारी-भाव है ।

शांत रस :—

शान्त-रस के छिटपुट बिखरे उदाहरण 'रेणुका' आदि की करुणा-सम्बन्धी रचनाओं में मिलते हैं । परन्तु रस की निष्पत्ति की दृष्टि से 'सामधेनी' की 'कलिंग-विजय' कविता में मिलता है । अशोक की करुणा निर्वेद का रूप धारण कर लेती है—

"शत्रु कोई नहीं, हो आत्मवत संसार,
पुत्र-सा पशु-पक्षियों को भी सकूँ कर प्यार ।
मिट नहीं जाय किसी का चरण-चिह्न पुनीत,
राह में भी मैं चलूँ पग-पग सजग सभीत ।
हो नहीं मुझको किसी पर रोष,
धर्म का गूँजे जगत में घोष,
युद्ध की जय ! धर्म की जय ! सत्य का जयगान,
था कहाँ मुझमें तथागत मारजित भगवान ।"[2]

अशोक आश्रय है । युद्ध की भयानकता, विश्व की क्षणभंगुरता, अबलाओं का आर्तनाद आदि आलम्बन हैं । युद्ध की शून्य भूमि उद्दीपन है । निर्वेद हर्ष, स्मरण आदि संचारी-भाव हैं ।

'कुरुक्षेत्र' में शान्त-रस की निष्पत्ति वीर-रस के पश्चात् सर्वाधिक रूप में हुई है । प्रथम सर्ग में युधिष्ठिर के मन में युद्ध-जन्य विनाश देखकर जो निर्वेद, ग्लानि और चिन्ता के भाव जागृत हुए हैं उनमें शांति की चाहना अधिक है । उनके प्राण परिताप से जलते हैं । उन्हें रक्त-सनी जीत अशुद्ध दिखाई देती है—

"बाल-हीना माता की पुकार कभी आती, और,
आता कभी आर्तनाद पितृहीन बाल का ।

---

१. 'उर्वशी' पंचम अंक : पृ० १५० ।
२. सामधेनी (कलिंग-विजय) : पृ० ५७-५८ ।

आँख पड़ती है जहाँ हाय, वहीं देखता हूँ,
सेंदूर पुछा हुआ सुहागिनी के भाल का,
बाहर से भाग कक्ष मे छिपता हूँ कभी,
तो भी सुनता हूँ अट्टहास क्रूर काल का,
और सोते-जागते मैं चौंक उठता हूँ, मानो,
शोणित पुकारता हो अर्जुन के लाल का ।"[1]

भीष्म के समझाने के पश्चात् भी उनका मन युद्ध का समर्थक तो नही ही बनता । वे तो करुणा और शांति के दीप का जलाने के लिए विकल है ।

सप्तम सर्ग मे शान्त-रस की धारा प्रवाहित होती है । भीष्म जैसे युद्ध के समर्थक शांति और समता की कामना करते है ।

'उर्वशी' में उर्वशी के विलोप हो जाने के पश्चात् पुरूरवा का रौद्र रूप निर्वेद में परिवर्तित हो जाता है । वह संसार के प्रति वैराग्य-भाव धारण करता है और अन्त में सन्यास ग्रहण कर लेते हैं ।

अद्भुत रस :

अद्भुत रस का चित्रण 'रश्मिरथी' मे मिलता है । जब कौरवों को समझाने के लिये भगवान श्रीकृष्ण उनके पास आते है और वे उन्हे बाँधने का प्रयास करते हैं तब श्रीकृष्ण जिस गर्जना के साथ अपने रूप का विस्तार करते है उसमे अद्भुत रस की योजना सुन्दर ढंग से की गई है । कृष्ण अपना विराट स्वरूप, चराचर मे व्याप्ति और प्रमुत्व का उल्लेख करते है ।[2]

'उर्वशी' मे दो प्रसंगों मे अद्भुत रस की योजना मिलती है । पुरूरवा स्वप्न देखते हैं और उसका वर्णन प्रस्तुत करते समय उन्हे स्वय आश्चर्य होता है तथा सुकन्या द्वारा लाये हुए बालक का रूप स्वप्न मे देखे हुए बालक मे निहारते हैं तब इस आश्चर्य-प्रद घटना से उन्हे आश्चर्य होता है । आश्चर्य से उनकी आँखें फैल जाती हैं । अनेक प्रकार के वितर्क, आवेग और हर्ष व्यक्त करते हैं । उर्वशी का एकाएक अन्तर्धान हो जाने पर आमात्य द्वारा व्यक्त भावों में अद्भुत् रस की योजना हुई है । प्रथम दो प्रसंगो में पुरूरवा आश्रय है । स्वप्नगत दृश्य तथा आयु आलम्बन है । स्वप्न-दृश्यो का स्मरण और पुत्र-दर्शन उद्दीपन है । राजा की विचित्र भाव-दशा, आश्चर्य मे डूब जाना अनुभाव है । शका, मोह आदि संचारी-भाव हैं ।

वीभत्स-रस—'कुरुक्षेत्र' के प्रथम और पचम सर्ग मे युधिष्ठिर द्वारा युद्धोपरान्त की युद्ध-भूमि का जो चित्रण प्रस्तुत हुआ है उसमे वीभत्स भावना के कारण वीभत्स-रस की अभिव्यक्ति हुई है ।

१. कुरुक्षेत्र द्वितीय सर्ग : पृ० १४ ।
२. 'रश्मिरथी' तृतीय सर्ग : पृ० २६-२७ ।

'रश्मिरथी' में युद्ध मे मरे हुए सैनिकों और पशुओं का जो वर्णन हुआ है उसमें वीभत्स-रस उत्पन्न हुआ है—

"कटकट कर गिरने लगे क्षिप्र, रुण्डो से मुण्ड अलग होकर,
वह चली मनुज को शोणित की धारा पशुओं के पग धोकर।"[1]

इसी प्रकार कर्णार्जुन-युद्ध के पश्चात् लाशो से पटी हुई रण-भूमि के वर्णन मे वीभत्स-रस की निष्पत्ति हुई है।

भयानक-रस—'कुरुक्षेत्र' के प्रथम और पचम सर्ग मे युधिष्ठिर ने युद्ध और तज्जन्य सहार के वर्णन किए हैं। उनमे भयानक-रस की अभिव्यक्ति है।

इसी प्रकार 'रश्मिरथी' के अन्तर्गत कवि ने जहाँ युद्ध की विकरालता का वर्णन किया है वहाँ भयानक रस की योजना है। कर्ण-घटोत्कच तथा कर्णार्जुन के युद्ध-वर्णनो मे भयानक-रस का चित्रण उपलब्ध है।[2]

वात्सल्य-रस—'रश्मिरथी' मे वात्सल्य-रस का वर्णन दो प्रसगो मे उपलब्ध है। प्रथम कर्ण और परशुराम के प्रसग मे जहा पुत्र-तुल्य शिष्य को अभिशाप देने वाले गुरु के मन मे शिष्य की करुणा देखकर वात्सल्य-भाव हिलोरे लेने लगता है। आग बरसाने वाली आँखो से आँसू वह उठते हैं।

कुन्ती और कर्ण के सवाद से अनेक उदाहरण प्रस्तुत किए जा सकते हैं जिनमे माँ का हृदय मूर्त हो उठा है। वात्सल्य से अनुप्राणित माँ दुनिया के सभी विषों को तैयार हो जाती है—

"इस आत्म-दाह-पीडिता विषण्ण कली को,
मुझमे भुज खोले हुए दग्ध रमणी को,
छाती से सुत को लगा तनिक रोने दे,
जीवन मे पहली बार धन्य होने दे।"[3]

वात्सल्य-रस के आश्रय कुन्ती और परशुराम के मन मे करुणा, प्रेम के भाव बडी प्रबलता से व्यक्त हुए हैं। विशेषकर कुन्ती मे पुत्र-प्राप्ति की लालसा, आत्म-ग्लानि के भाव बडे ही मार्मिक है। कर्ण को चूमना, छाती से लगाना, रोना आदि संचारी-भाव हृदय-स्पर्शी है।

'उर्वशी' मे वात्सल्य-रस का चित्रण कवि ने सहृदयता से किया है। कहीं-कहीं तो भाव-रस की कोटि तक पहुँच गए हैं। यथा—मेनका ने मातृत्व की प्राप्ति के पश्चात् नारी कितनी पयस्विनी हो जाती है तथा च्यवन ऋषि द्वारा बालकों के प्रति जो वात्सल्य भाव प्रकट हुए हैं वे इसी कोटि के हैं।

१. रश्मिरथी, सप्तम सर्ग : पृ० १०६।
२. वही, वही : पृ० १०७।
३. रश्मिरथी, पचम सर्ग : पृ० ८५।

'उर्वशी' में कवि ने उर्वशी, औशीनरी, सुकन्या सभी को मातृत्व की गरिमा से विभूषित कर उनके हृदय में प्रवाहित पुत्र-प्रेम की जो भावनायें संयोजित की है—उनमें वात्सल्य रस को अभिव्यक्ति मिली है। 'उर्वशी' का आयु के प्रति आकर्षण, उसकी चिन्ता और वियोग की कल्पना में तथा औशीनरी का निस्वार्थ-भाव से आयु को अपना कर वात्सल्य अर्पित करना तथा सुकन्या द्वारा आयु का पुत्रवत् लालन-पालन, सभी में वात्सल्य-रस की निष्पत्ति हुई है।

वात्सल्य के एकाध उदाहरण देना उपयुक्त है—

> "यही सोचती थी, त्रिलोक मे जो भी शुभ-सुन्दर है,
> बरस जाये सब एक साथ मेरे अंचल मे आकर,
> मैं समेट सबको रचदूँ मुस्कान एक पतली सी,
> और किसी भी भाँति उसे जड़दूँ इसके अधरो पर।"[१]

उर्वशी की हमेशा यही कामना रहती है कि उसका पुत्र महान् बने, पिता-सा प्रतापी बने। वह बालक को वक्ष से लगाती है, चुमकारती है तथा सर्वस्व अर्पण करने की भावना व्यक्त करती है। जो अनुभाव है पुत्र के प्रति हर्ष, गर्व और उत्कण्ठा संचारी-भाव है।

औशीनरी तो जैसे पुत्र को पाकर सर्वस्व पा लेती है—

> "फला न कोई शस्य, प्रकृति से जो भी अमृत मिला था,
> लहर मारता रहा टहनियों मे, सूनी डालों मे,
> किन्तु प्राप्त कर तुझे आज, बस, यही भान होता है,
> शस्य-भार से मेरी सब डालियां झुकी जाती हों।
> हाय पुत्र ! मैं भी जीवन-भर बहुत-बहुत प्यासी थी,
> शीतल जल का पात्र अधर से पहले-पहल लगा है।"[२]

औशीनरी आश्रय है। आयु आलम्बन है। उसका दर्शन उद्दीपन है। रानी की व्यथा, युग की प्यास, पुत्र-दर्शन से प्राप्त शीतलता अनुभाव है। रानी का हर्ष औत्सुक्य आदि संचारी भाव हैं।

रस-निष्पत्ति की दृष्टि से 'कुरुक्षेत्र' किन्ही अंशों मे कम स्वस्थ रचना है क्योकि कवि का उद्देश्य रस से अधिक युद्ध की समस्या और शान्ति के उपायो की स्थापना ही अधिक था।

निष्कर्षतः हम दिनकर की रस-योजना में सर्वाधिक सफल उन्हे शृंगार-रस तथा वीर-रस की योजना मे पाते है। वैसे अन्य रस भी कवि की लेखनी से चमक उठे हैं। भले ही उनका स्थान न्यून हो।

१. 'उर्वशी', चतुर्थ अंक : पृ ११३।
२. वही, पंचम अंक : पृ० १४७।

जीवन-दर्शन एवं विचार-धारा

प्रत्येक साहित्यकार की कृतियों पर विचार करने पर यह स्पष्ट हो जाता है कि साहित्यकार अपने प्रतिपाद्य को जीवन-दर्शन में कितना सबल रूप प्रदान कर सका है। यदि उसकी सृजन-भावना के सन्दर्भ में गहरे चिन्तन-दर्शन की ठोस भूमिका नहीं है तो उसकी उपलब्धियाँ जीवन के बहुविध पक्षों का उद्घाटन करने में असमर्थ होंगी। जिस साहित्यकार के पास पीठिका के रूप में गहरा जीवन-दर्शन, सूक्ष्म चिन्तन और व्यापक दृष्टि नहीं होगी, जीवन के सागर में उसकी पैठ गहरी नहीं हो सकती। कवि आन्तरिक सत्यों को मूर्त रूप प्रदान करता है। उसकी विचारणा-शक्ति जितनी व्यापक और निर्मल होगी, उसका काव्य-पक्ष और मौलिक उद्भावनायें उतनी ही समर्थ होंगी।

दिनकर के सम्पूर्ण काव्य-कृतित्व को जब हम इस कसौटी पर कसते हैं तब हमें इस तथ्य का स्पष्टीकरण होता है कि कवि के सृजन की पृष्ठभूमि में उसकी युद्ध विषयक दृष्टि सर्वाधिक समुन्नत है। दिनकर उस युग के कवि हैं, जिस युग में साहित्य के और जीवन के मूल्य प्रायः अलग-अलग थे। हिन्दी-साहित्य के काव्य-जगत में छायावाद की सौन्दर्य-भावनायें कवि को वास्तविक समाज से दूर ले जाकर कल्पना-लोक में विस्मृत कर रही थीं। जब कि देश की राजनैतिक परिस्थिति कुछ और ही थी। देश की मिट्टी स्वतन्त्र होने के लिए सुगबुगा रही थी। बलिदानों की परम्परा अनवरत चल रही थी। अन्तर्राष्ट्रीय धरातल पर राज्य-लिप्सा बड़े-बड़े युद्धों को जन्म दे रही थी। दिनकर जी ने युग के इस पहलू पर विशेष ध्यान दिया और वे देश की स्वतन्त्रता की कामना को नए स्वरों में उद्घोषित करने लगे। उन्होंने यह सोचा और समझा कि सारी समस्याओं की जड़ मानव की लिप्सावृत्ति है और युद्ध उसी का परिणाम है। कवि ने इन्हीं पहलुओं को दृष्टि में रखकर युद्ध के विषय में अपने विचारों को व्यक्त किया। कवि का प्रारंभिक युद्ध-दर्शन द्वन्द्व-पूर्ण स्थिति में है। जहाँ वह राष्ट्रीयता तक ही अपने विचारों को प्रकट करता है। जहाँ उसका युद्ध-दर्शन यौवन की ज्वाला में कुछ दबा-सा दृष्टिगत होता है। परन्तु विश्व की समस्याओं पर विचार करते-करते युद्ध उसके परिणाम और युद्ध की समस्या का निदान कवि ने 'कुरुक्षेत्र' में किया है। युद्ध का चिन्तन-प्रधान प्रौढ़ दर्शन 'कुरुक्षेत्र' में ही प्रकट हुआ है। इसी प्रकार सौन्दर्य, काम प्रेम आदि शृंगारिक भावनाओं पर कवि ने जिन भावनाओं से विचारना 'रसवन्ती' में प्रारंभ किया था उन भावनाओं का प्रौढ़ मनोवैज्ञानिक चिन्तन उर्वशी में हुआ है। दिनकरजी के दार्शनिक चिन्तन में जीव, ब्रह्म, माया आदि का सुन्दर निरूपण उर्वशी में प्राप्त होता है।

कवि ने अपनी कृतियों के माध्यम से उनके विचारधाराओं का परिचय दिया है। जिसमें मुख्य रूप से उनकी गाँधीवादी विचारधारा और साम्यवादी एवं समाजवादी विचार धारा है।

नारी के विविध पक्षों और रूपों की कवि ने नए ढंग से मनोविज्ञान के संदर्भ में विवेचना प्रस्तुत की है। युद्ध और प्रेम समूचे दिनकर-काव्य की प्रमुख समस्यायें हैं।

अब हम विविध विचार-धाराओं का विस्तृत परिचय प्राप्त करेंगे।

दिनकर-काव्य में युद्ध दर्शन

द्विवेदी-काल के परवर्ती राष्ट्रीय काव्य-धारा के कवियों में सर्वाधिक सफल कवि रामधारीसिंह दिनकर रहे हैं। हम इससे पूर्व अध्यायों में इस तथ्य को स्पष्ट कर चुके हैं कि दिनकर की राष्ट्रीय काव्य-धारा का संबंध विशेषतः तत्युगीन राजनीति में प्रचलित 'क्रांति' के साथ विशेष रूप से रहा है। कवि को गाँधीवादी वह नीति कभी ग्राह्य नहीं रही जिसमें अहिंसा के नाम पर क्लीवता के भाव रहें। वह सदैव ध्वंसात्मक-नीति का समर्थन करता रहा। कवि का युद्ध के प्रति उसकी काव्य-कृतियों में जो दृष्टिकोण हमें देखने को मिलता है उसमें इस तथ्य से अवगत होते हैं कि, प्रारंभिक युद्ध-सम्बन्धी मान्यताओं और परवर्ती विचार धाराओं में पर्याप्त अन्तर है। कवि का प्रारंभिक दृष्टिकोण आक्रोश और वैयक्तिक क्षोभ से पूर्ण द्वन्द्वात्मक रहा है, जिसमें कवि के चिन्तन से अधिक, युवक के उत्साहपूर्ण आक्रोश का वैशिष्ट्य रहा। कवि विचारों से ज्यों-ज्यों प्रौढ होता गया—युद्ध के पहलुओं पर भी उसने उसी प्रौढता से अपने विचार प्रकट किए।

दिनकर द्वारा निरूपित युद्ध दर्शन को हम उनकी कृतियों के अध्ययन के पश्चात् निम्नलिखित रूपों में विभाजित कर सकते हैं—

१. प्रारंभिक युद्ध-भावना : ध्वंसात्मक क्रांति का स्वीकार।
२. युद्ध का चिंतन प्रधान पक्ष।
३. युद्ध के कारण एवं अनिवार्यता।
४. युद्ध में द्वन्द्व पाप।
५. युद्ध का समाधानः शांति एवं साम्य की भावनाएँ।
६. युद्ध पशुता का चिन्ह नया दृष्टिकोण।

प्रारंभिक युद्ध भावना : ध्वंसात्मक क्रांति का स्वीकार :

कवि के व्यक्तित्व की चर्चा करते समय इस तथ्य से परिचित हो चुके हैं कि उनका जीवन संघर्षों का जीवन रहा है। कवि को बाह्य एवं आन्तरिक दोनों परिस्थितियों में कटु सत्यों का सामना करना पड़ा। कवि ने जैसे अपनी समस्याओं के समाधान के साथ-साथ देश की समस्याओं के उन्मूलन के लिए युद्ध को ही साधन के रूप में स्वीकार किया।

दिनकर ने युद्ध के कारणों में विज्ञान से उद्भूत बुद्धिवाद को माना है।

आज का मानव अपनी तृप्ति के हेतु विनाशकारी साधनों की ओर क्षिप्र गति से दौड़ रहा है विज्ञान जिसे वरदान बनना चाहिए था, अभिशाप बन कर पूरी मानव जाति के लिए भय का कारण बन गया ।[1]

सभ्यता जैसे नर-पिशाचों के हाथ मे पड़कर कराह रही है। अन्याय और अत्याचार कवि को व्याकुल बना रहे थे। शासक येन-केन-प्रकारेण देश को गुलाम बनाए रखने की घात लगाये हुए थे। इन परिस्थितियों मे कवि की यह मान्यता दृढ से दृढतर होती गई कि इन कुरीतियो का उन्मूलन मात्र क्राति द्वारा ही संभव है। वह क्रांति का अलख जगाते हुए पुकार उठता है—

"लाखो क्रौंच कराह रहे हैं, जाग आदि कवि की कल्याणी।
फूट-फूट तू कवि-कण्ठो से, बन व्यापक निज युग की वाणी ॥"[2]

दिनकर की प्रारभिक कृति रेणुका मे ही क्राति का बीजारोपण दृष्टव्य है। कवि बार-बार प्रभु से शृगीघोष कर तीनो लोको को ध्वनित करने की प्रार्थना करता है। अहकार और अभिमान के ध्वस के लिए उसे शिव के ताडव-नृत्य की कामना है।[3] क्राति के कवि को अर्जुन और भीम की आवश्यकता है—जो अपने गाण्डीव और गदा से दुश्मनो का सहार कर सकें।

'हुकार' मे क्राति से स्वरो को रेणुका से भी अधिक तीव्र स्वरो मे कवि ने निदादित किया है। 'हुकार' मे कवि की क्राति की वाणी को प्रलय और गर्जन तो यथावत् ही है, परन्तु अब उसमे बलिदान के स्वर भी सम्मिलित हो गए।

कवि कल्पना लोक के सौन्दर्य को तोड-मरोड कर फेंक देना चाहता है और युद्ध के भैरव हुकार के स्वरो मे ललकार उठता है—

'फेंकता हूँ, लो, तोड-मरोड, अरी निष्ठुरे! बीन के तार;
उठा चांदी का उज्ज्वल शख, फूंकता हूँ भैरव हुकार।"[4]

हुकार मे संकलित 'दिगम्बरि', 'विपथगा' जैसी रचनाओ में क्राति का आक्रोश-पूर्ण चित्र बडी ही ओजस्विता के साथ मुखरित है। सर्वत्र कवि जैसे यह सिद्ध करता है कि कल्पना को दूर करने के लिए क्राति ही सर्वमान्य साधन है। कवि की भाग्य और भगवान जैसे—शब्दों पर से आस्था ही डगमगा उठती है। यही कारण है कि भूख मे बिलबिलाते असहाय बच्चो के दूध के लिए वह स्वर्ग तक को लूटने के लिए कटिबद्ध होता है। बूढे विधाता का हस्तक्षेप भी उसे स्वीकार नही।[5]

१. रेणुका (कस्मैदेवाय) पृ० ३१।
२. वही (वही) पृ० ३३।
३ वही (तांडव) पृ० ३।
४. हुंकार (असमय आह्वान) पृ० १०।
५. वही (हाहाकार) पृ०

'सामधेनी' में यद्यपि क्रांति और ध्वंस के स्वर विद्यमान है तथापि बलिदान की भावनाएँ ही विशेष रूप से कवि ने अंकित की हैं। कवि के मन में यह द्वन्द्व पुनः-पुनः उभरता है कि देश की स्वतंत्रता के लिए वह क्या करे ?[1]

निष्कर्षतः यह कहना योग्य ही है कि कवि जब सर्वत्र सब कुछ जलते हुए देखता है, दुर्बल एवं दरिद्र जनता को धनिकों के विलास का बोझ ढोते देखता है, माताओं और बहनों को भूख से व्याकुल होकर अपनी लाज बेचते निहारता है—ऐसी विषमताओं को दूर करने का उपाय वह क्रांति ही मानता है।

प्रारंभिक कृतियों मे कवि कही युद्ध का समर्थन करता है कही बलिदान का स्वीकार करता है। कवि का युद्ध विषयक चिन्तन कम है उत्तेजनात्मक ध्वस भाव ही विशेष है। वह जैसे प्रत्येक समस्या का समाधान युद्ध और क्राति मे ही खोजता है।

युद्ध चिन्तन का प्रधान पक्ष :

'सामधेनी' मे संग्रहीत 'कलिंग-विजय' क्राति के कवि की प्रथम रचना है जिसमे युद्ध और शाति के पहलू पर कवि नए दृष्टिकोण से चिन्तन करता प्रतीत होता है। क्राति का प्रचड वेग किंचित स्थिरता प्राप्त कर लेता है। वह युद्ध के शाति के पक्ष पर भी विचार करने लगता है।

यह सत्य है कि कवि क्राति या हिंसा के प्रति समझौता नही करता, मात्र अशोक के विनाशकारी व्यक्तित्व के स्थान पर समदृष्टा, विनीत और महामानव के साथ रूप को प्रतिष्ठित करता है। यद्यपि कवि क्षमा को वीर के आभूषण के रूप में स्वीकार करता है तथापि पराजित व्यक्ति की क्षमा को तो वह अकर्मण्यता निराशा तथा कायरता की द्योतक ही मानता है।

कवि ने सर्वप्रथम युद्ध के साथ-साथ क्षमा की भावनाओं को स्थान दिया है।

द्वितीय विश्व युद्ध के विनाशक सहार से कवि की आस्था खडित होती प्रतीत हुई। युद्ध जन्य ध्वस को देखकर वह निर्वेद भावनाओ से भर गया। परिणामस्वरूप कलिंग-विजय मे कवि बौद्ध धर्म की अहिंसा को स्वीकार करता है परन्तु युद्ध के समाधान के प्रति कोई ठोस समाधान प्रस्तुत नही करता। ऐसा लगता है कि ध्वंसात्मक क्राति के समर्थक कवि को अशोक का निर्वेद पूर्ण स्वीकृत नही हुआ। कवि को ऐसा लगता है कि 'युद्ध की समस्या मनुष्य की सारी समस्याओ की जड़ है।' कवि ने इस तथ्य का सिद्धांततः स्वीकार 'कुरुक्षेत्र' की भूमिका मे किया है। कलिंग-विजय के अशोक के आंसू, उच्छ्वास 'कुरुक्षेत्र' के युधिष्ठिर के आंसू और उच्छ्वास के रूप में प्रकट होते है।

कुरुक्षेत्र मे ही विशिष्ट रूप से कवि युद्ध के विषय मे भावुकता का त्याग कर चिंतन करता हुआ दृष्टिगत होता है। भूमिका मे कवि ने स्वीकार किया है कि—

१. सामधेनी (हे मेरे स्वदेश) : पृ० ३३।

यह तो (कुरुक्षेत्र) अन्ततः एक साधारण मनुष्य का शंकाकुल हृदय ही है जो मस्तिष्क के हृदय पर चढ़ कर बोल रहा है। युधिष्ठिर का ऐसा ही शंकाकुल हृदय भीष्म के समक्ष खुलता है।

युधिष्ठिर की आत्म-भर्त्सना, ग्लानि के माध्यम से कवि युद्ध की अनघता को चित्रित करता है। युधिष्ठिर का यह कहना कि 'लोहू सनी जीत मुझे दीखती अशुद्ध है'—जैसे कवि के इस चिन्तन का प्रस्तुतिकरण है, जहाँ वह युद्ध के प्रति घृणा से भर उठा है। युधिष्ठिर की यह मान्यता कि अगर वे महाभारत के परिणाम से परिचित होते तो तनबल को त्याग कर मनोबल से लड़ते। इसमें कवि शक्ति से अधिक मनोबल पर केन्द्रित होता है।

वस्तुतः दिनकर युधिष्ठिर के माध्यम से प्रथम बार युद्ध की अनघता और हीनता को व्यक्त करते हैं। उन्हे लगता है कि पूरे देश को विभीषिका मे झोंकने का दायित्व उन स्वार्थ-लोलुप शासको पर है—जो अपनी लिप्सा और अहं की तृप्ति के हेतु युद्ध उत्पन्न करते हैं।

'कुरुक्षेत्र' मे कवि युद्ध की समस्या को अपना प्रतिपाद्य बनाकर उसके मूल कारणों, उसके पक्ष-विपक्ष का विश्लेषण करते हुए उत्पन्न समस्याओं के समाधानों की ओर इंगित करता है।

युद्ध के कारण एवं अनिवार्यता :

'कुरुक्षेत्र' के अन्तर्गत कवि भीष्म के माध्यम से युद्ध के कारण एवं अनिवार्यता पर विचार करते समय अपनी युद्ध-सम्बन्धी प्रौढ़ एवं चिन्तनशील विचार-धाराओं को ही वाणी देता है।

भीष्म युद्ध के कारणो मे व्यष्टि से विशेष समष्टि को ही महत्त्वपूर्ण अग मानते हैं। समाज मे व्यक्तिगत, सामाजिक एव राष्ट्रीय स्तर पर क्षोभ, घृणा, ईर्ष्या तथा द्वेष से युद्ध का तूफान धीरे-धीरे प्रज्वलित होता है और यही ज्वाला एक दिन युद्धाग्नि के रूप में फैल जाती है।

भीष्म की यह दृढ मान्यता है कि युद्ध का उत्तरदायित्व न्याय चुराने वाले, शोषक वर्ग पर है। जब-जब समष्टि की स्वतंत्र ढंग से जीने की आकाक्षाएँ कुचली जाती हैं—तब-तब युद्ध का जन्म होता है।

भीष्म व्याप्त विषमताओं के उन्मूलन के लिए युद्ध को अनिवार्य तत्त्व मानते हैं। अन्यायी और अत्याचारी का प्रतिकार करने के लिए आपद्धर्म के रूप मे भी युद्ध का स्वीकार करना योग्य है—ऐसी दृढ़ मान्यता व्यक्त करते हैं। उनकी दृष्टि में लोभ के वशीभूत होकर किया गया युद्ध अशुद्ध है, लेकिन जब तक स्वार्थ और संघर्ष है तब तक युद्ध अनिवार्य है एवं धर्म भी।[1]

---

१. 'कुरुक्षेत्र', द्वि० स० : पृ० १९-२०।

भीष्म उस समय तक शांति को भी स्तुत्य नहीं मानते, जब तक संपूर्ण समाज में ममता स्थापित न हो जाए।

भीष्म के माध्यम से कवि युद्ध की अनिवार्यता को ही स्वीकार करता है। गांधी का तपोबल संपूर्ण समाज के लिए कवि को मान्य नही। कवि को लगता है कि स्वतंत्रता-मात्र गांधी जी की अहिंसा-नीति से प्राप्त नही हुई है, बल्कि उसमें भगतसिंह चन्द्रशेखर आजाद जैसे असंख्य हुतात्माओं का बलिदान भी सम्मिलित है। कवि को यह स्पष्ट मान्यता है कि जब-जब क्रूर हैं और हिंसात्मक तत्व हमे आक्रान्त करते हैं तब-तब बलिष्ठ शरीर द्वारा उसका प्रतिकार ही अनिवार्य उपाय है।

यह सत्य है कि 'कुरुक्षेत्र' का कवि युद्ध की अनिवार्यता पर विश्वास करता है परन्तु इस युद्ध के समर्थन में उसकी भावनाएँ पूर्व कृतियों की तरह आवेशमय या ध्वसात्मक नही है। कवि ने भीष्म के उन कथनो द्वारा इस तथ्य को स्वीकार किया है, जिनमें वे अन्याय उन्मूलन हेतु ही युद्ध को अनिवार्य मानते हैं। लोभ-युक्त युद्ध तो उन्हें भी स्वीकार नहीं।

युद्ध में द्वन्द्व पाप :

युद्ध में द्वन्द्व पाप है। कवि ने कुरुक्षेत्र मे भीष्म के कथन द्वारा इस तर्क को पुष्ट किया है कि युद्ध में दुविधा का होना पाप का कार्य है।

'परशुराम की प्रतीक्षा' कवि इन भावनाओ का समर्थक है देश पर छाये हुए संकट में, जबकि प्रतिकार की आवश्यकता हो, ऐसी अवस्था मे शांति की बातें करने वाले उसे पसंद नहीं। कवि द्विधाग्रस्त नेताओं पर व्यंग करते हुए—शत्रु को मार हटाने के लिए अंगार जैसी वीरता का समर्थन करता है।

युद्ध का समाधानः शांति एवं साम्य की भावनाएँ :

युद्ध का समर्थक कवि जिस प्रकार उसकी अनिवार्यता का पक्षपाती है उसी प्रकार चिंतन की फल-श्रुति के अनुरूप वह युद्ध के समाधान पर भी अपने विचार प्रकट करता है। यद्यपि 'कलिंग-विजय' मे उसने युद्ध का समाधान शांति मे ढूँढने का प्रयास किया, परन्तु उस समाधान मे कवि के विचारो का स्थायित्व उतना दृढ़ नही जितना कुरुक्षेत्र मे प्रौढ़ है।

'कुरुक्षेत्र' के युद्ध के समर्थक भीष्म भी अन्तरंग से तो युद्ध के संहारक पहलू के विरोधी ही हैं। वे रण-भीति से युक्त पृथ्वी की स्वतन्त्रता की कल्पना हिंसा और बल-प्रयोग के आधार पर ही नहीं, मनुष्य के प्रेम, स्नेह, बलिदान और त्याग पर भी स्वीकार करते हैं।

भीष्म द्वारा अनेक तर्कों द्वारा युद्ध की अनिवार्यता पुष्ट करने के पश्चात् भी युधिष्ठिर के मन में युद्ध के प्रति जो घृणा दृढ़ हो गई है उसका यथावत् रहना ही कवि के इस विचार को पुष्ट करता है कि उसे कुरीतियों के उन्मूलन के उपाय-स्वरूप

मात्र युद्ध ही वरेण्य नहीं है अपितु शान्ति और सुधा की ज्योति का आलोक ही विशेष ग्राह्य लगता है।

'कुरुक्षेत्र' का सम्पूर्ण षष्ठ सर्ग कवि के उन विचारों का प्रतिबिंब है जिनमें वह युद्ध के विरुद्ध प्रेम, दया, करुणा, और धर्म-तत्व की स्थापना को महत्त्व देता है। वह बुद्धिवादी विज्ञान को तलवार की धार मानता है—जिसने मानव में अहं और क्रूरता को पनपाकर उसे युद्ध जैसे घृणित कार्यों की ओर अभिमुख किया। वह विज्ञान की उसी भावना का समर्थक है जो व्यक्ति के हृदय में सम्पृक्त हो—कवि बुद्धि और हृदय के सामजस्य को ही श्रेयस्कर मानता है। उसे उस दिन की प्रतीक्षा है जब मानव में प्रेम पल्लवित होगा।

रणमुक्ति के उपाय के रूप में शान्ति और प्रेम की भावनाओं के उपरांत कवि साम्य की भावनाओं पर बल देता है। भीष्म, धर्मराज को पृथ्वी की प्रारम्भिक कहानी सुनाते हुए उस जनतान्त्रिक व्यवस्था का परिचय देते हैं जिसमें कभी राजा और प्रजा, ऊँच और नीच जैसी कुत्सित भावनाएँ नहीं थीं। सभी परस्पर सुख-दुःख के भागीदार थे। परन्तु कालान्तर में स्थापित राजा के अस्तित्व ने गुलामी, शोषण जैसे दूषणों को जन्म दिया। इन दूषणों का उन्मूलन करना होगा और साम्य की भावनाओं की प्रस्थापना पुनः करनी होगी।

भीष्म का यह नया संदेश कवि का ही संदेश है। कवि पूर्ण विश्वास से यह मानता है कि व्यक्ति को क्षुद्र स्वार्थों का त्याग करना होगा, भाग्यवाद से ऊपर उठ कर कर्म-पथ पर आरूढ़ होना होगा। मनुष्य जिस दिन इस विश्वास का सम्पादन कर लेगा श्रम ही उसके विकास का लक्ष्य है उस दिन से उसके श्रम-वारि-बिन्दु से यह धरती चमक उठेगी। परस्व हरने की वृत्ति के विलोप से संसार से स्वार्थ का विलोप हो जायेगा। और तब विश्व-युद्ध की विभीषिका से मुक्त हो सकेगा।

कवि को आशा है कि मनुष्य का मूल्यांकन जिस दिन त्याग और साम्य के संदर्भ में किया जायेगा उसी दिन धरती पर स्वर्ग अवतरित हो जायेगा। भीष्म का यह कथन बड़ा ही मार्मिक है—

> आशा के प्रदीप को जलाये चलो धर्मराज,
> एक दिन होगी मुक्त भूमि रण-भीति से;
> भावना मनुष्य की न राग में रहेगी लिप्त
> सेवित रहेगा नहीं जीवन अनीति से,
> हार से मनुष्य की न महिमा घटेगी और,
> तेज न बढ़ेगा किसी मानव का जीत से;
> स्नेह बलिदान होंगे माप नरता के एक
> धरती मनुष्य की बनेगी स्वर्ग प्रीति से।"[1]

१. कुरुक्षेत्र - ष० स० पृ० १८१।

युद्ध पशुता का चिह्न नया दृष्टिकोण

दिनकर युद्ध को पशुता का चिह्न ही मानते हैं। कवि का यह विचार परिपक्व हो गया है कि युद्ध मानव को युगों पीछे पशुता की ओर ढकेलने वाला पहलू है। आज का मानव भले ही बाह्य रूप से सुसंस्कृत हो रहा हो परन्तु अभी उसकी पशुता जो उसे हिंसा की ओर प्रेरित करती है—झरना बाकी है।[1]

'अनीति के विरुद्ध युद्ध पुण्य है—उस मान्यता पर भी कवि की आस्था कम रह गई है। युद्ध उसे विषैले सर्प-सा जहरीला लगता है। 'रश्मिरथी' में कवि युद्ध में प्रवृत दोनों पक्षों को ही दोषी मानता है। कवि पशुता के विरुद्ध करुणा और स्नेह को ही विशेष गौरव प्रदान करता है। कवि अब शांति की चेष्टाओं में ही वीरता के दर्शन करता है।

चीनी आक्रमण के पश्चात् यद्यपि कवि का 'हुँकार' कालीन स्वर बड़े ही आक्रोश पूर्ण ढग से अभिव्यक्त हुआ। एक बार पुनः ऐसा आभास हुआ कि कवि की शांति की और अहिंसा की मान्यताएँ नष्ट हो गईं। उसने शांति और बंधुत्व के स्वरों के स्थान पर हुँकार के स्वरो को प्रतिष्ठित किया, तदपि कवि इस सत्य का समर्थन तो करता ही रहा कि युद्ध मे हम पशु न बनें। 'परशुराम की प्रतीक्षा' में सग्रहीत रचना 'आज कसौटी पर गांधी की आग है'—में वह पशु नहीं बनने का स्मरण दिलाता है।[2] इस सदर्भ मे कवि जैसे नेहरू-नीति का समर्थन ही करता है। इस सदर्भ मे डॉ० सावित्री सिन्हा की तुलना माननीय है—"वास्तव मे 'कलिंग-विजय' के अशोक, 'कुरुक्षेत्र' के युधिष्ठिर और आज के जवाहर एक ही विचार परपरा के तीन प्रतिनिधि हैं। अन्तर केवल इतना है कि पहले दो युद्धजन्य ध्वंस के उत्तरदायित्व के कारण ग्लानि युक्त हैं। तीसरा उनसे मिली हुई अहिंसा और क्षमा के संस्कारों से मुक्त होने में असमर्थ है।"[3]

निष्कर्षत' हम यह कह सकते है कि दिनकर की युद्ध सम्बन्धी मान्यताओं में प्रारम्भिक आक्रोश मे उनके यौवन के उद्दाम वेग को वाणी मिली है। कवि क्रांतिकारियों की पद्धति का समर्थक रहा।

द्वितीय विश्वयुद्ध की विभीषिकाओं और संहार को देखकर कवि इस पक्ष पर विचारशील हुआ कि युद्ध ही सभी समस्याओं का निदान नहीं है। युद्ध की अनिवार्यता को सिद्ध करते समय भी उसकी दृष्टि शांति, समन्वय और स्नेह के क्षितिज पर लगी रही। युद्ध का लाल रग उसे कुरूप लगा—उसमें पशुता के चिन्ह दृष्टिगत हुए।

स्वतन्त्रता के पश्चात् अन्तर्राष्ट्रीयता और विश्व बंधुत्व का समर्थक कवि

---

१. रश्मिरथी, प० स० : पृ० ९८।
२. परशुराम की प्रतीक्षा (आज कसौटी पर गांधी की आग है) : पृ० ४३।
३. युग चारण दिनकर, सावित्री सिन्हा : पृ० १७०।

अपने देश पर आन्त संकट के समय देश को जागृत करने के लिए—स्वतंत्रता की रक्षा के लिए पुनः युद्ध की ओर अभिमुख करता है परन्तु इस युद्ध के समर्थन में कवि धरती को नहीं छोड़ता।

मैं मानता हूँ कि 'रेणुका' से 'कुरुक्षेत्र' तक की जय-यात्रा तक कवि की युद्ध सम्बन्धी मान्यताओं में जिस चिन्तन और प्रौढ़ता का स्थान मिला, कवि ने युद्ध और अन्य समस्याओं का समाधान शांति और साम्य के आलोक में खोजा था—वे ही उसके स्थिर विचार हैं। 'परशुराम की प्रतीक्षा' में निरूपित रोष उसका चिन्तन नहीं है, अपितु वैयक्तिक रोष ही प्रधान है। ऐसा रोष प्रत्येक देशवासी में होना अनिवार्य भी है। फिर दिनकर तो समयपुत्र हैं—वैतालो हैं।

दिनकर-काव्य में सौन्दर्य

दिनकर की काव्य-कृतियों के अध्ययन द्वारा उनकी सौन्दर्य-भावनाओं का परिचय मिलता है। कवि ने सौन्दर्य को दो रूपों में अपनाया है—एक सौन्दर्य का बाह्य-पक्ष और दूसरा सौन्दर्य का आन्तरिक-पक्ष।

सामान्य रूप में विद्वानों ने सौन्दर्य के इन्हीं दो स्वरूपों को स्वीकार किया है। सौन्दर्य वह भावना है जो मानव के समक्ष नए क्षितिज उद्‌घाटित करती है। आचार्य शुक्ल के सौन्दर्य के विषय में विचार द्रष्टव्य हैं—"सौन्दर्य ने विश्व में ऐसे दिव्य-सौन्दर्य की सृष्टि की है जिसका आभास मानव को वन, पर्वत, नदी, निर्झर, पशु-पक्षी आदि में आदि काल से ही मिलता चला आ रहा है। इसी कारण वह कभी ऊषा की राग-रंजित छवि से अनुरक्त हुआ है तो कभी सन्ध्या की नील-पीत-मिश्रित अरुणिमा में आत्मविभोर हो उठा है, कभी वह शरद के सुरभित हास में मग्न हुआ है तो कभी वसन्तश्री की सुषमा में अपनी सुध-बुध गवाँ बैठा है। इसी तरह मानव ने नाना प्रकार के रंग-बिरंगे पुष्पों, चित्र-विचित्र पशु-पक्षियों आदि में भी सौन्दर्य के दर्शन किये हैं। सृष्टि के इस अनन्त सौन्दर्य ने उसके हृदय को आन्दोलित किया है और उसमें अनेकानेक भाव-लहरियाँ उठाई हैं। मानव-हृदय की ये ही भाव-लहरियाँ सौन्दर्यानुभूति की जननी हैं, क्योंकि सौन्दर्य-स्रष्टा की इस अद्‌भुत एवं अनुपम रचना को देखकर कौन ऐसा हृदय हीन व्यक्ति होगा जिसके हृदय में उसके प्रति आकर्षण न हो। सौन्दर्य अपनी ओर हठात् आकर्षित करता है।"[1]

सौन्दर्यवादियों ने कविता में कामिनी में सौन्दर्य को विशिष्ट रूप में निरूपित किया है। कालिदास ने 'अभिज्ञान-शाकुन्तल' में मधुर भावनाओं को सौन्दर्य के अन्तर्गत निरूपित किया है।[2]

---

१. चिन्तामणि (प्रथम भाग) आचार्य रामचन्द्र शुक्ल : पृ० २२१।
२. किमिव हि मधुराणाम् मण्डन नाकृतिनाम् (शाकुन्तल, अंक १ श्लोक : २० : पृ० ३६)।

'कुमार-सम्भव' मे सौन्दर्य सद्वृत्तियों की ओर ले जाने वाला तत्त्व माना है।[1]

'शिशुपाल-वध' मे क्षण-क्षण परिवर्तित होकर नवीनता प्राप्त करने वाली वस्तु को सुन्दर कहा हैं।[2]

प्लेटो ने सौन्दर्य में सत्य-शिव और दैवी गुणों का समाधान बताया है।[3]

कीट्स ने सौन्दर्य को सत्य और सत्य को सौन्दर्य माना है।

सौन्दर्य के विषय मे भारतीय और पाश्चात्य दोनों दृष्टिकोणो के प्रतिफलन-रूप यह कहा जा सकता है कि सौन्दर्य वह भावना है, जिसमे मानव-मन मे निहित भावनायें मनोरम रूप से व्यक्त होती है जो आत्मा को आनन्द एवं सन्तोष प्राप्त करती हैं।

सौन्दर्य के जो दो भेद प्रस्तुत किये गए हैं उसमे सौन्दर्य बाह्य-पक्ष के अन्तर्गत नारी के मासल सौन्दर्य को ही विशेष महत्त्वपूर्ण माना गया है, जिसमे उसके रूप-सौन्दर्य का वर्णन होता है। सौन्दर्य के आन्तरिक पक्ष के अन्तर्गत सौन्दर्य मांसलता से उठकर ऊपर भावनाओं और उदात्त गुणो से युक्त बन जाता है। सौन्दर्य के आन्तरिक पक्ष में मांसलता के स्थान पर नारी के गुणो का ही विशिष्ट महत्त्व होता है। आन्तरिक सौन्दर्य आकर्षण से उठकर भावनाओं के मुक्त परिवेश में परिलक्षित होता है।

इन्ही तत्त्वो के आधार पर दिनकर काव्य मे सौन्दर्य का अवलोकन किया गया है।

सौन्दर्य: बाह्य-पक्ष :

दिनकर के काव्य में, विशेषकर उनकी 'उर्वशी' पूर्व की मुक्तक रचनाओं में सौन्दर्य का बाह्य-पक्ष ही विशेष रूप से चित्रित हुआ है।

अन्य भावनाओ की तरह कवि सौन्दर्य अंकन मे भी द्वैधी-भावों से ग्रस्त है। हम बाह्य-पक्ष के अन्तर्गत विविध रूप से निरूपित सौन्दर्य की चर्चा करेंगे।

सौन्दर्य का द्विधा-ग्रस्त चित्रण

'रेणुका' में सौन्दर्य-सम्बन्धी दो रचनायें, जीवन-संगीत और 'सुन्दरता और काल' है। परन्तु कवि सौन्दर्य-भावो की अभिव्यक्ति नही कर सका है। कवि का

---

१. यदुच्यते पार्वती पापवृत्तये न रूपमित्य व्यभिचारि तद्वचः।
(कुमार-संभव : अंक ५ : श्लोक ३६ कालिदास)।

२. क्षणे-क्षणे यन्नवतामुपैति तदेव रूपं रमणीयतायाः। (शिशुपाल-वध, ४।१७)

3. Aesthetic historical summary : P. 255-56)

निराशावादी रुग्ण दृष्टिकोण उसे जीवन को नश्वर बनाते हुए सौन्दर्य के प्रति गर्व नहीं करने को बाध्य करता है ।

'हुँकार' की 'साधना और क्रिया' कविता में कवि का द्वन्द्व मुखरित हुआ है । वह कर्तव्य और सौन्दर्य के बीच उलझा हुआ दिखाई देता है । इसके मूल में कवि की वह विवशता लगती है जो उसे दासता के कारण बन्धन में बांधे हुए है ।

कवि की सौन्दर्य-भावनाओं का क्रिया-युक्त सौन्दर्य-रूप सर्वप्रथम 'रसवन्ती' में ही व्यक्त हुआ है । कवि 'रसवन्ती' को खोजने के लिए अमृत-देश की ओर अग्रसर होता है और वह समस्त संघर्षों के बीच में 'रसवन्ती' को स्वर्ग से धरा पर उतारता है ।

'बालिका से वधू' रचना में कवि ने किशोरी का वह रूपांकन किया है जो यौवन की देहरी पर पांव रख रही है—

> "माथे में सिंदूर पर छोटी दो बिन्दी चम-चम-सी,
> पपनी पर आँसू की बूँदें मोती-सी, शबनम-सी ।
> पीली चीर कोर में जिसके चकमक गोटा-जाली,
> चली पिया के गाँव उमर के सोलह फूलों वाली ।"[1]

किशोरी जिसके होठों पर प्रियतम से मिलने की स्मित-रेखा है और नयनों में अश्रु के कण हैं ।[2]

नारी का मांसल सौन्दर्य —'नारी' काव्य में कवि ने उसके मांसल रूप और प्रभाव की चर्चा की है । नारी धरती पर सौन्दर्य-लोक की कल्पना के रूप में अवतरित हुई जिसके दृगों की मदिरता और वक्र चितवन ने योगियों की साधना, वीरों के हिंसा-भाव तथा कर्मियों के कर्मों को बिसरा दिया ।[3]

कवि ने नारी का सौन्दर्य के उस प्रतीक के रूप में अंकित किया है जिसके सौन्दर्य का गान कवि युग-युग से गा रहा है ।

नारी के मांसल-सौन्दर्य-वर्णन पर कहीं-कहीं प्रसाद की नायिका के सौन्दर्य की छाप भी दृष्टव्य है—

> "शशि-मुख पर दृष्टि लगाये, लहरें उठ घूम रही हैं,
> भय वश न तुम्हें छू पातीं, पंकज मुख चूम रही हैं ।"[4]

---

१. रसवन्ती (बालिका से वधू) : पृ० १६ ।
२, भीग रहा मीठी उमंग से दिल का कोना-कोना
भीतर-भीतर हँसी देखलो, बाहर-बाहर रोना ।" (वही-वही : पृ० २०)
३. वही, (नारी) : पृ० ३० ।
४. वही (अन्तर्वासिनी) : पृ० ४६ ।

'रसवन्ती' मे यद्यपि कवि ने उन्मुक्त रूप से सौन्दर्य-वर्णन की चेष्टा की है तथापि जहाँ-जहाँ वह कर्तव्य के कृत्रिम बंधन से आवद्ध हो जाता है वहाँ सौन्दर्य में निखार नहीं आ पाता। कर्त्तव्य की स्पर्धा मे सौन्दर्य गौण बन जाता है।

निष्कर्षत: यह कहा जा सकता है कि 'रसवन्ती' दिनकर की सौन्दर्याभिव्यक्ति की पूर्व भूमिका है जहाँ छायावादी सौन्दयाकन का प्रभाव भी है, उन्मुक्त सौन्दर्य-वर्णन मे कर्त्तव्य का द्वन्द्व भी है। रसवन्ती में बाह्य-सौन्दर्य के अनेक सुन्दर चित्र भी हैं। सौन्दर्य की यही भावनाएँ अपने सपूर्ण वैभव के साथ 'उर्वशी' मे मुखरित हुई हैं।

उर्वशी में सौन्दर्य का बाह्य-रूप :—'उर्वशी' मे कवि उर्वशी आदि अप्सराओं के दैहिक सौन्दर्य-वर्णन के माध्यम से हमे कवि के सौन्दर्य-चित्रण की शक्ति का परिचय मिलता है। कवि विविध कल्पनाओं, उपमाओं द्वारा सौन्दर्य-वर्णन प्रस्तुत करता है।

स्वर्ग से अवतरित अप्सरियाँ स्वर्ग की सुषमाएँ हैं जिनकी वाणी से फूल झरते हैं। जिनके आनन पर पुष्प-रेणु दमकती है।[1] स्वर्ग का कमनीय पुष्प—उर्वशी का रूप-सौन्दर्य कितना आकर्षक और मादक है—एक उदाहरण प्रस्तुत करते हैं—

> "इसीलिए तो सखी उर्वशी, ऊषा-नन्दन वन की,
> सुरपुर की कौमुदी, कलित कामना इन्द्र के मन की,
> सिद्ध विरागी की समाधि मे राग जगाने वाली,
> देवो के शोणित मे मधुमय आग लगाने वाली,
> रति की मूर्ति, रमा की प्रतिमा, तृषा विश्वमय नर की,
> विधु की प्राणेश्वरी, आरती शिखा काम के कर की।"[2]

'उर्वशी' के मांसल-सौन्दर्य के अनेक चित्र 'उर्वशी' मे देखे जा सकते हैं।

"नारी" का सौन्दर्य देखकर पुरुष उसमे मदिरा, माधुर्य, अमृत एव सिद्धि न जाने किन-किन तत्वों को ढूढने लगता है। द्विधाग्रस्त 'पुरुष-सिंह भी अन्त में प्रश्रय तो नारी की सौन्दर्यमयी गोद मे ही पाता है।

उर्वशी का जन्म ही इस निमित्त हुआ कि वह पुरुष के हृदय मे निवास करने वाली सौन्दर्य-प्रतिमा के रूप मे अंकित हो जाए। उर्वशी का सौन्दर्य ही वह तत्त्व है जो पुरुरवा के द्वन्द्व-ग्रस्त मन का शमन करता है।

सुकन्या का रूपाकर्षण ही च्यवन ऋषि के क्रोध को प्रेम में रूपान्तरित करता है। नारी का यही मांसल-सौन्दर्य योगी को त्याग से भोग की ओर उन्मुख करता है।

---

१. 'उर्वशी', पृ० अ० : पृ० ६-७।
२. वहीं, वही : पृ० १३।

जहाँ बाह्य-सौन्दर्य की न्यूनता होती है वहाँ नारी पुरुष का सर्वस्व प्राप्त नहीं कर पाती और यही कमी उसके जीवन को दुखी बना देता है। औशीनरी में अन्त में यही वेदना उभरती है कि वह बाह्य-सौन्दर्य से पुरूरवा को आकर्षित नहीं कर सकी, फलतः अप्सरा सर्वस्व प्राप्त कर लेती है और कुल-वधू सर्वस्व खो बैठता है।

वस्तुतः कवि द्वारा निरूपित बाह्य-सौन्दर्य वर्णन में विशेष नावीन्य नहीं है। प्रारम्भ में वह छायावादी सौन्दर्य-चित्रण के प्रति आसक्त है। अधिकांशतः उसका सौन्दर्यांकन परंपरावादी ही है। 'उर्वशी' में अवश्य भाषा की सुन्दरता ने 'उर्वशी' के सौन्दर्य में निखार उत्पन्न किया है। परन्तु सुन्दरता का चित्रण परम्परागत ही है।

सौन्दर्य: आंतरिक-पक्ष.

सौंदर्य जब आत्मिक धरातल पर प्रस्थापित होता है तब वह मनोहारी लगता है। उर्वशी से पूर्व आंतरिक सौंदर्य पर कवि की दृष्टि कम ही रही है। 'रसवन्ती' की 'गीत-अगीत' कविता द्वारा सौंदर्य के आत्मिक-भाव को कवि ने व्यक्त किया है। पुरुष के बाह्य-सौंदर्य से प्रकृति आकर्षित तो अवश्य होती है, परन्तु उसे सुख तो आत्मिक सौंदर्य में ही मिलता है। इस कविता का अन्तिम अंश बड़ा ही मार्मिक है जहाँ गीतालाप को सुनकर खिचती है, परन्तु वह छिपी-छिपी यह कामना करती है कि वह प्रिय के ओठों से निर्गत गीतों की पंक्ति बन जाय—

> "चोरी-चोरी खड़ी नीम की छाया में छिपकर सुनती है,
> 'हुई न क्यों मैं कड़ी गीत की बिधना' यों मन में गुनती है।
> वह गाता, पर किसी वेग से फूल रहा इसका अन्तर है।"[1]

'अन्तर्यामिनी' रचना में नारी के उस उच्च सौंदर्य की प्रतिष्ठा स्थापित है जो पुरुष के अन्तस्तल की क्षुधा को दूर कर देती है, और पुरुष उसे अपने हृदय में कमल की भांति सजाये रहता है। नारी का यही आंतरिक सौंदर्य पुरुष को सदैव तृप्ति प्रदान करता है।

उर्वशी से पूर्व कृतियों में कवि की रचनाओं में राष्ट्रीय-रचनाओं की प्रधानता होने से सौंदर्य को कम स्थान ही प्राप्त हुआ।

उर्वशी में सौन्दर्य का आन्तरिक पक्ष.—'उर्वशी' में दिनकर ने बाह्य-सौन्दर्य की अपेक्षा आन्तरिक सौंदर्य को विशेष औचित्यपूर्ण ढंग से चित्रित किया है। कवि सौंदर्य पर मनोवैज्ञानिक दृष्टि से विचार करता है। कवि पुरूरवा के माध्यम से सौंदर्य को अतीन्द्रिय लोक में खोजता है।

बाह्य-सौंदर्य की भाँति वरन् उससे भी विशेष आन्तरिक सौंदर्य मानव के चरित्र का उद्घाटन करता है। 'उर्वशी' जिसका रूप आकर्षण का केन्द्र है—वह भी

१. 'रसवन्ती' (गीत-अगीत) : पृ० १८।

प्रेम के वशीभूत हो पुरूरवा-मय बन जाती है, तब उसका आन्तरिक प्रेयसी-रूप पत्नी-रूप में परिवर्तित होकर उसके आन्तरिक सौंदर्य का परिचय देता है। उर्वशी का आन्तरिक सौंदर्य प्रणय भावनाओं मे सँवरता है और मातृत्व-पद के सौंदर्य से दीप्त हो उठता है।

सौंदर्य के उदात्त-रूप मे त्याग और समर्पण को विशेष स्थान मिलता है। सुकन्या च्यवन ऋषि के बाह्य-रूप से अधिक उनके ज्ञान और तपस्या मे ही सुन्दरता निहारती है और अपना समर्पण कर देती हैं। सुकन्या और च्यवन के सौंदर्य-अंकन में कवि की यह विशेषता रही है कि उसमे कहीं भी जय-पराजय की होड़ नही। सुकन्या तो स्पष्ट रूप से यह मानती है कि सौंदर्य वही उच्च है जहाँ नारी अपने आप को किसी पुरुष से आबद्ध कर आजीवन उसकी बनी रहे। ऐसे सौंदर्य के समक्ष स्वर्ग भी जैसे नत-मस्तक हो जाता है। नारी-जीवन का आन्तरिक-सौंदर्य समर्पण और मातृत्व मे है—जिसे सुकन्या औशीनरी को अंतिम समय समझाती है।

औशीनरी की वेदना मे नारी के आन्तरिक सौंदर्य का ही पक्ष अंकित हैं, जहाँ नारी सर्वस्वा होकर भी वेदना को हृदय मे सँजोये रहती है—और अपने पति के शुभ की कामना करती है। यद्यपि आयु की वह जनेता नही है तथापि उसके प्रति प्रकट वात्सल्य उसके हृदय की सुन्दर भावनाओ का परिचायक है।

निष्कर्षतः दिनकर ने आन्तरिक सौंदर्य के अन्तर्गत नारी के उदात्त गुणों की ही चर्चा की है। आन्तरिक सौंदर्य-वासना (इच्छा) रहित, त्यागपूर्ण होता है।

सौन्दर्य ऐसा गुण है जिसका प्रारंभ आकर्षण और परिणमन प्रेम है। जब व्यक्ति बाह्य धरातल को त्याग कर, अन्तर मे प्रविष्ट होता है तब सौन्दर्य की उदात्त भावनाएँ उसके अन्तर को भी सौंदर्यपूर्ण बना देती है। सौन्दर्य की ऐसी भूमि पर पहुँच कर मन की कल्मषता स्वतः धुल जाती है।

सौंदर्य का तीसरा रूप प्रकृति-चित्रण मे निहित होता है। दिनकर ने भी प्रकृति के सौंदर्य का चित्रण किया है जिसकी चर्चा हम पृथक् से प्रकृति-चित्रण के अन्तर्गत करेंगे।

दिनकर के काव्यों में प्रेम —'प्रेम' शब्द का व्यवहार अनेक अर्थों में होता है। रूप, गुण, काम-वासना-जनित अनुरक्तिम, स्नेह, प्रीति, अनुराग, प्रेम के पर्याय-वाची के रूप मे प्रयुक्त होते है। मस्कृताचार्यो ने प्रेम को रति-भावना के रूप मे विशेष महत्त्व दिया है। शार्ङ्गधर ने स्त्री-पुरुष के पारस्परिक प्रेम को काम की संज्ञा दी है।[1] वात्स्यायन ने काम-भावनाओ के सदर्भ मे ही प्रेम को स्वीकार किया है।[2]

---

१. शार्ङ्गधर, १।६।
२. कामसूत्र, अधिकरण १, अध्याय २, सूत्र १२।

कबीरादि सन्त कवियों ने भी प्रेम को ही सर्वाधिक उत्कृष्टतत्व मानकर उसे ईश्वर तक ले जाने वाला तत्व माना है। सन्तों और विद्वानों प्रायः सभी ने प्रेम के महत्त्व को स्वीकार किया है। किसी ने उसे ईश्वर-प्राप्ति का साधन माना तो किसी ने आध्यात्मिक, अभौतिक तत्व का रूप माना। प्रत्येक मान्यता के अन्तर्गत उसके निस्वार्थ वृत्ति, वासना के त्याग का महत्त्व स्वीकार किया। हम कह सकते है कि प्रेम वह तत्त्व है जो मानव-मन की कलमषता को दूर कर उसकी आत्मा को पवित्र बनाकर उसे ससार के प्रति कोमल तथा ईश्वरोन्मुख बना देता है।

प्रेम का प्रस्फुटन अनेक रूपो मे होता है। कभी उस पर भक्ति का रग चढा होता है, कभी राष्ट्रीय भावनाओ से ओत-प्रोत होता है तो कभी स्थूल नारी-सौंदर्य एवं प्रकृति के प्रति अनुराग मे अनुरजित होता है। प्रेम वह मणि है जिसमे से प्रसारित होने वाली हर रग की किरण अपना वैशिष्ट्य बनाए रहती है।

दिनकर-काव्य में प्रेम का स्वरूप :

दिनकर ने अपने काव्यो मे प्रेम का चित्रण अनेक रूपो मे किया है। जिसे हम निम्नलिखित रूपो मे विभाजित कर सकते है -

१. प्रेम का राष्ट्रीय रूप।
२. प्रेम का रूमानी रूप।
३. प्रेम का आदर्श रूप।
४. प्रेम का उदात्त रूप।

१. प्रेम का राष्ट्रीय रूप :

राष्ट्र-प्रेम के रूप मे कवि के प्रेम की अभिव्यक्ति बडे ही सशक्त रूप मे हुई है। सर्वत्र कवि मातृभूमि के प्रति प्रेमपूर्ण है। उसे स्वतत्र देखने लिए वह लालायित है। अपने राष्ट्र-प्रेम के प्रतीक रूप वह देश को नवजागरण और बलिदान की प्रेरणा देता है। दिनकर के राष्ट्र-प्रेम की विस्तृत चर्चा हम दिनकर के काव्य मे राष्ट्रीयता एवं युद्ध-दर्शन के अन्तर्गत कर चुके हैं अत यहाँ मात्र अन्य स्वरूपो की चर्चा करेंगे।

२. प्रेम का रूमानी रूप :

दिनकर के काव्यो में निहित रूमानी प्रेम की चर्चा दो भागों मे प्रस्तुत की गई है—प्रथम 'उर्वशी' से पूर्व मुक्तक कृतियो में प्रेम का रूमानी रूप द्वितीय 'उर्वशी' में प्रेम का रूमानी रूप।

उर्वशी से पूर्व प्रेम का रूमानी रूप :

दिनकर की प्रारंभिक कृतियों में और विशेषकर 'रेणुका' में कवि की प्रेम-भावनाएँ द्वन्द्व-ग्रस्त है। सौंदर्य की भाँति प्रेम भी कर्त्तव्य भावना से अनुप्राणित है।

जिस प्रकार तुलसी का प्रेम-चित्रण मर्यादा-बद्ध है उसी प्रकार दिनकर का प्रेम कर्त्तव्य-बद्ध है।

कवि की प्रारंभिक कृतियों में अभिव्यक्त प्रेम-रस ही है जिस पर छायावादी की रूमानी भावनाओं का प्रभाव परिलक्षित है। वह प्रेम का सौदा करता है और उसमें अहं के पूर्ण विगलन और समर्पण को स्थान देता है।[1]

'रसवन्ती' का कवि क्रांति से कंचन और कामिनी की ओर लौटता दृष्टिगत होता है। उसके दहकते हुए कण्ठ से मधु की धारा फूटती दिखाई देती है। सावित्री सिन्हा ने कवि के इस परिवर्तन को देखकर बड़ा ही मार्मिक विधान किया है—"वैयक्तिक सुख-दुख, मधुमास का पराग, यौवन काल की ऊष्णता, प्रेम की शीतलता और रूप की चकाचौंध में कुछ दिनों के लिए उनकी 'रसवन्ती' में उनकी कला चेतना का यही मधुर कोमल रूप, प्रधान रूप से व्यक्त हुआ है।

पुरुष को जब नारी का प्रेम उपलब्ध होता है तब उसके जीवन में रश्मि आलोक बिखरता है। उसके हृदय में नया स्पन्दन भर जाता है। प्रेम का आनन्द तो अनबोले रहकर दुःख सहन करने में ही है। उसका माधुर्य तो दीपक की तरह मंदिर-मंदिर जलने में ही है। प्रेम के सस्पर्श से हृदय कंचन-सा दमक उठता है—

"मैं रह न गई मानवी आज, देवी कह तुमने की न भूल,
अन्तर का कचन चमक उठा, जल गया मैल, झर गई धूल,
नव दीप्ति लिए नारीत्व जगा, यह पहन तुम्हारी विजय-माल,
कुछ नई विभा ले फूल उठी, जीवन-विटपी की डाल-डाल।"[3]

'रसवन्ती' की 'रास की मुरली', 'अन्तर्वासिनी', 'अगरू धूम' 'पुरुप-प्रिया सभी रचनाओं में कवि ने प्रेम-वर्णन किया है। जिसमें प्रेम की व्याख्या और व्याप्ति एवं प्रभाव का वर्णन किया है। प्रेम में वासना विष है। वह तो तलवार की धार पर चलने का सौदा है—आदि भावनाओं का चित्रण किया है।

कहीं-कहीं उसकी प्रेमिका छायावादी कवियों की प्रेमिका की तरह अज्ञात ही रहकर मन पर सोने का पानी फेरा करती है।

'रसवन्ती' की प्रेम-भावनाओं की पृष्ठभूमि में कवि की व्यष्टिगत प्रेम-भावनाओं का स्वरूपाकन ही हुआ है। वह प्रेम-सम्बन्ध में परम्परा की पुनरावृत्ति ही करता है। किसी मौलिक चिन्तन को प्रस्तुत नहीं कर पाता। लगता है कि कवि-मात्र अपने को प्रेम और सौन्दर्य का कवि सिद्ध करने के चक्कर में लगा रहा। कभी प्रेम की पीर को व्यक्त करता है, कभी समर्पण को महत्त्व देता है, तो कभी

१. 'रेणुका' (प्रेम का सौदा) : पृ० ११।
२. युगचारण दिनकर, सावित्री सिन्हा : पृ० १७७।
३. रसवन्ती (अगरु-धूम) : पृ० ३८।

रहस्यवादियो की तरह आध्यात्मिकता की ओर दौड़ता है। प्रेम के ऊपर कर्त्तव्य की लगाम इतनी कसी है कि प्रेम की अभिव्यक्ति में कवि की हिचकिचाहट प्रकट होती है।

'रास की मुरली' में कवि चाहता तो कृष्ण और गोपियों के माध्यम से प्रेम की कालिंदी प्रवाहित कर सकता था। परन्तु काव्य के रहस्य ने प्रेम-भावनाओं को ग्रस लिया है।

निष्कर्षत. यह कहा जा सकता है कि 'रसवन्ती' का कवि छायावाद से प्रभावित और उसकी प्रेम भावनायें युक्त-मन की चंचल भावनाओं तक ही सीमित है। जिनका परिष्कार कवि 'उर्वशी' में कर सका है।

उर्वशी मे प्रेम का स्वरूप—रसवती मे प्रस्फुटित प्रेम-धारा उर्वशी तक पहुँच कर विस्तृत भूमि प्राप्त कर लेती है। जिसमे पहाडी उच्छृंखलता कम और मैदानी गाभीर्य अधिक है।

'उर्वशी' मे प्रेम दो रूपो मे व्यक्त हुआ है एक प्रेम का रूमानी रूप दूसरा प्रेम का उदात्त चिन्तन शील। प्रेम को द्वितीय स्वरूप की चर्चा हम उदात्त-स्वरूप के अन्तर्गत करेंगे।

प्रेम का रूमानी रूप :—दिनकर ने उर्वशी मे प्रेम के स्वरूप को भारतीय आदर्श वाद और पाश्चात्य यथार्थवाद की दृष्टि से निरूपित किया है। कवि प्रेम का सम्बन्ध मानव के अन्तस से स्थापित मानकर उसकी मनोवैज्ञानिक व्याख्या और स्वरूप स्थापित करता है।

प्रेम तो वह तृषा है जो मानव-मात्र मे सहज रूप में रहती है। जिस प्रकार जीने के लिए भोजन पानी आदि वस्तुएँ आवश्यक हैं उसी प्रकार प्रेम की आकाक्षा भी आवश्यक है पशु का प्रेम शारीरिक तृप्ति तक सीमिति होता है जबकि मानव का प्रेम सौन्दर्यानुभूति से अनुप्राणित होने के कारण आकर्षक और अज्ञात तृषा के रूप मे व्यक्त होता है। प्रेम का प्रारभ आकर्षण से होता है। जब नर-नारी परस्पर नैकट्य प्राप्त कर लेते हैं तब प्रेम का विस्तार होता है।

कवि ने उर्वशी की भूमिका मे इस अगोचर तथ्य के महत्त्व को स्वीकार किया है—"नारी-नर को छूकर तृप्त नही होती, न नर नारी के आलिगन में सन्तोष मानता है। कोई शक्ति है जो नारी को नर तथा नर को नारी से अलग नही रहने देती, जब वे मिल जाते है, तब भी उनके भीतर किसी ऐसी तृषा का सचार करती है, जिसकी तृप्ति शरीर के धरातल पर अनुपलब्ध है।"[1]

कवि प्रेम का प्रारंभ भौतिकता से ही स्वीकार करता है फिर चाहे उसका उन्नयन भले ही विस्तृत होकर अध्यात्म मे परिवर्तित हो जाए। दिनकर ने प्रेम के ऐसे ही रूमानी रूप को स्थान दिया है।

१. उर्वशी, भूमिका : पृ० ख।

'उर्वशी' मे रूमानी प्रेम के मुख्य दो रूप 'दैवी' और 'मानव' दिखाई देते हैं वैसे दैत्य का उर्वशी का हरण करना दानवी प्रेम भी कहा जा सकता है। मानव मन की भावनाएँ जब वासना के कारण कलिमय हो जाती हैं—तब वह जिस बलात्कारात्मक-वृत्ति का आश्रय लेता है—वही दानवी प्रेम है।

दैवी प्रेम :—दैवी प्रेम के दर्शन हमे स्वर्ग की अप्सराओं और उर्वशी के प्रेम में होते है। अप्सराओं का प्रेम मनोरंजन या शुद्ध एन्द्रिक भोग का प्रतीक है। वे बंधकर रहना नहीं चाहती—

> "प्रेम मानवी की निधि है, अपनी तो क्रीड़ा है,
> प्रेम हमारा स्वाद, मानवी की आकुल पीड़ा है।
> जन्मी हम किस लिए? मोद सबके मन में भरने को,
> किसी एक को नही मुग्ध जीवन अर्पित करने को।"[1]

ये अप्सरायें पुरुष द्वारा आलिंगनबद्ध हो सकती हैं परन्तु उनके साथ स्थायी रहना इन्हें स्वीकार नहीं। दैवी प्रेम में ज्वाला नही होती। देवी प्रेम वायु की तरह प्रवाहित होता है। दैवी प्रेम में परितृप्ति के तत्त्व हैं—पर तन्मयता नही।

मानवीय प्रेम :—मानवीय प्रेम बडा ही महान् और आकर्षक होता है, स्वर्ग की अप्सरायें भी इससे प्रभावित है, इसकी प्रशंसा करती है कवि ने प्रेम के पश्चात् मानव के ऊपर होने वाले प्रभाव और दशा का वर्णन किया है। अप्सरायें तक मानव के इस प्रेम के प्रति आकृष्ट हैं—

> "वह तो नर ही है, एक साथ जो शीतल और ज्वलित भी है'
> मन्दिर में साधक-व्रती, पुष्प वन मे कंदर्प लिलित भी है।'
> योगी अनन्त, चिन्मय, अरूण को रूपायिक करने वाला,
> भोगी ज्वलन्त, रमणी-मुख पर चुबन अधीर करने वाला।"[2]

उर्वशी जब तक दैवी प्रेम की समर्थक रही—उसका प्रेम निवारण नहीं है, परन्तु जब पुरूरवा को हृदय देकर वह वेदना में ढलकर प्रेम का मानवी रूप स्वीकार करती है तभी उसका प्रेम धन्य बना देता है।

दिनकर में उर्वशी और पुरूरवा के प्रेम का वर्णन मनोवैज्ञानिक ढंग से प्रस्तुत किया है दोनो की प्रेम विह्वल दशाओं का चित्रण, मिलन की उत्कंठा, मिलन के पश्चात् की संयोगावस्था मे प्रेम का आदान-प्रदान, प्रेम की प्यास एवं पीर का अंकन तृतीय अंक में बड़े ही रूमानी और सयत ढंग से आलेखित है। मानव मे जब प्रेम का प्रादुर्भाव होता है और जब वह प्रेम-पात्र का साहचर्य प्राप्त कर लेता है तब वह कितना कोमल और समर्पित होने को लालायित हो उठता है, वह

१. उर्वशी, प्र० अं० : पृ० १५।
२. वही, तृ० अं० : पृ० ५४।

कितनी पूर्णता का अनुभव करता है—आदि भावनाओं का निरूपण कवि ने उर्वशी और पुरूरवा के प्रेमांकन में चित्रित किया है।

मानवीय प्रेम के अन्तर्गत औशीनरी का प्रेम और समर्पण भी है जहाँ सर्वस्व खोकर भी प्रेमी के मंगल की शुभ कामना है। औशीनरी का प्रेम अतृप्त मर्यादा-बद्ध प्रेम है।

सुकन्या और च्यवन ऋषि के प्रेम प्रसंग में भी प्रथम दैहिक आकर्षण और रूमानी भावों का ही प्राधान्य है जो दाम्पत्य के आदर्श प्रेम में परिवर्तित हो जाता है। सुकन्या का प्रेम का अनुभव कितना मादक है—

> "लगा मुझे, सर्वत्र देह की पपरी टूट रही है,
> निकल रही है त्वचा तोड़ कर दीपित नई त्वचायें।
> चला आ रहा फूट अतल से कुछ मधु की धारा-सा
> हरियाली से मैं प्रसन्न आकण्ठ भरी जाती हूँ।"

सुकन्या और ऋषि के प्रेम की विशिष्टता यह है कि उनमें पुरूरवा और उर्वशी के प्रेम की तरह अति रूमानियत नहीं है। सुकन्या का प्रेम तो नारी सुलभ साहसिक मात्र है।

प्रेम का आदर्श रूप :

दिनकर द्वारा प्रस्थापित प्रेम का आदर्श रूप उनकी कृतियों में विविध रूपों में मिलता है। आदर्श प्रेम को हम निम्नलिखित रूपों में विभाजित कर सकते हैं—

१. हृदय के परिष्कारक रूप में।
२. मानवतावादी रूप में।
३. मैत्री रूप में।
४. वात्सल्य रूप में।
५. दाम्पत्य रूप में।

हृदय के परिष्कारक रूप में :

'प्रेम' वह शक्ति है जो मानव-मन में निहित, अहं, स्वार्थ आदि दुर्वृत्तियों को दूर कर मन को पवित्र एवं निष्पाप बनाता है। व्यक्ति को जब यह विदित होता कि उसकी क्षुद्र मनोवृत्तियाँ जो उन्नत बनाने में बाधक बनी रहीं—तब व्यक्ति पश्चात्ताप द्वारा उनको नष्ट करना चाहता है और तभी उसमें प्रेम की भावनाएँ स्वतः प्रस्फुटित होने लगती हैं।

प्रेम का ऐसा ही स्वरूप 'कुरुक्षेत्र' में कवि ने अंकित किया है। भीष्म को यह द्वन्द्व अन्तिम समय उद्वेलित बना देता है कि वे अहंवादिता के कारण सदैव प्रेम को ठुकराते रहे। प्रेम पर आरूढ़ अहं ही कुरुक्षेत्र के विनाश के कारणों में से एक बना रहा। वही प्रकट होकर उनके हृदय को प्लावित कर देती है। कवि इस तथ्य को

स्पष्ट करता है कि जब बुद्धि और तत्जन्य अहं व्यक्ति को आक्रान्त कर लेते हैं तब प्रेम कुण्ठित होकर विनाश का कारण बन जाता है।

मानवतावादी रूप :—'कुरुक्षेत्र' में प्रेम का दूसरा रूप मानवतावाद के रूप में अंकित हुआ है। युद्ध और उससे होने वाला ध्वंस देखकर व्याकुल युधिष्ठिर जिस विश्व के कल्याण के लिए प्रेम को ही एकमात्र उपाय के रूप में स्वीकार करते हैं। भीष्म भी अन्त में साम्य और शांति की भावनाओं की अभिव्यक्ति द्वारा प्रेम को ही केन्द्रभूत मानकर महत्त्व प्रदान करते हैं। कवि प्रेम को समष्टि तक विस्तृत कर देता है जिसमें लोक-कल्याण और विश्वकल्याण की शक्ति निहित है।

मैत्री के रूप में :

'रश्मिरथी' में प्रेम का शुद्ध सात्विक रूप बिखरा हुआ है। प्रेम मैत्री के रूप में प्रकट होता है। कवि ने कर्ण और दुर्योधन की मैत्री में आदर्श प्रेम की स्थापना की है। इसी के वशीभूत होकर वह श्रीकृष्ण के समझाने पर भी पाण्डवों के पक्ष में जाना स्वीकार नहीं करता। वह प्रेम और मैत्री की दुहाई देता है—

"है ऋषि कर्ण का रोम-रोम, जानते सत्य यह सूर्य-सोम,
तन-मन-धन दुर्योधन का है, यह जीवन दुर्योधन का है,
सुरपुर से भी मुख मोड़ूँगा, केशव, मैं उसे न छोड़ूँगा।"[1]

कर्ण का प्रेम कहीं मैत्री के रूप में कहीं गुरु भक्ति के रूप में प्रगट हुआ है।

कवि कर्ण की मैत्री का उदात्त स्वरूप अंकित करते हुए मानों इस सत्य को स्पष्ट करना चाहता है कि मैत्री ही ऐसा तत्त्व है जो विश्व में विश्वास उत्पन्न कर सकता है। जिस दिन मानव मात्र में कर्ण की भाँति निस्वार्थ मैत्री का उदय होगा उस दिन विश्व से सदैव के लिए युद्ध जैसी पशुता नष्ट हो जायेगी। सचमुच मैत्री प्रेम का महान् रूप है।

वात्सल्य रूप :

प्रेम का वात्सल्य रूप आदर्श रूपों में सर्वश्रेष्ठ रूप है। वात्सल्य प्रेम के अन्तर्गत पवित्रता सर्वत्र व्याप्त रहती है। नारी में जब वात्सल्य का जन्म होता है तब उसका सौन्दर्य और भी निखर उठता है। वात्सल्य से अभिभूत नारी जैसे संसार के समस्त संघर्षों से जूझने की शक्ति प्राप्त कर लेती है। पुत्र भी वात्सल्य के अभाव में आजीवन स्नेह के लिए लालायित रहता है। जब कभी भी उसे वात्सल्यमयी माँ की गोद प्राप्त होती है, वह धन्य-धन्य हो जाता है। उसके सारे क्रोध मोम-से पिघल कर अश्रु-धारा में बह जाते हैं।

दिनकर ने अपनी कृति 'रश्मिरथी' और 'उर्वशी' में वात्सल्य प्रेम का अद्भुत सुन्दर ढंग से निरूपित किया है।

---

१. रश्मिरथी, तृतीय सर्ग : पृ० ३७।

'रश्मिरथी' में कुन्ती का कर्ण के प्रति वात्सल्य अत्यन्त मार्मिक रूप से अभिव्यक्त है। कुन्ती जो समाज के भय से कर्ण को अपना न सकी थी, यही दमित भाव उसे सदैव दुःखी बनाए रहता है। लेकिन कर्ण के पास पहुँचते ही वात्सल्य का रूद्ध स्रोत फूट पड़ता है और वह सभी भयों का सामना करने को प्रस्तुत हो जाती है। उसकी तो एक ही इच्छा है कि वह अपने लाल को अङ्क से लगाकर तृप्त हो ले।[1]

उर्वशी में भी प्रेम का वात्सल्य रूप प्रस्तुत कर कवि ने जैसे नारी जीवन की सार्थकता ही सिद्ध की है। स्वर्ग की अप्सरा उर्वशी भी पुत्र प्राप्ति के पश्चात् पयस्विनी बन जाती है। कवि ने मेनका द्वारा प्रथम अङ्क में मातृत्व की गरिमा को प्रकट कर अपनी सूझ का परिचय ही दिया है। मेनका को प्रेयसी से अधिक मातृ-रूप ही सुहाता है।[2] 'उर्वशी' में आयु के प्रति जो ममता और वात्सल्य भरा है वह उसे प्रेयसी से भी अधिक सौन्दर्य प्रदान करता है।

सुकन्या यद्यपि माँ नहीं बनी तथापि आयु के प्रति उसकी जो वात्सल्य भावना प्रवाहित है वह बरबस सूर की यशोदा की स्मृति करा देती है। वह आयु को कभी घुटनों के बल चलता देखना चाहती है कभी दौड़ता देखना चाहती है।[3]

औशीनरी की अतृप्त प्रेम भावनायें आयु को पाकर, वात्सल्य में निरोहित होकर तृप्ति प्राप्त कर लेती हैं।

दाम्पत्य प्रेम :

प्रेम का दाम्पत्य रूप भारतीय आदर्श का प्रतीक है, जहाँ पति-पत्नी दाम्पत्य द्वारा प्रेम-सूत्र में आबद्ध होते हैं वहाँ सुख और आनन्द जन्म लेता है। दाम्पत्य प्रेम का प्रारम्भ यद्यपि रूमानियत के अन्तर्गत होता है परन्तु इसके अन्तर्गत मात्र दैहिक तृप्ति के भाव नहीं होते, बल्कि पति-पत्नी एक-दूसरे पर समर्पित होकर उच्च आदर्श-जीवन की स्थापना करते हैं।

दिनकर ने इसी भारतीय आदर्श को 'उर्वशी' में प्रस्तुत किया है। कवि ने दाम्पत्य प्रेम के दो रूप प्रस्तुत किए हैं—एक पुरूरवा और औशीनरी का दाम्पत्य और दूसरा च्यवन ऋषि और सुकन्या का दाम्पत्य।

प्रथम में दाम्पत्य की करुणता है जहाँ पत्नी अपना सर्वस्व खोकर भी पति के मंगल की कामना करती है और पति प्रेमिकामय बनकर पत्नी को भूला रहता है। वह तो पत्नी को पुत्र-प्राप्ति का साधन और यज्ञादि कार्यों की सहचारिणी तक ही सीमित मानता है। औशीनरी की करुणा बरबस पुरूरवा के प्रति हमें रोषमयी बना देती है।

---

१. रश्मिरथी, पंचमसर्ग : पृ० ७१।
२. उर्वशी, प्र० अं० : पृ० १६।
३. वही, च० अं० : पृ० १२२।

प्रेम का दूसरा रूप ही श्रेष्ठ है, जिसमें पति-पत्नी एक रूप होकर प्रेम और सन्तोष को ही सर्वोपरि स्वीकार करते है। नारी अपने प्रेम-प्रवाह में पुरुष को त्याग से भोग की ओर अभिमुख करती है। सुकन्या और च्यवन ऋषि का दाम्पत्य सचमुच आदर्श प्रेम का उत्तम उदाहरण है।

प्रेम का उदात्त रूप :

दिनकर की कृतियों में प्रेम का उदात्त रूप जहाँ प्रेम जैविक धरातल से उन्मत्त होकर आध्यात्म की भूमि पर प्रतिस्थापित होता है—सुन्दर ढग से निरूपित हुआ है।

यह सत्य है कि प्रेम की उद्भावना भौतिक धरातल पर होती है, परन्तु उन्नयन आध्यात्म-धरातल पर ही होता है। कवि ने स्वयं इसे स्वीकार करते हुए लिखा है—"प्रेम की एक उदात्तीकृत स्थिति वह भी है जो समाधि से मिलती-जुलती है।"[1]

कवि ने यह भी स्वीकार किया है कि प्रेम पहले फिजिक्स है फिर मेटाफिजिक्स होता है।[2]

'उर्वशी' में कवि इसी तथ्य की पुष्टि करते हुए लिखता है—

> "पहले प्रेम स्पर्श होता है, तदनन्तर चिंतन भी,
> प्रणय प्रथम मिट्टी कठोर है तब वायव्य गगन भी।"[3]

नर और नारी का प्रारम्भिक प्रेम सौन्दर्य और भोग के रूप में स्थापित होता है, परन्तु यही भोगवाद जब चिंतन का संस्पर्श पाकर आध्यात्म की भूमि पर प्रतिष्ठित हो जाता है तब प्रेम, ब्रह्मानन्द सहोदर के रूप में व्यक्ति को प्रेमी से सन्यासी बना देता है।

प्रेम का यह स्वरूप 'उर्वशी' में ही विशेष रूप से अङ्कित हुआ है। पुरूरवा और उर्वशी का रूमानी प्रेम ऐन्द्रिक धरातल का त्याग कर अतीन्द्रीय धरातल का स्पर्श कर निरुद्देश्य आनन्द का पक्षपाती बन जाता है। प्रेम का यह मनोरम रूप ईश्वर के अधिक निकट है और अद्वैत भी, जहाँ नर-नारी का मासल भेद मिट जाता है।[4] प्रेम में सम्पूर्णता और उदारता प्राप्त करने के लिए मन की कलुषता का कवि ने निषेध किया है।

निष्कर्षत: यह कहा जा सकता है कि कवि प्रेम को मानव-मन की सहज वृत्ति मानकर पाश्चात्य सिद्धातो के आधार पर भले ही उसके रूमानी रूप को चित्रित

---

१. उर्वशी, (भूमिका) : पृ० ग।
२. धर्म-नैतिकता और विज्ञान, दिनकर : पृ० २८।
३. उर्वशी, तृ० अंक : पृ० ५८।
४. वही, तृ० अंक : पृ० ५९।

कुछ करने की इच्छा उसमें जल सींचने का पात्र है। अज्ञान उसकी जड़ है। प्रमाद उसे सींचने वाला जल है। दूसरों के दोष देखना उस काम-वृक्ष के पत्ते है तथा पूर्व-जन्म में किए हुए पाप उसके सार भाग हैं। शोक उसकी शाखा, मोह और चिन्ता उसकी डालियां तथा भय उसके अंकुर हैं और सदैव तृष्णारूपी लताएँ उससे लिपटी रहती है।[1] वाल्मीकि रामायण में इन तीनों (धर्म-अर्थ-काम) को समान माना गया है।[2] मनुस्मृति में धर्म, अर्थ और काम में से काम को ही श्रेयस्कर माना गया है और जो कुछ भी कर्म किया जाता है उसे काम की चेष्टा ही माना है।[3]

इस प्रकार काम के सम्बन्ध मे पुराणों, वेदो उपनिषदो, ब्राह्मण ग्रंथों में महाभारत, गीता आदि समस्त प्राचीन भारतीय ग्रथो मे काम की विविध परिभाषायें उपलब्ध होती है जिनमे काम के विस्तार और प्रभाव की पर्याप्त समीक्षा दृष्टिगत होती है।

पाश्चात्य दृष्टि :—काम के सम्बन्ध मे जब हम आधुनिक पाश्चात्य विद्वानों की समीक्षा को देखते हैं, ये नवीन व्याख्यायें भी प्राय काम की सहज भावनाओ का ही समर्थन करती हैं।

फ्रायड :—फ्रायड ने काम को मन की मूल प्रवृति माना है—जो व्यक्ति की मनोवृत्ति को व्यापक बनाता है।[4] फ्रायड ने सर्वप्रथम काम की सर्वव्यापकता पर बल दिया। मानसिक स्नायविक रोगो की चिकित्सा करते समय फ्रायड ने देखा कि सम्मोहन क्रिया (hypnotism) अथवा वार्तालाप के स्वच्छंद विचार साहचर्य से बहुत से पुराने अनुभव पुनरुज्जीवित हो उठते है। उन्होने यह भी पाया कि इन अनुभवों का मूल कारण कामवृत्ति और उसका अचेतन रूप से दमन है।[5] फ्रायड काम शक्ति का उदय शैशव मे ही मानते हैं और उसे व्यापक रूप प्रदान करने के लिए वे काम के लिए 'लिबिडो' शब्द का प्रयोग करते है। उनकी मान्यता है कि प्रयोजन या प्रेरणा प्रमुखत: कोई कामेच्छा होती है। इस कामशक्ति के उन्नयन के फलस्वरूप कलाकार सर्जन की ओर प्रभावित होता है। फ्रायड ने 'काम' शब्द को मूल-प्रवृत्ति के साथ व्यापक और सर्जक तत्व माना है। आधुनिक मनोविश्लेपण की इस प्रकार व्याख्या सर्वप्रथम फ्रायड ने ही प्रस्तुत की।

अन्य :—फ्रायड के पश्चात् उनके शिष्य 'एडलर' ने लिबिडो से अधिक अहम् को स्थान दिया। और दूसरे शिष्य जुग ने दोनों वृत्तियों का स्वीकार किया। उन्होंने

१. महाभारत, शांतिपर्व, २४५।१-३।
२. वाल्मीकिरामायण, अयोध्याकांड, १००।६१-६२।
३. मनुस्मृति २।४, २।२३४।
४. मनोविज्ञान (डॉ० जे० एन० सिन्हा) पृ० २७४।
५. साहित्यकोष (प्र० भा०) पृ० ६१५ दे० मनोविश्लेषण।

लिबिडो शब्द का व्यापक अर्थ किया जिसमें फ्रायड की काम-वृत्ति और एलडर की आत्मस्थापन-प्रवृत्ति दोनों ही सम्मिलित हैं ।

प्लेटो के अनुसार प्रेम या काम वह मध्यस्थ शक्ति प्रदान करता है, जो आत्मा को सभी दबनों से मुक्त कर सकती है।

हक्सले 'दि जीनियस एण्ड दि गौडेस' पुस्तक में काम को शरीर तक सीमिति न मानकर उससे बाहर भी स्वीकार करते हैं जिसे उन्होंने सुको-स्प्रिच्युअल कहा है।

हैरी बैंजामिन ने अपनी पुस्तक 'हाउ टू लिव फौर हेल्थ एण्ड हैपीनेस' में प्रेम काम के विषय में लिखा है जो व्यक्ति शरीरों की अपेक्षा आत्माओं के मिलन द्वारा परस्पर आकर्षण से प्रेम-निमग्न है, उन्हीं का प्रेम स्तुत्य है तथा उनका वह मिलन आध्यात्मिक है।

डा० एच० लौरेन्स काम के अतिक्रमण को जघन्य मानते हैं। उसका स्वतः उद्गम ही श्रेयस्कर है।

इसी प्रकार मनोविज्ञान के अन्य पंडितों में ऐलन डब्ल्यू वाट्स, जोन-गिटीने आदि ने काम के विविध रूपों को ही व्यक्त किया है।

यह सत्य है कि इन पश्चिमी मनोवैज्ञानिकों ने काम को सहज वृत्ति मानकर जीवन के उन्नयन में इसकी सर्वाधिक महत्ता स्वीकार की, परन्तु यह भाव भी प्रतिस्थापित किए कि काम का अतिक्रमण और वासनामय रूप कभी भी ग्राह्य नहीं हो सकता वासना का सबंध तो मात्र शरीर तक ही है परन्तु काम तो शरीर से बाहर की वस्तु माना गया है।

आधुनिक काम संबंधी पाश्चात्य मनीषियों के विचारों का साम्य हमारे यहाँ के वेद उपनिषद में मिलता है।

मनोवैज्ञानिक दृष्टि :—मनोविज्ञान जिसे आदिम जीवन की प्रेरणा करता है वे हमारे अतीत के ही संस्कार है, जिनमें काम की प्रेरणा सर्वाधिक बलवती है। भारतीय कामशक्ति के विवेचक वात्स्यायन ने स्पष्ट कर दिया था—आत्म संयुक्त मन से अधिष्ठित श्रोत, त्वक्, चक्षु, जिह्वा एवं घ्राण नामक इन्द्रियों की शब्द स्पर्श, रूप, रस एवं गन्ध स्व-स्व विषयों में आनुकूल्य से प्रवृत्ति काम कहलाती है।"[1] वात्स्यायन ने काम को जीवन का उतना ही आवश्यक तत्व माना है, जितना कि जीने के लिए अन्न और भोजन होता है। उसे अध्यात्म का बाधक कभी नहीं माना परन्तु उसके संयम का भी विधान किया है।

शरीर विज्ञान की दृष्टि से :—शरीर विज्ञान के अनुसार प्रकृति के प्राणियों की उत्पत्ति इस प्रकार हुई कि सर्वप्रथम प्रोटोज्वा नामक कीटाणु के आवासगृह (सेल,) सत्ता में आए। वह खण्ड-खण्ड हुआ और वे खंड पृथक् सत्ता ग्रहण कर

१. कामसूत्र अधिकरण १, अ० २, सूत्र ११।

पुनः खण्ड-खण्ड हो गये। इसी प्रकार जीवन चलता रहा। भिन्न-भिन्न जीवों के विकास के बिना सृष्टि चल नही सकती थी अतः पुलिंग और स्त्रीलिंग का निर्माण हुआ वह भी भिन्न-भिन्न जीवों मे।[1] प्रकृति विकास के लिए सम्भोग आवश्यक तत्व था। इसी के अनुसार प्रकृति ने प्राणियो का शरीर भी तदनुकूल बनाया और सस्पर्श सुख की लालसा उत्पन्न की। श्री डारविन ने 'काम' के विकास की क्रिया को विकासवाद के सिद्धात के अनुसार विकसित क्रिया माना है। सम्भोग की यह क्रिया प्राय. सभी जीव धारियो मे होती है और प्रकृति के विकास के लिए यह आवश्यक तत्व ही है।

इस प्रकार शरीर विज्ञान की कसौटी पर कसने से यही प्रतिफलित होता है कि काम मनुष्य की वह सहजवृति है जो क्रमश. विकसित होती है। और सम्भोगावस्था मे अवस्थित हो प्रकृति के विकास मे योग देनेवाला वन जाना तत्व है। निष्कर्षतः काम प्रयोजनशील तत्व है।

काम की स्थिति को इस प्रकार भी रखा जा सकता है कि नर-नारी मे सर्व प्रथम आकर्षण उत्पन्न होता है जो दैहिक प्रेम के रूप मे स्थित होकर काम की ओर अभिमुख होता है और यही काम जब सयत होता है तो उदात्त भूमि पर पहुच कर अलौकिक बन जाता है—और जब वासना कुण्ठित हो जाती है तब विकृत होकर विनाश का सृजन करता है।

दिनकर काव्य मे काम-चेतना—दिनकर के काव्य मे काम का सक्षिप्त परिचय कुरुक्षेत्र के अन्तर्गत भीष्म के चरित्र मे मिलता है। व्यक्ति जब अपनी काम वृत्ति को वरबस दबा देता है और अहं के कारण उसका उर्ध्वीकरण नही होने देता तब वह काम अनिष्ट का कारण भी बन जाता है। भीष्म, जिन्होने अहं के कारण काम को दबा दिया था उसे वे युद्ध के कारणों मे से एक कारण मानते है। भीष्म के चरित्र में यह काम फ्रायड के काम-चिन्तन से अधिक ऐडला के अहंकारी दर्शन के अधिक निकट प्रतीत होता है।

दिनकर की शुद्ध प्रेम और काम सम्बन्धी भावनाएं उर्वशी मे ही मनोवैज्ञानिक ढंग से विस्तृत रूप से प्रस्तुत हुई है। दिनकर के काम चित्र का स्वरूप उर्वशी के आधार पर ही किया गया है जिनमे काम का सयत रूप ही विशेषरूप से मुखरित हुआ है। यह सत्य है कि उर्वशी का पुरुरवा कामाशक्ति के कारण ही उर्वशी की ओर आकर्षित होता है—परन्तु कामायानी के मनु की भांति वह न तो विद्रोही बनता है और न बलात्कार जैसे हेय माध्यम को ही अपनाता है—नर-नारी के पारस्परिक संस्पर्श से विद्युत तरग दोनो मे प्रवाहित हो उठती है, इसीसे दोनो मे अनिर्वचनीय सुख की अनुभूति होती है। नर की बाँहो मे बंधी नारी आत्मविभोर हो जाती है और

१. The Development of Sexual Impulses ; R. E. Money-Kyrle P. 55.

'काम' पुरुषार्थ का अंग :—पुरुषार्थ के मुख्यतः तीन अंग माने गये हैं धर्म, अर्थ और काम ! मनुष्य की आन्तरिक अवस्था के भी तीन अंग हैं—जैव, बौद्धिक और आत्मिक ! जैव धरातल पर मनुष्य और पशु में भेद नहीं होता।

बौद्धिक और आत्मिक धरातल पर पहुँचने पर ही वह पशुओं से भिन्न बन जाता है। इनका सम्बन्ध मनन और भावना से माना गया है। कवि ने माना है कि अर्थ और काम जैव धरातल पर स्थित हैं, धर्म आत्मिक धरातल पर आसीन है। बौद्धिक धरातल दोनों का स्पर्श करता है। इस आधार पर बुद्धि एक ओर धर्म क्रियाओं को प्रेरणा देती है और दूसरी ओर अर्थ एवं काम में सहयोग देती है।

मनुष्य के काम-जन्य सुख में बुद्धि का विशेष अधिकार रहता है। मनुष्य बुद्धि के माध्यम से नवीन कल्पना लोक में खोया रहता है—नवीन सौन्दर्य की कल्पना करता है। समाज में काम की यह झंकृतियाँ गम्भीरता से व्याप्त हैं। नर-नारी प्रेम, दर्शन, स्पर्शन, गुण-वर्णन आदि चेष्टाओं से पारस्परिक बंधन में आबद्ध हो जाते हैं। उसमें जैसे नये लोक का जन्म होता है।

काम का प्रारम्भिक प्रभाव :—पुरुरवा और उर्वशी में यही काम जब जन्म लेता है तब पुरुरवा विस्मय में डूब जाता है उसमें एक सिहरन, एक किलक भर जाती है। और उर्वशी को तो काल (समय) भी प्राणों में सिमटा दृष्टिगत होता है।[1] प्रियतमा उर्वशी उसे मणि कुहिम प्रतिभा-सी लगने लगती है जो उसे मात्र तन की द्युति से ही नहीं, गूढ़ दर्शन की उक्तियों से भी मोहने लगती है।[2] पुरुरवा का पुरुष भले

पुरुरवा –

१. जब से हम-तुम मिले, रूप के अगम फुल्ल कानन में,
अनिमेष मेरी दृष्टि किसी विस्मय में डूब गई है।
× × ×
खड़ा सिहरता रहता मैं आनन्द-विकल उस तरु-सा,
जिसकी डालों पर प्रसन्न गिलहरियाँ किलक रही हों।
उर्वशी—
जब से हम तुम मिले, न जाने क्या हो गया समय को,
लय होता जा रहा मरुद्गति से अतीत गह्वर में।
(उर्वशी, तृ० अं० : पृ० ४०)

२. तुम मेरे बहुरंगे स्वप्न की मणि कुहिम प्रतिमा हो,
नहीं मोहती हो केवल तन की प्रसन्न द्युति से ही।
पर, गति की भंगिमा-लहर से, स्वर से, किलकिंचित से,
और गूढ़ दर्शन-चिंतन से भरी उक्तियों से भी।
(वही, वही : पृ० ५४)

ही उर्वशी के सौन्दर्य और प्रेम की भावनाओं में गूढ़ चिंतन निहारने लगा हो परन्तु नारी उर्वशी—जो पुरुष के आलिंगन में खोकर पुरुष-मय बन जाना चाहती है, वह तो उन्हीं क्षणों को सुखद मानती है जिनका अनुभव उसने प्रथम मिलन में किया था।[1]

पुरूरवा और उर्वशी की काम प्रवृत्तियाँ जैव धरातल पर ही प्रकट दिखाई देती हैं।

'काम' का दूसरा पक्ष, उसका उदात्त-रूप कवि ने बड़ी ही सफलता से व्यक्त किया है। जैविक धरातल से काम को आध्यात्मिक धरातल पर प्रस्थापित किया है।

'काम' का एक विलक्षण तत्त्व यह भी है कि वह नर-नारी को स्थूल धरातल पर एकाकार बनाकर उस उदात्त स्थिति की ओर प्रेरित करता है, जहाँ पहुँचकर दोनों को परम शांति का अनुभव होता है। इस अवस्था की प्राप्ति में धर्म का विशेष महत्त्व माना गया है। मनुस्मृति, महाभारत और पद्मपुराण आदि ग्रन्थों में धार्मिक क्रियाओं को काम-जन्य माना है तथा धर्म से अर्थ की उत्पत्ति, अर्थ से काम की उत्पत्ति और पुन काम से धर्म की उत्पत्ति का उल्लेख किया है।

इन ग्रन्थों द्वारा यह परिलक्षित होता है कि काम ही वह तत्त्व है जो धर्म का जनक और धर्म द्वारा रक्षित है। अतः इस काम की उपेक्षा नहीं की जा सकती जो समस्त मानवीय व्यापार के मूल में अवस्थित है।

शिवपुराण में भी यह उल्लिखित मिलता है कि काम समस्त लोकालोक में व्याप्त तत्त्व है। वही वृद्धि का मूल है।[2]

आध्यात्मिक उन्नयन :—'उर्वशी' में काम का रूप जैविक धरातल तक सीमित नहीं रहता, परंतु वह आत्मा के गुह्य-लोक में सचरण करता है।

विशेष रूप से पुरूरवा भौतिक काम-सुख की अपेक्षा अतीन्द्रिय आनंद का इच्छुक है—

---

१. और मिले जब प्रथम-प्रथम तुम, विद्युत चमक उठी थी,
इन्द्र धनुष बन कर भविष्य के नीले अँधियाले पर।
तुम मेरे प्राणेश, ज्ञान-गुरु, सखा-मित्र, सहचर हो,
जहाँ कहीं भी प्रणय सुप्त था शोणित के कण-कण में,
तुमने उसको छेड़ मुझे मूर्च्छा से जगा दिया है।
(वही, वही : पृ० ७१)

२. "कामः सर्वमयः पुंसां स्वसंकल्प-समुद्भवः।
कामात् सर्वे प्रवर्त्तन्ते, लीयन्ते वृद्धिमागताः।"
(शिवपुराण, धर्मसंहिता, अ० ८)

"तन का अतिक्रमण, यानी मांसल आवरण हटाकर,
आंखो से देखना वस्तुओं के वास्तविक हृदय को।
और श्रवण करना कानो से आहट उन भावो की,
जो खुलकर बोलते नही, गोपन इंगित करते हैं॥"

× × ×

यह अतिक्रमण 'वियोग नहीं', शोणित के तृप्त ज्वलन का।
परिवर्तन है स्निग्ध, शात दीपक की सौम्य शिखा मे॥

× × ×

वहाँ जहाँ कैलाश-प्रान्त मे शिव प्रत्येक पुरुष है।
और शक्तिदायिनी शिवा प्रत्येक प्रणयिनी नारी॥"[1]

नर-नारी जब इस शिव-शक्ति के रूप मे प्रस्थापित हो जाते हैं तब उन्हें समाधि-सुख के हर्ष का अनुभव होने लगता है।[2]

कवि उर्वशी के माध्यम से काम के धर्म-पक्ष को ही प्रस्तुत करता है। उर्वशी प्राचीन धर्म-ग्रंथो मे प्रयुक्त काम का समर्थन करती है। काम के विषय मे उसके विचार बड़े ही समृद्ध है—

"काम धर्म, काम ही पाप है, काम किसी मानव को,
उच्च-लोक से गिरा हीन पशु-जन्तु बना देता है।
और किसी मन मे असीम सुषमा की तृषा जगाकर,
पहुँचा देता उसे किरण-सेवित अति उच्च-शिखर पर॥

× × ×

काम नहीं, इस वैपरीत्य का भी मन ही कारण है।
मन जब हो आसक्त काम से लभ्य अनेक सुखो पर,
चिन्तन मे भी उन्ही सुखो की स्मृति ढोये फिरता है,
विकल, व्यग्र, फिर-फिर, मधु-सर मे अवगाहन करने को
स्नेहाकृष्ट नही, तो यत्नों से, छल से, बल से भी,
तभी काम से बलात्कार के पाप जन्म लेते हैं,
तभी काम दुर्द्धर्ष, दानवी किल्विष बन जाता है।
काम-कृत्य वे सभी दुष्ट है, जिनके संपादन मे
मन-आत्माएँ नही, मात्र दो वपुम् मिला करते हैं।

× × ×

---

१. उर्वशी, तृ० अं० : पृ० ६०।
२. वही, वही : पृ० ६६।

तन का काम अमृत, लेकिन मन का काम गरल है।
फलाशक्ति दूषित कर देती ज्यों समस्त कर्मों को।
उस भाँति, यह काम-कृत्य भी दूषित और मलिन है।
स्वतः स्फूर्ति जो नहीं, ध्येय जिसका मानसिक क्षुधा का।
सप्रयास है शमन, जहाँ पर सुख खोजा जाता है॥

× × ×

इसीलिए, निष्काम काम-सुख वह स्वर्गीय पुलक है।
सपने में भी नहीं स्वत्व जिस पर अधिकार किसी का।
नहीं साध्य वह तन के आस्फालन या सकोचन से,
वह तो आता अनायास, जैसे बूँदें स्वाती की,
आ गिरती हैं, अकस्मात् सीपी के खुले हृदय में॥"[1]

उर्वशी काम को पवित्र और निष्काम भाव मानती है जिसका उदय स्वतः और रूप, सौन्दर्यमय होता है।

कवि ने 'उर्वशी' की काम-भावनाओं द्वारा काम के पुण्य और पाप अथवा उसके श्रेय और अश्रेय-रूपों की व्याख्या ही प्रस्तुत की है।

काम का एक रूप औशीनरी और सुकन्या के माध्यम से हुआ है जो उर्वशी से भिन्न है; जो त्याग और तपस्या के बीच पलता है। औशीनरी का काम पति की अवहेलना के कारण रुद्ध हो गया है। काम की अतृप्ति उसे आजीवन दुखी बनाए रहती है और इसी अतृप्त काम की चर्चा वह सुकन्या से अन्तिम समय करती है। औशीनरी का अतृप्त काम अन्त में पुत्र-प्रेम में तृप्त होता दिखाई देता है। सुकन्या का काम भी सयत और उदात्त है जो तपस्या और त्याग से समृद्ध है।

निष्कर्षतः हम कह सकते हैं कि दिनकर ने काम-भावनाओं को अंकित अवश्य किया है, परंतु उसकी दृढ मान्यताएँ किसी निश्चित आस्था के साथ अंकित नहीं हो सकीं। वह काम की सामान्य व्याख्या भी प्रस्तुत करता है। उसके प्रारंभिक स्थूल रूप, जिसमें फ्रायड की लिबिडो विषयक भावनाएँ सन्निहित हैं—की चर्चा करता है। साथ ही साथ वह उसके ऐन्द्रिक और अतीन्द्रीय रूपों का विश्लेषण करता है एवं उसके आदर्श-रूप और कर्त्तव्य-रूप की विवेचना करता है।

दिनकर को एक ओर पाश्चात्य दृष्टिकोण आकर्षित करता है और दूसरी ओर भारतीय आदर्श उसे छोड़ता नहीं है। परिणामस्वरूप वह काम के दोनों रूपों को अंकित करता है।

मैं तो इस निष्कर्ष पर पहुँचा हूँ कि कवि ने प्रेम और सौन्दर्य की भाँति काम-

१. उर्वशी, तृ० अं० पृ० ८०-८१-८२।

को भी आध्यात्म और चिंतन के धरातल पर प्रतिस्थापित कर भारतीय आदर्श का ही स्वीकार किया है।

दिनकर के 'काम' चित्रण की स्थापना युगानुरूप नवीन संदर्भों में हुई है।

दिनकर के काव्य में नारी :

आधुनिक युग के साहित्यिक आंदोलन मे नारी का सामाजिक पक्ष विशेष प्रेरणादायी रहा है। वर्षों से नारी उपेक्षिता रही। उसका रूप कामिनी और विलास की मूर्ति के रूप में ही अंकित होता रहा। कबीर और तुलसी जैसो ने भी उसकी उपेक्षा की और नारी को त्याग, संसार निवृत्ति का मार्ग श्रेयस्कर बताया। रीति-काल मे वह भोग के साधन तक ही सीमित रही। कवि उसके नख-शिख सौंदर्य वर्णन मे ही उलझा रहा।

आधुनिक काल मे राजनीति और साहित्य मे उसके उत्कर्ष के लिए अनेक प्रयत्न हुए। एक ओर राजनीति के नियमो द्वारा उसके सामाजिक उत्कर्ष पर बल दिया गया। उसे शिक्षित और पुरुष के समकक्ष आत्मनिर्भर बनाने का प्रयास किया गया। आधुनिक काल मे साहित्यकार और कवियो ने उसके उत्कर्ष को अपने साहित्यिक आंदोलन का एक अंग ही बना लिया। उसके सौंदर्य के साथ-साथ उसके गुणो की प्रतिष्ठा की गई। कामिनी के स्थान पर उसके गृहिणी और माता के रूप को विशेष महत्त्व दिया गया।

सांस्कृतिक जागरण के अंतर्गत प्रायः सभी महापुरुष—राजा राममोहनराय, रानाडे, दयानंद सरस्वती, रामकृष्ण परमहंस तथा विवेकानंद आदि सभी ने नारी के उत्कर्ष के लिए प्रयत्न किए।

नारी के उत्कर्ष का गांधीजी को सर्वाधिक श्रेय है उन्होंने उसे पुरुष की भाति ही मानकर स्वतन्त्रता संग्राम मे चलने वाले रथ का एक चक्र ही माना। इस युग के प्रायः सभी नेताओं ने उनका समर्थन किया।

आधुनिक साहित्य मे भारतेन्दु से लेकर प्रायः सभी लेखको और कवियो ने उसकी उन्नति के प्रयास किए। सभी ने नारी की असहायता और पराधीनता का चित्रण कर, उसके उत्कर्ष के लिए जनमानस मे करुणा जागृत की।

द्विवेदी-युग मे नारी के उत्कर्ष का सर्वाधिक कार्य हुआ। मैथिलीशरण गुप्त ने तो परम्परा से उपेक्षित नारी का साहित्यिक उद्धार ही कर दिया। नारी को लेकर इस युग मे पर्याप्त साहित्य-सृजन हुआ, जिसमे उसके पराधीन रूप का चित्रण कर उसके उत्कर्ष के मार्ग प्रशस्त किए गये। द्विवेदी-युग की 'अबला' छायावादियों के संसर्ग से पुन. कुछ मादक तो अवश्य बनी परन्तु अब वह रीतिकाल की नायिका नही थी जिसमे सौन्दर्य की अतिशयोक्ति की भरमार थी। वह श्रद्धा की प्रतीक थी जो पुरुष के हृदय मे पीयूष-स्रोत-सी प्रवाहित हो रही थी। समर्पण उसका लक्ष्य तो अब

भी था परन्तु इस समर्पण में विवशता नहीं थी पुरुष के समकक्ष सौन्दर्य और प्रेम का आदान-प्रदान था। छायावाद की नारी इन्द्रिय-जगत से अतीन्द्रीय धरातल पर पहुँच रही थी।

नारी-उत्कर्ष का यह चक्र निरन्तर प्रगति की ओर बढ़ता रहा और आज तो नारी पुरुष के समकक्ष और उससे भी आगे है। साहित्य में उसका रूप भोग के साथ कर्म की ओर प्रवृत्त करने वाली शक्ति, आनंद-दायिनी पत्नि और स्नेहमयी माता के रूप में अंकित की जा रही है।

दिनकर के काव्यों में नारी के विविध रूप अंकित हैं। कवि नारी के आदर्श रूप का समर्थन करता है एवं उसके उन्नयन में प्रयत्नशील भी है।

दिनकर के काव्यों में नारी के विविध रूप निम्नलिखित भागों में विभाजित किए जा सकते हैं।

(१) शक्ति-रूप
(२) अबला-रूप
(३) आकर्षक-रूप
(४) आधुनिका-रूप
(५) कुलवधू-रूप
(६) माता-रूप
(७) अन्य विविध-रूप

शक्ति-रूप :

दिनकर की प्रारम्भिक राष्ट्रीय रचनाओं में कवि नारी को शक्ति-रूप स्वीकार करता है। उसकी कल्पना में कभी वह विपथगा बनकर; कभी दिगम्बरि के रूप में और कभी शान्ति कुमारी के रूप में अवतरित होती है। नारी का रण-चंडी-रूप कवि ने बड़ा ही आकर्षक चित्रित किया है—

"मेरे मस्तक के छत्र-मुकुट, वसु-काल-सर्पिणी के शत-फन।
मुझ चिर कुमारिका के ललाट में, नित्य नवीन रुधिर चन्दन।
आँजा करती हूँ चिता धूम का, दृग का अंध तिमिर अंजन।
संहार लपट का चीर पहन, नाचा करती मैं छूम-छनन।"[1]

क्रांतिपूर्ण रचनाओं में कवि नारी को इसी रण-चंडी-माता रूप की कल्पना से सजाता रहा। यही रूप देशवासियों को जागृत बनाने के लिए उसने स्वीकार किया।

---

१. हुंकार, (विपथगा) : पृ० ७२।

अबला-रूप :

भारतीय संस्कृति में नारी को अबला के रूप में ही विशेष चित्रित किया गया है। आँसू ही उसकी निधि है और त्याग ही उसका सर्वस्व। प्रायः सभी कवियों ने किसी न किसी रूप मे उसके इस रूप को स्वीकार किया है।

इस दृष्टि से दिनकर की 'रेणुका' मे संकलित रचना 'राजारानी' कविता महत्त्वपूर्ण है। वह रानी की तुलना वर्षा से करता है जो आँसू से सिक्त है। अश्रु-जल से पुरुष के जीवन-विपिन को ही हराभरा बनाना जैसे उसका पुनीत कर्त्तव्य है। रानी को तो आंसू के मोती-बीज बोना है।[1]

दिनकर 'गुप्तजी' की उस नारी की ओर आकृष्ट हैं जिसके आंचल मे दूध और आँखों मे पानी है।

आकर्षक-रूप :

नारी प्रकृति का वह अंश है जो युग-युग से पुरुष के आकर्षण का केन्द्र रही है। उसके सौन्दर्य ने पुरुष को सदैव पराजित किया है; और प्रेरणा भी दी है।

दिनकर ने नारी के इस सौन्दर्य-युक्त आकर्षक-रूप का चित्रण पर्याप्त-मात्रा मे प्रस्तुत किया है। कवि मानता है कि नारी वह तत्त्व है जो पुरुष के साथ अद्वैत रूप से संलग्न है। वह नर-नारी को एक ही सत्य के दो पहलू मानता है।[2]

नारी के आकर्षक रूप का वर्णन विशेष रूप से कवि ने 'रसवन्ती' मे संग्रहीत 'नारी' नामक दो कविताओं में किया है। कवि नारी के मांसल-सौन्दर्य और उसकी चंचल-चितवन के प्रभाव को ही विशेष रूप से अंकित कर सका है। कवि के गान नारी के जन्म-काल से ही उसके इर्द-गिर्द भिक्षुक बनकर भटकते हैं। उसकी मान्यतानुसार नारी-पुरुष में नवीन स्पंदन भरने वाली कलिका है, विधि की अम्लान कल्पना है, जो ज्ञानी, कर्मी और कलाकार को प्रेरणा प्रदत्त करती है एवं बर्बरता के धरातल पर स्थित हिंस्र मानव को भी स्नेह की भूमि पर ले आती है। उसका आकर्षण योगी को भी समाधि-च्युत करने की शक्ति रखता हैं।[3]

दिनकर के इस प्रारम्भिक नारी-चित्रण मे छायावाद का प्रभाव परिलक्षित है। कवि यौवन के आवेग मे नारी के आकर्षण को ही विशेष महत्त्वपूर्ण मानता है। उसके आकर्षण में वह छायावादियों की भाँति अतीन्द्रिय सौन्दर्य को निहारता है।

दिनकर ने उर्वशी मे भी नारी के आकर्षण का चित्रण किया है परन्तु उर्वशी की नायिका पुरूरवा के मात्र आकर्षण का केन्द्र नही बनती अपितु प्रेमिका का स्नेहिल

---

१. रेणुका, (राजा रानी) : पृ० ४३।
२. देखिये रेणुका (राजा रानी) : पृ० ४४–४५।
३. रसवन्ती (नारी) पृ० २६।

पद को प्राप्त कर मातृत्व के गौरव से विभूषित हो जाती है। कवि उसके मानवीं रूपों का पक्षपाती है जिसमें सौन्दर्य के साथ दैवी रूपाकर्षण से अधिक कर्त्तव्य भी आबद्ध है। रूप मात्र चमत्कार उत्पन्न करने वाला नहीं है। यद्यपि वह पुरुरवा को प्रथम आकर्षक रूप से अपनी ओर खींचती है—परन्तु तितली की भाँति सैर-विहार नहीं करती। पुरुरवा को अपना सर्वस्व देकर उसकी बन जाती है। उर्वशी के चित्रण में आकर्षक रूप से अधिक उसके अन्य रूप ही महत्वपूर्ण हैं जिनकी आगे चर्चा करेंगे।

आधुनिक-रूप :

नारी के जिन विविध रूपों की चर्चा कवि ने अपने काव्यों में की है, उसमें वह आधुनिका रूप का चित्रण अवश्य करता है, परन्तु ऐसी नारी के प्रति उसकी कोई सहानुभूति नहीं है। उसकी दृष्टि में आधुनिका मात्र भर्त्सना की पात्र है।

'रसवन्ती' में संग्रहीत नारी नामक कविता में नारी का आधुनिक रूप प्रस्तुत है। आधुनिका गृहस्थ जीवन के बंधन को तोड़कर मुक्त भीड़ में खोजाना चाहती है। उसे मातृत्व से घृणा है। उसका लक्ष्य तो रूप-सज्जा ही है। आधुनिक नारी अहंवादिता से प्रेरित होकर पुरुष के साथ स्पर्धा में ही लीन है और अपने व्यक्तित्व की शालीनता को स्वयं ही नष्ट कर रही है। ऐसी नारी का दुर्भाग्य यह है कि चंचल वृत्ति के कारण न वह किसी एक पुरुष का प्यार संपादित कर पाती है और न मातृत्व की अवहेलना के कारण किसी की सहानुभूति ही प्राप्त कर पाती है। दिनकर को नारी का यह रूप सदैव खटकता है।

उर्वशी में भी कवि नारी के आधुनिक रूप को प्रस्तुत करता है। यहाँ पर मा वह उन अप्सराओं की तो अवहेलना ही करता है जिनका मन एक घाट पर बंधना नहीं चाहता, जो प्रेम को बंधन और मातृत्व को भार समझती हैं।

'उर्वशी' यद्यपि आधुनिका की भाँति ही उपस्थित होती है परन्तु कवि उसमें प्रेम की पीर जागृत कर, उसमें मातृत्व की स्थापना द्वारा परिष्कृत कर उसके प्रति श्रद्धा जागृत करता है। यद्यपि मेनका, चित्रलेखा किसी की प्रेयसी या माता नहीं है तथापि वे आधुनिका के द्वितीय पक्ष की समर्थक हैं जबकि सहजन्या रंभा में आधुनिका की उच्छृंखलवृत्ति ही प्रमुख है।

'उर्वशी' के पश्चात् परवर्ती कृति नील कुसुम में भी कवि उन्माद जागृत करने वाली आधुनिका के प्रति व्यंग्य ही कसता है।[1]

कुलवधू रूप .

आधुनिका की भर्त्सना करने वाले दिनकर को नारी का कुलवधू गृहिणी रूप ही प्रिय है। नारी में ही वह शक्ति है जो कुलवधू का भार ग्रहण कर वेदना को पीकर

१. नील कुसुम : पृ० १ ।

भी अपने कुल की प्रतिष्ठा को बनाये रखती है। भारतीय परंपरागत आदर्शों से युक्त कुलवधू की स्थिति बड़ी ही दयनीय होती है। उसका सर्वस्व पति के लिए समर्पित हो जाता है। ससार की कुत्सित भावनाओ से बचने के लिए वह आवरण में छिपी रहती है। लज्जा ही उसका आभूषण बन जाता है। रसवंती की 'गीत-अगीत' बालिका से वधू रचनाओ मे नारी के लज्जाशील कुलवधू रूप को ही कवि ने प्रस्तुत किया है।

दिनकर इस भोली कुलवधू को वह शक्ति देना चाहता है जिससे वह अपनी रक्षा कर सके—

> "जी करता है अपना पौरुष, इज्जत इसे उढ़ा दूँ।
> या कि जगा दूँ उसके भीतर की उस लाल शिखा को
> आखो में जिसके जलने से दिशा कांप जायेगी।"[१]

नारी के 'कुलवधू' रूप की प्रतिस्थापना दिनकर ने उर्वशी मे सुन्दर ढंग से की है। इस रूप मे नारी का त्याग और समपर्ण ही महत्वपूर्ण अंग माना है। नारी सर्वस्व खोकर भी अपनी मर्यादा का त्याग नहीं करती। कुलवधू मे एक ओर पति-प्रेम संपादन की तड़प है दूसरी ओर मातृत्व की चाहना। 'औशीनरी' ऐसी ही नारी के प्रतीक रूप चित्रित की गई है।

कुलवधू का दूसरा रूप सुकन्या है जिसे अपनी गृहस्थी मे ही सुख और सतोष प्राप्त है। कुलवधू की मर्यादा, सहनशीलता, सौजन्य सभी गुण सुकन्या में दृष्टव्य है।

मातृ-रूप :

नारी जब मातृत्व के गौरवान्वित पद पर सुशोभित होती है तब वह सर्वाधिक श्रेष्ठ स्थान प्राप्त कर लेती है। वात्सल्य उसकी निधि हो जाता है। लोक मंगल की भावनाओ से वह भर उठती है। मातृत्व नारी जीवन की तपस्या का नवनीत होता है।

दिनकर ने नारी रूपों के अन्तर्गत सर्वाधिक महत्ता एवं श्रेष्ठता मातृ-रूप को ही प्रदान की है।

रसवती की 'नारी' काव्य में कवि ने माता के सम्यक् रूप का वर्णन करते हुए माना है कि नारी का रूप मातृत्व मे ही निखरता है।[२] मातृत्व प्राप्त करने के पश्चात् वह सृष्टि का भार वहन करने वाली इकाई बन जाती है। उसका संपूर्ण चाचल्य संयम में परिवर्तित हो जाता है। वह समझने लगती है कि प्रणय, क्रीड़ा से उच्च मातृत्व की गंभीरता है। नारी आदर्श से यथार्थ की भूमि पर आ जाती है।

१ रसवंती (नारी) : पृ० ५९।

२. रसवंती (नारी) : पृ० ६०।

मातृ सुलभ अभिलाषाएँ उसके अन्तर्मन पर छा जाती हैं। मातृत्व का पद प्राप्त करने के पश्चात् नारी जैसे अपने को ही पा जाती है।

दिनकर नारी की मातृत्व गरिमा को उसके प्रेयसी या पत्नी रूप से अधिक महत्त्वपूर्ण मानते हैं। नारी के इस मातृत्व में वे भारतीय संस्कृति की धारा को प्रसन्न मानते हैं।

'रश्मिरथी' में कुन्ती के मन में जो वात्सल्य भाव निहित है। कर्ण के पास जाते ही उसका मातृत्व जिस करुणा और गरिमा से प्रकट होता है वह सचमुच कुंती के पद की महानता के परिचायक हैं। मातृत्व की यही भावना कर्ण से नाराज पुत्र को भी अपना बना लेती है।

महाभारत के युद्ध में चाहे किसी भी पक्ष का संहार हो—'वह उसी की क्षति है,' कहने वाली कुंती के माध्यम से मानो कवि इस सत्य को प्रतिपादित करना चाहता है कि माँ ही वह नारी है जिसे संहार के प्रति अरुचि और दुख है। जिस दिन विश्व की असंख्य माताएँ यह सोचने लगेंगी उस दिन से शायद घिनौने युद्ध ही टल जायें। कवि की यह दृढ़ मान्यता है कि माँ ही वह शक्ति है जो युग को अपने बेटों द्वारा वाणी देती है।

मातृत्व की गरिमा का उल्लेख 'उर्वशी' में सर्वत्र दृष्टव्य है। मातृत्व प्राप्त कर स्वर्ग की अप्सरा भी धरती की नारी बन जाती है। लगता है कि हिम-शिला गलकर पयस्विनी बन जाती है। कवि ने मेनका आदि अप्सराओं के माध्यम से भी मातृत्व के गौरव और सौन्दर्य को प्रस्तुत किया है। औशीनरी की समस्त वेदनाओं का अन्त ही मातृत्व पद प्राप्ति में होता है। सुकन्या मातृत्व की समर्थक है और च्यवन ऋषि भी नारी के गृहिणी एवं माता-रूप की ही सराहना करते हैं।

अन्य-रूप :

दिनकर ने नारी के इन रूपों के उपरान्त नारी के नर्तकी रूप को प्रस्तुत किया है—जहाँ कवि उसके पेशे के प्रति घृणा भाव से नहीं करुणा भाव से ही निहारता है। पेट की भूख वह कला बेचकर मिटाती है परन्तु दुख है कि वह किसी की सहानुभूति को प्राप्त नहीं कर पाती।[1]

'नीलकुसुम', 'कोयला और कवित्व' व' आदि कृतियों में कवि नारी के दैवी गुणों को निहारता है। कवि युगानुरूप नए संदर्भों में इसका मूल्यांकन करता है। नए युग-बोध में भी नारी के ग्रामीण एवं सघन रूप को ही कवि ने श्रेयस्कर माना है।

दिनकर द्वारा आलेखित नारी रूपों का परिचय प्राप्त करने के पश्चात् इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि कवि को नारी-चित्रण में उसका भारतीय आदर्श-रूप ही विशेष प्रिय रहा है। कवि भोगमयी नारी से अधिक त्याग और अनुरागमयी नारी का—

1. नीलकुसुम (नर्तकी) : पृ० ३३।

समर्थक है। नारी के फुदकते रूप मे अधिक उसके आसुओ के मोती उसे प्रिय है। कवि नारी का उन्नयन मुचिता मे निहारने को उत्सुक है।

दिनकर ने विविध रूपों को अपनाते हुए अपनी सम्पूर्ण श्रद्धा एव आस्था उसके मातृत्व मे ही व्यक्त की है। चचला 'उर्वशी' का सौन्दर्य उसके मातृत्व में ही विशेष निखार ला सका है।

कवि नारी के मासल आकर्षण से अधिक उसके आतरिक आलोक के अनुसंधान का पक्षपाती ही विशेष दृष्टिगत होता है।

'उर्वशी'—परवर्ती कृतियो मे कवि शिल्प और प्रतीक की दृष्टि से नारी का वर्णन अवश्य नवीन ढग से करता है—परन्तु उसकी आस्था तो नारी के आदर्श रूप में ही है।

दिनकर के काव्यों में दार्शनिक अभिव्यक्ति

दार्शनिक अभिव्यक्ति से तात्पर्य कवि की ईश्वर, माया जगत, सुख-दुख, प्रवृत्ति-निवृत्ति की भावनाओ का स्पष्टीकरण है। दिनकर को हम किसी 'वाद' या 'मत' के दायरे मे नही बांध सकते और ऐसा करना भी कवि के साथ अन्याय ही होगा। कवि के काव्यों मे जो विचारतत्व 'दर्शन' के निकट पड़ते है—वे कवि के काव्यों मे स्वत: अवतरित लगते है—प्रयत्न साध्य नही।

प्रारम्भिक कृतियो मे कवि की भावुकना का मिश्रण दिखाई देता है—और परवर्ती कृतियो मे विशेषकर कुरुक्षेत्र और उर्वशी मे उसके विचारशक्ति प्रौढ विचारों की प्रतिध्वनि सुनाई देती है।

निवृत्तिवादी दृष्टि :—'रेणुका' मे कवि का निवृत्तिवादी स्वर सुनाई देता है' जिसे साहित्य की भाषा मे पलायनवादी भी कहा गया है। इस 'निवृत्ति' की पृष्ठ-भूमि में कवि की कोई निश्चित दृष्टि नही—मात्र निराशा है। युवा कवि जब व्यक्ति-गत सघर्षों से ऊबता है, समष्टिगत प्रयत्न—स्वतन्त्रता प्राप्ति मे जब उसे हार ही दिखाई देती है—तब वह वर्तमान की कटुता से पलायन कर अतीत मे खो जाना चाहता है।

श्री सावित्री सिन्हा ने कवि के इस निराशावादी दृष्टिकोण को भारतीय संतों के दुखवादी दर्शन और साधु-सन्यासियों के चक्कर में पड़ने का कारण माना है।[1]

दिनकर को सर्वत्र विनाश और सहार के ही दर्शन होते हैं। उसे जीवन और जगत का अन्तिम परिणाम विनाश ही सत्य लगता है; इसीलिए फूल खिलने के स्थान पर बिखरते दिखाई देते हैं। सृजन में संहार, मैत्री मे काट, सौन्दर्य मे नाश दिखाई देता है। कवि की इस निवृत्ति भावना का परिचय रेणुका की परदेशी, मनुष्य, उतर मे, जीवन सगीत तथा वैभव की समाधि मे देखा जा सकता है।

१. युगचारण दिनकर, सावित्री सिन्हा : पृ० ८०।

द्वन्द्व-गीत में कवि निवृत्ति और प्रवृत्ति के बीच झूलता नजर आता है। कभी उसे राग, कर्म और ईश्वर सत्य जान पड़ते हैं और कभी संसार झूठ, प्रपंच, मिथ्या और निस्सार दिखाई देने लगता है। 'द्वन्द्व-गीत' में कवि का राग और विराग, कर्म और पलायन, आस्था और अनास्था का द्वन्द्व प्रकट होता है।

कवि को शृंगार की मादकता, कामिनी का आकर्षण अपनी ओर आकर्षित करते हैं, परन्तु संस्कारों में ठूँस-ठूँस कर भरा हुआ नश्वरता और संसार की अनित्यता का विश्वास उन्हें मुक्त नहीं होने देता। उसे समस्त सौन्दर्य काल का ग्रास बनता दिखाई देता है। जिसमें कवि क्षणभंगुरता का आग्रही बन जाता है। यह नश्वरता का भय उसके सौंदर्य के आकर्षण में अवरोधक बनकर खड़ा हो जाता है—

"दो कोटर को छिपा रहीं, मदमाती आँखें लाल सखी।
अस्थि-तंतु पर ही तो है ये खिले कुसुम के गाल सखी।
और कुचों के कमल झरेंगे ये तो जीवन से पहले,
कुछ थोड़ा सा मांस प्राण का छिपा रहा कंकाल सखी।"

मृत्यु और जीवन के रहस्यमय छोरों के बीच जीवन के रागभाव के प्रति उसे उत्साह नहीं। वह तो श्रान्तपथिक की भाँति मात्र बोझ को ही ढोता जा रहा है।

'द्वन्द्व-गीत' में कवि निराशा के साथ आशा और निवृत्ति के साथ प्रवृत्ति को भी स्वीकार करता जाता है। कभी-कभी दिनकर की इस दुविधात्मक स्थिति में ऐसा लगता है कि आखिर कवि की दृष्टि क्या है। परन्तु यह कहना न्यायसंगत होगा कि दिनकर मूलतः कवि हैं, अतः उनकी मान्यतायें दार्शनिकों की तरह जड़ नहीं हो सकतीं। युग और परिस्थितियों के अनुसार उनमें परिवर्तन होना स्वाभाविक है। यही कारण है कि दिनकर की 'द्वन्द्व-गीत' में उलझी दृष्टि 'कुरुक्षेत्र' और 'उर्वशी' में स्वस्थता पा सकी है।

'कुरुक्षेत्र' में युधिष्ठिर के चरित्र द्वारा व्यक्त पलायनवाद और निवृत्ति को कवि ने स्वीकार नहीं किया। परन्तु भीष्म के अकाट्य तर्कों द्वारा निवृत्ति पर प्रवृत्ति की विजय दर्शाई है। निवृत्ति द्वारा मोक्ष मिल सकता है, ब्रह्म की प्राप्ति हो सकती है और पापों का क्षय किया जा सकता है। इन भावनाओं को भीष्म के उपदेश द्वारा कवि ने खण्डित किया है। मनुष्य का पवित्र कर्त्तव्य है कि वह अपने कर्त्तव्यों का निर्वाह करता हुआ संसार में रहकर भी जलकमलवत रहे। कवि ने 'गीता' के कर्मयोग प्रस्थापित कर निवृत्ति की भावनाओं का त्याग करवाया है। 'रेणुका' का पलायनवादी और 'द्वन्द्व-गीत' का निवृत्तिवादी कवि 'कुरुक्षेत्र' में प्रवृत्तिवादी आस्थाओं पर आरूढ़ दिखाई देता है।

ईश्वर :

ईश्वर की भारतीय दर्शन में मूलतः सगुण और निर्गुण रूपों में कल्पना की

गई है, जो चराचर मे व्याप्त है। पूरे संसार का अभियन्ता यही तत्त्व है। दिनकर मूलतः आस्तिक हैं। वे शिव-भक्त हैं। परन्तु उनकी ईश्वर के प्रति जो श्रद्धा है वह अन्धी नहीं है। कहीं-कहीं पर अन्याय और अत्याचार को देखकर उनमे ईश्वर के प्रति विद्रोह करने की भावना भी जागृत हो जाती है। वे अभिषेक के लिए लाए हुए जल-घट को भगवान के सिर पर भी मार सकते है और जब वे बच्चों के दूध के लिए स्वर्ग लूटने के लिए जाते हैं तब छाती तानकर बूढ़े विधाता को सावधान भी करते हैं।[1]

इन उदाहरणों से उन्हें नास्तिक नहीं कहा जा सकता क्योंकि यह सब तो उनके आक्रोष का परिणाम है। वे बार-बार देश की स्वतन्त्रता के लिए ईश्वर का स्मरण करते हैं।

कवि के मन मे ईश्वर के प्रति एक जिज्ञासा-वृत्ति भी है। उसके मन में बार-बार ये प्रश्न उठते है कि इस संसार की रचना किसने की? पाप-पुण्य, स्वर्ग-नरक क्या हैं? मनुष्य अपनी इच्छाओं की पूर्ति क्यों नहीं कर पाता? ये जिज्ञासायें उसने 'द्वन्द्वगीत' में व्यक्त की हैं—

"भेजा किसने? क्यों? कहाँ? भेद अब तक न क्षुद्र यह जान सका,
युग-युग का मैं वह पथिक श्रांत, अपने को अब तक पा न सका।
यह अगम सिंधु की थाह और, दिन ढला, हाय! फिर शाम हुई,
किस कूल लगाऊँ नाव? घाट अपना न अभी पहचान सका।"[2]

उसके मन में यह विचार उद्भूत होता है कि यदि ब्रह्म निर्लिप्त, निर्विकार है तो फिर पूजा और उपासना किसकी? वह इसीलिए खीज कर रचयिता से पूछने लगता है—

"ओ रचने वाले। बता हाय! आखिर क्यों यह जंजाल रचा?"

कवि का ईश्वर के प्रति यह जिज्ञासा-भाव अनास्थावादी सदैव के लिए नहीं रहता। 'सामधेनी' के गीतों में वह संसार कि समस्त कार्यों को ब्रह्म की सांसों का परिणाम मानकर आस्थावादी बन जाता है।

'कुरुक्षेत्र' में भी कवि द्वारा ईश्वर की अखण्ड आस्था का नियोजन पग-पग पर दृष्टिगत होता है। वह ईश, ईश्वर, प्रभु और भगवान अनेक नामों मे उसका परिचय कराता है। वही चराचर विश्व का नियन्ता है। युधिष्ठिर, भीष्म और स्वयं श्रीकृष्ण ने कृष्ण को भगवान कहा है। इस दृष्टि से 'कुरुक्षेत्र' के भगवान पूर्ववर्ती कृतियों की तरह अज्ञात न होकर वह साकार कृष्णरूप में अवतरित हुआ है—

---

१. हुंकार (हाहाकार): पृ० २३।
२. द्वन्द्व-गीत: पृ० ६५।

(क) "सत्य ही भगवान ने उस दिन कहा,
मुख्य है कर्त्ता हृदय की भावना।"[1]

(ख) "एक ओर सत्यमयी गीता भगवान की है,
एक ओर जीवन की विरति प्रबुद्ध है।"[2]

(ग) "धर्म का दीपक दया का दीप कब जलेगा कब जलेगा विश्व में भगवान।"[3]

कवि ने ईश्वर को सगुण रूप मानकर अपनी श्रद्धा व्यक्त की है। उसकी व्याख्या नहीं की है। और यह उसका विषय भी नहीं था।

'उर्वशी' में ईश्वर को सम्पूर्ण सृष्टि का रचयिता माना गया है।[4] वह बहुरूपों में व्याप्त है। वह सृष्टि का प्रसारक, संचालक एवं सर्वव्यापक माना गया है। इसमें अद्वैत का आभास उपलब्ध है—

"महा शून्य के अन्तर गृह में उस अद्वैत भवन में
जहाँ पहुँच दिक्काल एक है, कोई भेद नहीं है।"[5]

उर्वशी ईश्वर की व्याप्ति चराचर में मानती हुई कहती है—

"ईश्वरीय जग भिन्न नहीं है, इस गोचर जगती से,
इसी अपावन में अदृश्य वह पावन छिपा हुआ है।"[6]

कवि ने पुरूरवा और उर्वशी के मन में संसार की रचना के प्रति जिज्ञासायें उत्पन्न कराई है और उनका समाधान ईश्वर द्वारा संसार की रचना हुई है—कह कर किया है।

निष्कर्षत: हम यह कह सकते हैं कि कवि की ईश्वर के प्रति प्रारंभिक अनास्था उसका आक्रोश और द्वन्द्व था, परन्तु वास्तव में वह आस्थावादी भगवान में श्रद्धा रखने वाला कवि है जो उसकी अद्वैत सत्ता को स्वीकार करता है।

प्रकृति :

प्रकृति विमर्श की अधीनस्थ सत्ता है। यह विमर्श ब्रह्म का ही पर्याय है। मनुष्य प्रकृति की खुली किताब से ब्रह्म के ज्ञान को पढ़ सकता है। वह मनुष्यों के सुख-दुख की वाहिका है, परन्तु जब मनुष्य में स्वार्थ वृत्ति की भावना बढ़ जाती है

१. कुरुक्षेत्र : पृ० २०।
२. वही : पृ० १३।
३. वही : पृ० १०८।
४. उर्वशी।
५. उर्वशी, तृतीय अंक : पृ० ६६।
६. वही, वही : पृ० ७३।

तब वही प्रकृति विनाशिका बन जाती है। 'कुरुक्षेत्र' में कवि ने प्रकृति के दोनों रूपों को प्रस्तुत किया है।

"इच्छा नर की ओर, और फल देती उसे नियति है,
फलता विष पीयूष वृक्ष मे अकथ प्रकृति की गति है।"[1]

"इतना कुछ है भरा विभव का कोप प्रकृति के भीतर,
निज इच्छित सुख भोग सहज ही पा सकते नारी-नर।"[2]

"जो कुछ न्यस्त प्रकृति में है वह मनुज मात्र का धन है,
धर्मराज ! उसके कण-कण का अधिकारी जन-जन है।"[3]

'उर्वशी' मे कवि ने प्रकृति को माया नही माना—

"प्रकृति नही माया, माया है नाम भ्रमित उस धी का,
बीचो बीच सर्प-सी जिसकी जिह्वा फटी हुई है।
एक जीभ से जो कहती कुछ सुख अर्जित करने को,
और दूसरी सेवा का वर्णन सिखलाती है।"[4]

उर्वशी मानती है कि जब मानव-मन मे शुभाशुभ भाव तटस्थ हो जाते हैं तब प्रकृति मे द्वैत भाव मिट जाते है।[5] मनुष्य तो स्वयं प्रकृति का ही अंग है, इसलिए उससे पलायन उसके लिए असम्भव है और उसे भ्रम मानना उसकी मूर्खता है।[6]

'उर्वशी' में प्रकृति को ब्रह्म से अलग न मानकर उसकी ही सत्ता को अद्वैत अंग माना है। भेदभाव की भावना तो मन का विकार है—

"द्वंद्व रंच भर नही कही भी, प्रकृति और ईश्वर में,
द्वन्द्वो का आभास द्वैतमय मानस की रचना है।
यह आभास नही टिकता, जब मनुज जान लेता है।
अप्रयास अनुभव न प्रकृति का, सहज रीति जीवन की,
क्योंकि प्रकृति औ पुरुप एक है कोई भेद नही है।"[7]

प्रकृति का चक्र अनवरत गति से चलता है, नर और नारी उसके अश होने के कारण उसमे चलते रहते है। ऐसा लगता है कि 'द्वन्द्वगीत' मे प्रकृति की रचना के विषय में उठे हुए द्वन्द्वों का समापन उसे 'उर्वशी' मे मिल जाता है। जब वह प्रकृति और

१. कुरुक्षेत्र, चतुर्थ सर्ग : पृ० ५१।
२. वही, सप्तम सर्ग : पृ० १३०।
३. वही, वही : पृ० १३४।
४. उर्वशी, तृ० अंक० : पृ० ७४।
५. वही, वही : पृ० ७५।
६. वही, वही : पृ० ७७।
७. वही, वही : पृ० ७६ :

ईश्वर का तादात्म्य समझ लेता है तब उसका यह भ्रम दूर हो जाता है कि प्रकृति का निर्माणकर्ता कौन है और प्रकृति किस का अंश है।

जीव :—जीव मूलतः ब्रह्म का ही एक अंश है। तैतरीयोपनिषद् में ब्रह्म को आनंद रूप कहा गया है तथा आनन्द से ही समस्त प्राणियों का उद्भव, जीवन एवं उसी मे उनका सन्निवेश बतलाया है।[1]

जीव का यद्यपि स्वतंत्र अस्तित्व दृष्टिगत होता है तथापि उसका शाश्वत संबंध ब्रह्म से ही है। वह प्रकृति का ही एक रूप है। नर और नारी का भेद तो ऊपरी लैंगिक भेद ही है।

"दोनों हैं प्रतिमान किसी एक ही मूल सत्ता के,
देह बुद्धि से परे, नहीं जो नर अथवा नारी है।"[2]

जब जीव के ऊपर से भ्रम का पर्दा हट जाता है तब वह ब्रह्म के दर्शन कर पाता है। यह पर्दा मूलत. माया का दूसरा नाम है।

दूसरे शब्दो मे कहे तो 'जीव' ब्रह्म का अंश है। कवि ने इस रूप का स्वीकार उर्वशी मे बडे ही सुन्दर ढग से स्वीकार किया है।

दिनकर की दार्शनिक व्याख्याओ मे निष्काम और उदात्त काम की व्याख्यायें भी कुरुक्षेत्र और उर्वशी मे प्रकट हुई हैं जिनकी चर्चा पृथक् रूप से काम, प्रेम और सौन्दर्य मे की जा चुकी है।

निष्कर्षत' दार्शनिक भावनाएं विशेष कर ईश्वर, प्रकृति, आदि की सुन्दर व्याख्यायें कवि ने उर्वशी मे ही व्यक्त की हैं।

कवि अन्ततोगत्वा आस्थावादी ही सिद्ध होता है। क्रांति के गीतों में अवश्य वह ईश्वर और प्रकृति के प्रति अनास्थावादी है।

दिनकर-काव्य में मानवतावाद

युगांकन करने वाले कवि की यह विशेषता होती है कि वह अपने युग की समस्याओं का निदान भी प्रस्तुत करे। समाज मे व्याप्त असतोष और सघर्षों का अन्त वह मानवता की प्रतिष्ठा प्रस्थापित कर, करता रहे। कवि व्यक्ति में निहित कुसस्कारों का परिमार्जन अपनी 'कांता सम्मित उपदेश युजे' की कोमल भावनाओं द्वारा करने का प्रयत्न करता है। कभी-कभी यह भी देखा जाता है कि युग में व्याप्त कल्मषता के प्रति कवि अपना रोष भी प्रकट करता है परन्तु उस रोष में कवि का द्वेष नहीं होता, अपितु उसका पुण्य-प्रकोप ही प्रकट होता है। दूसरे शब्दो मे कहें तो

१. तैतरीयोपनिषद्, वल्ली ३, अनुवाक ६।
२. उर्वशी, तृ० अ० : पृ० ५६।

कवि समाज, देश और विश्व का उत्कर्ष प्रेम और मानवता के संदर्भ मे ही करना चाहता हैं।

समस्याओं के समाधान रूप :

दिनकर के काव्यों में मानवता के दर्शन सर्वत्र विद्यमान हैं दिनकर ने अपनी कृतियों में अपने युग की समस्याओं को सबल रूप से प्रस्तुत किया है। क्रांति का कवि यद्यपि अत्याचारों के उन्मूलन-हेतु क्रांति की आराधना करता है, परंतु क्रांति उसका स्थाई समाधान नही है। समस्याओं के अन्तिम समाधान के रूप मे तो कवि स्थाई साधन के रूप में मानवता से युक्त शांति, प्रेम और करुणा को ही स्वीकार करता है। कवि का यह दृढ़ विश्वास है कि मानवता ही वह शक्ति है जो मानव-मन को परिष्कृत कर, उसे सन्मार्ग पर लाती है।

युद्ध के संदर्भ में :

युद्ध जैसे घिनौने और क्रूर तत्वो का समाधान भी दिनकर शांति मे खोजते हैं। 'सामधेनी' में संग्रहीत 'कलिंग-विजय' कवि की प्रथम कृति है जिसमे कवि युद्ध के पहलू पर सर्व-प्रथम मानवतावादी दृष्टि से विचार करता है।

युद्ध के समाधान में मानवता ही श्रेष्ठ उपकरण है, इसकी स्थापना कवि ने 'कुरुक्षेत्र' और 'रश्मिरथी' में सबल तर्कों द्वारा स्थापित की है।

श्री कांतिमोहन शर्मा ने अपनी कृति 'कुरुक्षेत्र मीमासा' के अन्तर्गत 'कुरुक्षेत्र के प्रतिपाद्य' के अन्तर्गत उसी मानवता की स्थापना पर विचार व्यक्त करते हुए माना है कि वस्तुत. कुरुक्षेत्र मे 'दिनकर' मानवीय कल्याण के चिन्तक रूप में ही अवतीर्ण हुए हैं, और यह कल्याण उन्होंने सामंजस्य मे ही पाया है। अतः उनकी दृष्टि समन्वयवादी तथा उनका प्रतिपाद्य मानवतावाद है।

'कुरुक्षेत्र' के युधिष्ठिर की आत्मग्लानि ही इस सत्य का साक्षी है कि बड़े-बड़े योद्धा भी युद्ध के संहार से ग्लानि का अनुभव कर, उसे त्याज्य और घृणित कार्य समझने लगते हैं। कवि राज्यलिप्सा और स्वार्थ से किए गए युद्ध के स्थान पर आत्मशुद्धि और त्याग की महत्ता स्थापित कर—मानवता के नए क्षितिज खोलता है।

युद्ध के समर्थक, उसे अनिवार्य तत्व मानने वाले भीष्म भी अन्ततोगत्वा समाज में व्याप्त भेद-भाव के शमन का उपाय तो साम्य की भावनाओं में करते हैं। उनका मन भी लालायित है कि कब संसार मे युद्ध के स्थान पर प्रेम और मानवता का अधिकार बढ़े। 'धर्म के प्रदीप को जलाये चलो धर्मराज' का आदेश ही इस सत्य का प्रमाण है कि भीष्म का ध्येय मानवता की स्थापना है।

दिनकर ने कुरुक्षेत्र के मानवतावादी दृष्टिकोण में रसेल और तिलक के उस मानवतावादी दृष्टिकोण को ही विशेष स्थान दिया है जो व्यक्ति की पाशविक मनो-

वृत्तियों का सुधार वृत्तियों के परिष्कार और उन्नयन में मानते हैं। यही उपाय सृजनात्मक और अभिनंदनीय होता है।

'परशुराम की प्रतीक्षा' में युद्ध का समर्थन करते समय भी कवि 'अब भी पशु मत बनो' कहकर अन्त में तो मानवता का ही समर्थन करता है।

विज्ञान-वाद के संदर्भ में :

आज के विज्ञानवादी-युग में मानवता जैसे अवरुद्ध हो गई है। व्यक्ति के हृदय में प्रवाहित प्रेम-स्रोत सूख रहे हैं। भौतिकवादी मनोवृत्ति ने व्यक्ति में स्वार्थों को जन्म दिया और जिसके फलस्वरूप संघर्षों में वृद्धि हुई। विज्ञान जिसे वरदान बनना चाहिए था—अभिशाप बनकर मानव जाति के विनाश का कारण बन रहा है। आज का मानव विज्ञान के इसी अभिशप्त-चक्र में पिस रहा है, स्नेह के लिए तड़प रहा है।

दिनकर ने विज्ञानवाद की बुद्धिवादिता एवं हृदय-हीनता के विरुद्ध स्नेह, प्रेम और मानवतावादी तत्त्वों को प्रतिदिन प्रतिष्ठित किया है।

'कुरुक्षेत्र' के षष्ठसर्ग में कवि विज्ञान की संहारक-शक्ति का विरोध करता है। कवि की मान्यता है कि जो विज्ञान तलवार की धार-सा तीक्ष्ण एवं पशुता की ओर ले जाने वाला है उसे त्यागना ही श्रेयस्कर है। विज्ञानवाद के स्थान पर कवि मानव का श्रेय उदात्तगुणों में ही मानता है—

> "श्रेय उसका आँसुओं की धार,
> श्रेय उसका भग्न वीणा की अधीर पुकार।
> दिव्य भावों के जगत में जागरण का गान,
> मानवों का श्रेय, आत्मा का किरण-अभियान।
> यजन, अर्पण, आत्म-सुख का त्याग,
> श्रेय मानव का तपस्या की दहकती आग।
> बुद्धि मन्थन से विनिर्गत श्रेय वह नवनीत,
> जो करे नर के हृदय को स्निग्ध और पुनीत।
> श्रेय वह विज्ञान का वरदान।
> हो सुलभ सबको सहज जिसका रुचिर अवदान।
> श्रेय वह नर-बुद्धि का शिवरूप आविष्कार,
> ढो सके जिससे प्रकृति सबके सुखों का भार।
> मनुज के श्रम के अपव्यय की प्रथा रुक जाये,
> सुख-समृद्धि-विधान में नर के प्रकृति झुक जाये।"[1]

---

१. कुरुक्षेत्र. ष० स० : पृ० ११७-१८।

कवि का विश्वास भारतीय मानवता में ही प्रकट होता है। भीष्म भी अंत में तो बुद्धिवाद से अधिक हृदयवाद का पक्ष ग्रहण करते हैं।

सामाजिक संदर्भ में :

मानवता का दूसरा पक्ष सामाजिक परिवेश मे प्रस्तुत हुआ। जिसमे कवि ने समाज मे व्याप्त संकीर्णता को दूर करने की हिमायत की है। रश्मिरथी से पूर्व कवि अपनी प्रारम्भिक कृति रेणुका और हुँकार मे संकेत कर चुका था कि समाज में व्याप्त धर्म, जाति, गोत्र, कुल के सघर्ष समाज को पतनोन्मुख बनाते हैं। वह हरिजनो के उत्थान के शमन के लिए बोधिसत्व को पुकार चुका था। रश्मिरथी में कर्ण के पात्र द्वारा अपनी इन भावनाओ को कवि मूर्त-रूप देता है और यह सदेश देता है कि मानवता का सच्चा विकास मानव-मात्र के प्रति समभाव रखने मे है। जिस दिन देश की उज्ज्वलता पर से यह कलंक धुल जायेगा— मानवता-पूर्ण प्रक्षालित हो जायेगी। मानव का यह सबसे बडा गुण होना चाहिए कि व्यक्ति की पूजा उसके कर्त्तव्यो पर आधृत होनी चाहिए। परम्परा से प्रचलित सकीर्णता मे उसके मूल्यों को नही आंकना चाहिए।

स्वातंत्र्योत्तर रचनाओ मे कवि ने यद्यपि देश में व्याप्त भ्रष्टाचार के प्रति आक्रोश व्यक्त किया है तथापि उसकी यह आस्था अडिग है कि एक दिन अवश्य आयेगा जब मानवता का अवतार होगा, विश्व मे व्याप्त कुरूपताओं का अंत संहार से नही संस्कार से होगा।

निष्कर्षत: दिनकर द्वारा प्रतिष्ठित मानवता मे सर्वतोन्मुखी भावनाओं का विकास सन्निहित है। यही मानवतावाद कवि के विचारों की आधारशिला है।

दिनकर-काव्य में गांधी विचारधारा :

गाधी जी युगपुरुष थे। उनकी विचार-धारा भारत के लिए ही नही विश्व के लिए मानवता का संदेश देने वाली थी। गांधी का प्रभाव राजनीतिक, सामाजिक, आर्थिक, धार्मिक प्राय: सभी क्षेत्रो मे व्याप्त रहा है।

राजनीति के क्षेत्र मे उन्होने अहिंसा का सिद्धात स्वीकार किया। उसे ही स्वातंत्र्य-सग्राम का शस्त्र बनाया। क्राति के स्थान पर शांतिमय साधनो का ही उपयोग किया।

सामाजिक-क्षेत्र मे व्याप्त जाति-पाँति के भेद को उन्मूलन करने के लिए युगों से दलित अछूतो को अपनाया जिससे राजनीतिक युद्ध के लिए वे देश के विशाल— त्यक्त-वर्ग का सहयोग पा सके।

'नारी' को वे घर की चार-दीवारी मे से कर्मभूमि पर ला सके। उसे पुरुष के समान स्थान प्रदान किया। उसमें स्वाभिमान जागृत किया।

आर्थिक-क्षेत्र में देश को समृद्ध बनाने के लिए, विषमता पाटने के लिए उन्होंने गृह-उद्योगों को पुन. जीवित किया। मजदूरों और किसानों के संगठन स्थापित कर, उनके अधिकारों की रक्षा की।

धार्मिक दृष्टि से हिन्दुओं में व्याप्त संकुचितता को दूर करने के लिए उन्होंने धर्म को सर्व-भोग्य बताया। हरिजनों को मंदिर प्रवेश की सुविधा दिलाई। हिन्दू-मुसलमानों में से धार्मिक-द्वेष उन्मूलन करने के लिए अनेक प्रयत्न किए।

गांधी की दृष्टि भारत तक ही नहीं विश्व के व्यक्ति जनों तक विस्तृत थी। वे विश्व का 'वसुधैव-कुटुम्बकम्' की दृष्टि से ही देखने के पक्षपाती थे।

संक्षिप्त में कहा जा सकता है कि गांधी-नीति मानवतावाद के समन्वयात्मक सिद्धान्त पर आधारित थी, जिसमे भारत के प्राचीन संस्कार ही थे। भारत का मस्तक विश्व में जवाहर लाल जैसे नेता इसी नीति से ऊँचा कर सके।

गांधी-नीति का प्रारम्भ में विरोध :

गांधी जी के इन्हीं सिद्धान्तों की कसौटी पर दिनकर के काव्य को कसने पर विदित होता है कि कवि राजनीतिक सिद्धान्तों में गांधी के निकट नहीं है। कुरुक्षेत्र से पूर्व की राष्ट्रीय रचनाओं में वह गांधी से अधिक क्रान्तिकारियों का पक्षपाती रहा। उसे गांधी-नीति में प्रजा-धर्म और क्लीव-शक्ति के ही रूप दिखाई दिये। कवि स्पष्ट-रूप से मानता है कि अहिंसा, सत्य जैसे आदर्श गुणों से स्वतन्त्रता प्राप्त नहीं होती। राजनीतिक, आर्थिक किसी भी क्षेत्र में गांधी-नीति वरेण्य नहीं हो सकती। कवि को विषमताओं के उन्मूलन का एक-मात्र उपाय क्रान्ति में ही निहित दिखाई देता है।

कवि उग्रतावादी नेता तिलक, भगतसिंह, सुभाष की नीति से विशेष प्रभावित था। दिनकर को गांधी की अज्ञानीति कभी स्वीकार नहीं हो सकी। उसकी दृढ़ मान्यता थी कि स्वतन्त्रता कभी भीख मांगने से नहीं मिलती।

गांधी की शांति और समाजवादी नीति का समर्थन :

दिनकर का गांधीवाद के प्रति प्रायः द्वन्द्व ही रहा। कलिंग-विजय के अशोक और युधिष्ठिर की ग्लानि में वह शांति का समर्थन अवश्य करता है। भीष्म के विचार परिवर्तन द्वारा कवि गांधी जी के समाजवादी दृष्टिकोण के निकट प्रतीत होता है।

परिवर्तित दृष्टिकोण

कवि जैसे गांधी जी की सफलता देखकर उनके प्रति आस्था व्यक्त करने लगा है। कुरुक्षेत्र में गांधी की शांति उसे स्वीकार हो सकी है। यद्यपि कुरुक्षेत्र गांधीवादी रचना नहीं है, तथापि उसमें गांधीजी के उन विचारों को अवश्य स्थान मिलता है जिनमें समस्त समन्वयवाद से युक्त मानवतावादी दृष्टि सम्मिलित है।

सामाजिक उन्नति मे वह गाँधी जी का समर्थन करता है। समाज में व्याप्त कुरीतियों और संकीर्णताओं के उन्मूलन मे वह उनके साथ है। 'रेणुका' मे संग्रहीत 'बोधिसत्व' मे वह इन विषमताओं मे रौंधी हुई मानवता के उद्धार के लिए बोधिसत्व के अवतार की कामना करता है। रश्मिरथी तो जैसे गाँधी जी की सामाजिक भावनाओं के अनुरूप ही लिखा गया है। युग-युग से उपेक्षित कर्ण के माध्यम से वह गांधी-नीति का समर्थन करता है।

गाँधी जी के 'हिन्दू-मुस्लिम' ऐक्य का समर्थन उसकी रचनाओ मे मिलता है। 'तकदीर का बंटवारा' जैसी प्रारम्भिक रचनाओ में कवि दोनो कामों के संघर्ष को देखकर अनुभव करता है कि भारत की दोनो आँखें जल रही हैं। वह इस वैमनस्य को दूर करने में गाँधी जी का समर्थक बन गया है।

परिवर्तित दृष्टि :—'गाँधी' की महानता से कवि प्रभावित है। उसके गुणों और शक्तियो से परिचित होने के पश्चात् उसे लगता है कि गाँधी विराट-शक्ति है जिसकी पूजा उसके लिए वामन की पूजा है। जिसके तेज के सामने उसके अँगार भी लजा जाते हैं। कवि ने गाँधी को जिस रूप में स्वीकार किया वह काँग्रेसियों के गाँधी से भिन्न है। उसका गाँधी तो उसका है जो सत्य और अहिंसा का महान् प्रतीक है। उसकी पूजा वह अँगार हारों से करता है। गाँधी जी की मृत्यु पर कवि के उद्‌गार बड़े ही प्रभावोत्पादक है। उसे लगता है कि पशुता मानवता को चर गई है। दिनकर का गाँधी वह मानव-स्तम्भ है जो भारत और विश्व को युग-युग तक मार्ग प्रदर्शित करता रहेगा।

निष्कर्षत: यह कहा जा सकता है कि कवि की गाँधी-नीति जड़ नही है। वह सत्य अहिंसा को स्वीकार करते हुए अन्याय के सामने प्रतिकार को त्याज्य नहीं मानता। 'परशुराम की प्रतीक्षा' काव्य में वह इसी प्रतिकार-भावनाओं का समर्थन करता है। उसे लगता है कि गाँधी नीति शांति में वरदान है—युद्ध-काल में नहीं। गाँधी का नाम लेकर ऐशो आराम करने वाले नेताओ से उसे कभी स्नेह नही। उसके लिए तो वे पापी हैं। गाँधी-नीति की आड़ में देश मे जो भ्रष्टाचार और अनीति बढ़ रही है उसके प्रति कवि ने अपना दबा रोष प्रकट किया है।

दिनकर काव्य द्वारा यद्यपि वे गाँधीवादी तो नही लगते, परंतु गाँधीवाद के आदर्श रूपों की अवहेलना भी नही करते। कवि उस विश्वास की ओर आँखें लगाये है—जब विश्व गाँधी के विश्व-शाति के सिद्धांत को अपनायेगा।

दिनकर-काव्य में साम्यवादी एवं समाजवादी विचारधारा

साम्यवाद :

साम्यवाद का जन्म आर्थिक वैषम्य के कारण हुआ। वर्ग-संघर्ष के कारण उद्‌भूत विषमता को दूर करने के लिए कार्लमार्क्स ने समानता के सिद्धांत का प्रति-

पादन किया। उसके विचारानुसार संसार में उत्पन्न वस्तुओं के उपयोग का आधार प्रत्येक मनुष्य को समान रूप से मिलना चाहिए। कार्लमार्क्स ने इस समानता के लिए क्रांति को प्रमुख रूप से स्वीकार किया। उसने इस मनोवैज्ञानिक तथ्य को स्वीकार किया कि निम्नवर्गीय शोषित जनता के मन में उच्चवर्गीय सामन्तवर्ग एवं पूंजीवादियों के प्रति प्रच्छन्न द्वेष सदैव वर्तमान रहता है। इसी भावना को उसने उकसा कर मजदूरों में यह चेतना प्रकट कर दी कि उन्हें कुण्ठित नहीं रहना चाहिए बल्कि जैसे भी बने अपने अधिकारों को प्राप्त करना चाहिए।

हिन्दी साहित्य में साम्यवाद का राजनीतिक स्वरूप प्रगतिवाद के नाम से अवतरित हुआ। इस साहित्यिक अभियान का मुख्य श्रेय रूस के समाजवादी साहित्यकारों को है। इस धारा के साहित्यिकों ने भी वर्षों से प्रचलित वर्ग-वैषम्य का समाधान साम्यवाद के द्वारा ही सम्भव माना है। क्रांति-चेता कलाकारों ने सर्वहारा वर्ग का साथ देना अपना धर्म समझा।

समाजवाद :—समाजवाद का सिद्धान्त भी इसी से मिलता-जुलता सिद्धान्त है। समाजवाद के मूल में व्यक्ति की उस आदिम इच्छा का महत्त्व है जिसमें वह समूह में रहना पसंद करता था। पारस्परिक सहकार इसकी नींव है। प्रागैतिहासिक काल का मानव समानता के सिद्धान्त का पक्षपाती था। ज्यों-ज्यों उसकी वृत्तियाँ और लोभ और स्वार्थों के वशीभूत होती गईं—त्यों-त्यों इस सहकार-भावनाओं में विकृति उत्पन्न होती गई। समाज के इस ढाँचे के टूटने से नानाशाही एवं सामन्तवादी समाज का अस्तित्व बढ़ने लगा। शोषक और शोषित दो वर्ग बनने लगे। इस वैषम्य को दूर करने के लिए जो मार्ग प्रशस्त किया गया वह समाजवाद के नाम से प्रकट हुआ। समाजवाद में भी साम्यवाद की भांति वैषम्य के उन्मूलन की भावनाएँ रहती हैं परन्तु उसमें ध्वंसात्मक क्रांति के स्थान पर कर्म की सक्रियता और दृढ़ता का आधार माना गया है। समाजवाद का सिद्धान्त भारतीय समन्वयवाद के अधिक निकट है।

प्रारम्भिक साम्यवाद दृष्टि .

दिनकर प्रारम्भिक रचनाओं में लाल क्रांति का स्वर अपनाता है। वह वर्ग वैषम्य को दूर करने के लिए क्रांति की ध्वंसात्मक प्रवृत्ति को स्वीकार करता है। साम्यवाद में नास्तिकता का विशेष स्थान है। 'हुंकार' की 'हाहाकार' कविता इसकी प्रतीक है—जहाँ कवि दूध के लिए क्रांति और ध्वंस को ही स्वीकार करता है। धनिकों के प्रति उसके मन में जो तीव्र घृणा है वह सर्वत्र व्यक्त होती है। कवि साम्यवाद का स्वागत अवश्य करता है, परन्तु उसके भारतीय संस्कार और तज्जन्य समन्वयवादी दृष्टिकोण तो उसके साथ ही हैं। लेनिन के साथ वह भूषण को नहीं भूलता—

"उठ भूषण की भाव-रंगिणी
लेनिन के दिल की चिनगारी।

युग-मर्दित यौवन की ज्वाला
जाग-जाग री क्रांतिकुमारी ।"[1]

रेणुका और हुंकार की क्रांति-पूर्ण कविताओं में वह ध्वंसात्मक लाल क्रांति का समर्थन करता है।

'दिल्ली और मास्को' कविता में वह लाल भवानी का स्वागत अवश्य करता है परन्तु वह उन 'लालबिरादरों' को धिक्कारता भी है जो मास्को के समर्थन में भारत की राजधानी 'दिल्ली' को भूल जाते हैं।

साम्यवाद का भारतीय रूप में स्वीकार :

संक्षिप्त में यह कहा जा सकता है कि दिनकर का साम्यवादी दृष्टिकोण मास्को का अंधानुकरण नहीं है। कवि ने साम्यवाद में भारतीय समन्वयवादी दृष्टि को मिलाकर उसे समन्वयवादी ही अधिक माना है। हम ऐसे समन्वय को दिनकर के "समाजवादी समन्वयवाद' के नाम से ही पुकारेंगे।

समन्वय की सर्वाधिक समुन्नत भावनाओं का विस्तार कुरुक्षेत्र में हुआ है। कुरुक्षेत्र के इसी समाजवादी दृष्टिकोण को ध्यान में रखते हुए इसे प्रगतिवादी कृति भी कहा जा सकता है।

कुरुक्षेत्र के भीष्म शोषक एवं शोषित का प्रश्न उठाते हैं और शोषण से सन्त्रस्त, दमित एवं प्रबुद्ध दलितों के खड्ग की वे प्रसंशा करते है।[2] उनकी यह दृढ मान्यता है कि आर्थिक साम्य लाए बिना स्थायी शांति की स्थापना नहीं हो सकती।[3] सप्तम सर्ग में भीष्म बड़े ही तर्कपूर्ण ढंग से शांति और साम्य की चर्चा करते हैं। श्रम के सामने भाग्यवाद पर उनके व्यंग बड़े ही तीक्ष्ण हैं। वे मानते हैं कि मनुष्य के श्रम बल से और मनुबल के सामने पृथ्वी भी नत मस्तक हो जाती है। भीष्म व्यक्तिगत सम्पत्ति को एक प्रकार की चोरी ही मानते हैं। समग्र मानव समाज को सुख प्राप्त हो इस दृढ-मान्यता को प्रकट करते हैं।[4] वे राज्य व्यवस्था को स्वीकार कर लेने की शिक्षा युधिष्ठिर को देते अवश्य हैं परन्तु उन्हें कर्मयोगी बनकर ही उसके स्वीकार की आज्ञा देते हैं। कुरुक्षेत्र के भीष्म समाजवादी सिद्धांतों के स्थापक बन गए हैं।

कवि संपूर्ण मानव समाज के विकास की अभिलाषा व्यक्त करता है जिसमें समन्वय की भावना हो, जिसमें विश्व को परिवार के रूप में देखने की भावना हो। डॉ० नगेन्द्र का विधान दृष्टव्य है—"हम यह नहीं कहते कि दिनकर पर समाजवाद का प्रभाव नहीं है अवश्य ही दिनकर के मन में समाजवाद के प्रति एक गहन गंभीर

---

१. रेणुका (कस्मैदेवाय) : पृ० ३३।
२. कुरुक्षेत्र, तृ० स० : पृ० ४०।
३. वही, वही : पृ० ३१।
४. वही, स० स० : पृ० १२६।

आस्था है, और यह किसी भी उदारमना विचारक अथवा कवि में होनी स्वाभाविक है, किन्तु दिनकर उसके व्यापक एवं उदार रूप को ही स्वीकार कर सके हैं।"[1]

नीलकुसुम में कवि के समाजवादी स्वर मुखरित हैं जहाँ कवि इन कोठियों को चेतावनी देता है जिनकी नींव में गरीबों की हड्डियाँ दब रही हैं। वह राष्ट्रदेवता का विसर्जन कर देता है क्योंकि उसकी दृष्टि भारत से ऊपर उठकर विश्व तक व्यापक बनती जा रही है। उसका समन्वयवादी दृष्टिकोण विश्व तक विशाल बनता जा रहा है।

समाजवाद को रोकने वाले शोषकों, भ्रष्टाचारियों के प्रति उसका रोष नीम के पत्ते, 'कोयला और कवित्व' कृतियों में भी मुखरित है।

निष्कर्षतः यह कहा जा सकता है कि साम्यवाद की क्रांति और भारतीय प्राचीन सहकार की भावनाओं के सिद्धांतों को अपना कर कवि ने जिस समाजवाद की कल्पना की वह बड़ा ही भव्य और कल्याणकारी है। जिसमें जन-जन के सुख की कामना है। जिसमें व्यक्ति अपने श्रम के उत्पादन का स्वयं भोक्ता बने। सहकार की दृढ़ भावनाओं के सामने भ्रष्टाचार और पूँजीवादी व्यवस्था टूट जाये।

कवि भारतीय समाजवाद की स्थापना में विनोबा के सर्वोदयवाद का समर्थक है। दिनकर के समाजवाद की विशिष्टता यही है कि एक ओर उसमें आदर्शों की स्थापना, त्याग, तप, संयम, प्रेम और सहकार के माध्यम से करना चाहता है, दूसरी ओर उसकी रक्षा के लिए शक्ति और शौर्य का समर्थन करता है।

दिनकर-काव्य में वर्ग संघर्ष

आधुनिक युग-चेतना के बीज औद्योगिक क्रांति के मूल में सन्निहित हैं। औद्योगीकरण की प्रक्रिया से एक ओर नए पूँजीवादी वर्ग का जन्म हुआ दूसरी ओर मजदूर वर्ग का।

औद्योगिक क्रांति के उपरान्त विश्व की विविध राजनीतिक क्रांतियों द्वारा विश्व के पराधीन देशों में ये भावनाएँ पनपने लगी थीं कि मानव मात्र समान है। भेदभाव की दीवारें कृत्रिम एवं स्वार्थ-निर्मित हैं। मानव उस स्वप्न की ओर टकटकी बाँधे था जब समाज की स्थापना, अमीर-गरीब, ऊँच-नीच, गोरे व काले, पुरुष-नारी के भेदभाव से रहित एकता की उच्च भूमि पर हो।

विश्व विज्ञान के नवीन आविष्कारों द्वारा नवीन शक्तियों से परिचित हो रहा था। यह सत्य है कि उद्योगों ने पूँजीवाद पर घोर वज्रपात किया परन्तु वह स्वयं नग्न आर्थिक स्वार्थ वृत्ति को जन्म देने लगा। मानवता के स्थान पर 'अर्थ' की प्रधानता बढ़ने लगी। पूँजीपति वर्ग शोषण द्वारा अपनी तिजोरियों को भरने लगे। मजदूरों

---

१. विचार और अनुभूति, डॉ० नगेन्द्र पृ० ८२।

का शोषण होने लगा। कार्ल मार्क्स ने इस शोषण पद्धति को पूंजीपतियों की नग्न निर्लज्ज एवं निर्मम वृत्ति के रूप में प्रस्तुत कर पूंजीवाद के क्रूर पंजों मे छटपटाते मजदूरों मे वह चेतना भर दी जिससे वे अपनी मुक्ति के लिए प्रयत्नशील हो गए।

दिनकर के काव्यों में समाज मे व्याप्त आर्थिक, सामाजिक आदि विषमताओं का चित्रण अनेक रूपों मे हुआ है। दिनकर ने वर्ग संघर्ष के अन्तर्गत प्राय. निम्न-लिखित तत्वों को कारणभूत माना है।

१. पूंजीपतियो के अत्याचार एवं शोषण।
२. वैषम्य की भावनाएँ।
३. भौतिक सुख की लिप्सा।

पूंजीपतियों के अत्याचार एवं शोषण :

कवि दिनकर ने साहित्य मे पदार्पण किया—उस समय भारत संघर्षों का केन्द्र ही बना हुआ था। इस दृष्टि से अंग्रेजों ने शोषण-नीति का आश्रय लेकर इस देश मे पूंजीवादी अर्थ-व्यवस्था का जाल फैला दिया था। वे देश को नए उद्योगों, आविष्कारो की आड़ मे लूट रहे थे, देश के राजा, जागीरदार जैसे सामन्तवर्गीय एवं उद्योगपति देश की जनता को लूटकर अपनी तिजोरिया भर रहे थे। देश के मजदूर और किसानो की स्थिति अत्यन्त दयनीय बन रही थी। दूसरे शब्दों मे कहे तो देश सामंतो और पूंजीवादी राक्षसो के पंजो में तड़प रहा था। पूरा भारत उच्च और निम्न वर्ग की श्रेणियो मे विभक्त हो गया था।

जिस प्रकार देश का यह निम्न वर्ग जो निरतर रौंदा जा रहा था—उसमें भी नई जागृति की लहर रूस की क्रांति और कार्ल मार्क्स के स्वरो मे उत्पन्न होने लगी। पूरा देश एक ओर राजनीतिक परतंत्रता की कुत्सित शृंखला के उन्मूलन के लिए जागृत हो गया, दूसरी ओर पूंजीवादी व्यवस्था के राक्षस को दफनाने के लिए वह कटिबद्ध बनने लगा।

अत्याचार :

कवि पूंजीवादी अत्याचारो का भुक्त-भोगी था। उसने मजदूरों की दरिद्रा-वस्था और किसानों की चिंताजनक स्थिति को अपनी आँखों से निहारा था। उसने जो कुछ देखा था उसका चित्र अपने काव्यो मे उतारा और यौवन के नाते, उसका समाधान क्रांति मे ढूंढने लगा। उसने अपनी कविताओं मे इन कृत्रिम पतित-जनो की वकालत की और उन्हे क्रांति का मत्र दिया।

'रेणुका' की 'ताडव' कविता द्वारा कवि असमान समाज-व्यवस्था के ध्वस के लिए शकर से प्रलय की आराधना करता है—

"प्रभु ! तव पावन नील-गगन-तल, विदलित अमित निरीह-निश्वल-दल,
मिटे राष्ट्र, उजडे दरिद्र-जन, आह ! सभ्यता आज कर रही असहायो का शोणित शोषण।

× × × ×

गिरे विभव का दर्प चूर्ण हो, लगे आग इस आडम्बर में
वैभव के उच्चाभिमान में, अहंकार के उच्च शिखर में।''[1]

उसकी कविता की तो जैसे यह पुकार बन गई है कि वह वेदम के आंसू बनकर बरस जाये। 'कविता की पुकार' में कवि ने किसान की आर्थिक विवशता का बड़ा ही करुण चित्र उपस्थित किया है।[2]

कवि लाखों सीनों को कराहता हुआ देखकर वह क्रांति कुमारी को कभी भूषण और कभी लेनिन के स्वरों में पुकारता है।

'हुंकार' में ऐसी अनेक कवितायें हैं जो समाज में व्याप्त असमानता और संघर्ष के प्रति कवि के आक्रोश व्यक्त करती हैं। गरीब के खून से अमीरों के सिंह-द्वार की मशालें जलती हैं—इसपर उसका हृदय हुंकार उठता है।[3] एक ओर अमीरों के कुत्ते दूध से नहलाए जाते हैं—दूसरी ओर गरीबों के बच्चे दूध के लिए तड़प रहे हैं—यह स्थिति उसके खून में क्रांति का ज्वार उत्पन्न कर देती है। इस ज्वार की तीव्रता में वह उस विधाता का भी तिरस्कार करता है जिसने ऐसी रचना की, और स्वर्ग लूटने के लिए व्यग्र बन जाता है।[4]

'दिल्ली' काव्य में कवि दिल्ली के प्रति अपना रोष इसीलिए व्यक्त करता है कि देश के उस वैषम्यपूर्ण वातावरण में भी उसका शृंगार यथावत् है।

कवि इस शोषण और अत्याचार का समाधान क्रांति में ही मानता है।

'कुरुक्षेत्र' के अन्तर्गत भी कवि युद्ध के उत्तरदायी उपकरणों में इस विषमता को ही प्रमुख उपकरण मानता है।

वैषम्य —समाज में व्याप्त वैषम्य का मूल कारण है—उत्पादित उपकरणों का असमान वितरण। कवि को महसूस होता है कि इस पक्षपातपूर्ण नीति का परिणाम श्रेयस्कर नहीं है। एक दिन ऐसा अवश्य आयेगा जब महलों की नींव में सिसकती गरीब की हड्डियाँ चेतना से जाग उठेंगी और भवन की नींवें स्वतः कंपित हो उठेंगी।[5]

देश में नई चेतना जिस प्रबलता से उभर रही है, उसकी उद्घोषणा से धनिकों के कान बहरे हो जायेंगे।

---

१. 'रेणुका' (तांडव) : पृ० २-३।
२. वही, (कविता की पुकार) : पृ० १६।
३. हुंकार, (हाहाकार) : पृ० २१।
४. वही, (वही) : पृ० २२-२३।
५. नील कुसुम (नींव का हलाकार) : पृ० ८०।

वर्ग वैषम्य का दूसरा रूप वे अभिजात भावनाएँ हैं जिनमें जाति-पाँति, कुल, गोत्र तथा रंग द्वेष के भाव होते हैं। उच्च कुल में जन्मे लोग अपने आपको श्रेष्ठ मानकर निम्न वर्गीय लोगों के प्रति घृणा और तिरस्कार के भाव रखते हैं। इस घृणा के कारण निम्न-वर्ग में जन्मे व्यक्ति का तेज कुंठित होने लगता है और इस कुंठा के कारण उच्च और नीच जैसी विषम विसंगतियाँ प्रस्फुटित होती हैं, जो समाज को जला डालती है। इतिहास इस तथ्य का साक्षी है कि नाजियों ने इसी जाति के अहम् के कारण कितना बड़ा संहार किया। इसी भावना के कारण अस्पृश्य कहलाने वाली जातियों का कितना संहार हुआ और आज इसी प्रकार के जाति-द्वेष तथा गोरे-काले के वैषम्य भावों के कारण विश्व कितनी संघर्ष-पूर्ण स्थिति से गुजर रहा है। अपने आपको सभ्य कहलाने वाले पश्चिमी देशों में उन व्यक्तियों को मात्र इसीलिए मौत के घाट उतार दिया जाता है कि वे काले हैं और जाति के अहं के कारण यहूदियों की हत्या की जाती है। कवि ने इस विषमतापूर्ण परिस्थिति का चित्र हुंकार की 'हाहाकार' और 'मेघरन्ध्र में बजी रागिनी' रचनाओं में प्रस्तुत करते हुए इस अन्याय के प्रति रोष प्रकट किया है।

जाति धर्म की विषमता :

वर्ग संघर्ष का एक कारण जाति, ऊँच-नीच का भेद-भाव भी था। गांधी जी ने सर्व प्रथम यह उद्घोष प्रस्तुत किया कि मानव-मात्र समान है। उसका मूल्यांकन उसके जाति और कुल के संदर्भ में नहीं करना चाहिए। व्यक्ति की पूजा उसके गुणों के कारण होनी चाहिए। उन्होंने देश के लोगों को ब्राह्मण और शूद्र, हिन्दू या मुसलमान के संदर्भ में कभी नहीं देखा। उनकी दृष्टि में तो भारत का प्रत्येक व्यक्ति भारतीय था। बापू के इस नए स्वर ने देश की उपेक्षित अस्पृश्य प्रजा में नए प्राण फूंक दिए—उन्हें अपनी शक्ति-प्रदर्शन का सुन्दर अवसर प्राप्त हो गया।

दिनकर ने इन्हीं भावनाओं का प्रस्तुतीकरण 'कर्ण' के पात्र द्वारा किया। कर्ण जाति-पाँति की संकीर्णता से परे भुजदंडों को ही पुरुष का गुण मानता है एवं जाति और कुल का अभिमान करने वालों पर कटु व्यंग भी करता है।

भौतिक सुख की लिप्सा :

विज्ञान के आविष्कारों द्वारा नए यंत्र-युग का प्रारम्भ हुआ। भौतिक सुख के द्वार खुलने लगे। नए-नए उद्योगों की स्थापना होने लगी। परिणामतः विशाल नगरों का अस्तित्व बढ़ने लगा। भौतिक सुखों की उपलब्धि के हेतु गाँव के लोग नगरों की ओर उन्मुख हुए। जिस प्रकार पूँजीवाद ने गरीबी, शोषण को जन्म दिया उसी प्रकार नगरों की चहक-महक ने गाँव को नष्ट कर दिया। नागरिक संस्कृति जिसके मूल में पूँजीवादी, भोगवादी एवं स्वार्थ-लोलुपता थी—उसने व्यक्तियों के ग्रामीण शुद्ध प्राकृतिक संस्कारों में क्रमशः विकृतियाँ उत्पन्न करदी। नगर के वाता-

वरण मे पला व्यक्ति अपने ही ग्राम्य-बन्धुओं को हीन और जाहिल समझने लगा। उसे गांव की संस्कृति मे असभ्यता और असंस्कारो की बू आने लगी। नगर की कुटिलता गांव की सरलता को नष्ट करने लगी। उसका बाह्य आकर्षण किसानों को मजदूर बनने के लिए आकर्षित करने लगा। इस प्रकार ग्रामीण और शहरी समाज के बीच विषमता बढ़ने लगी। गांव के गृह-उद्योगों को घुन लग गया।

आधुनिक युग मे, गांधी जी ने इस कमजोरी को जानकर, ग्राम्य-उद्धार के प्रयत्न किए। नए परदेशी विचारो से आक्रांत, मौज-शौक मे भूले युवक-युवतियो को बापू ने गाव की ओर अभिमुख किया। स्वदेशी के आन्दोलन द्वारा उन्होंने गांव की उन्नति, उसके गृह-उद्योगों को जीवन-दान प्रदान किया।

हुंकार मे संग्रहीत 'वन-फूलों की ओर' कविता म भी कवि ने ग्राम्य-जीवन को महत्त्व दिया है—

> "सूखी रोटी खायेगा जब कृषक खेत मे धर कर हल,
> तब दूंगी मैं तृप्ति उसे बनकर, लोटे का गगा जल।
> उसके तन का दिव्य स्वेद-कण बनकर गिरती जाऊंगी,
> और खेत म उन्हीं कणों से मैं मोती उपजाऊंगी।
>
> × × ×
>
> अर्ध-नग्न दम्पत्ति के गृह म मैं झोका बन जाऊंगी,
> लज्जित हो न अतिथि-सम्मुख वे, दीपक तुरन्त बुझाऊंगी।"

दिनकर ने इस प्रकार ग्राम-दशा के करुण चित्र प्रस्तुत किए है और गांव की दुर्दशा का वर्णन किया है। कवि की भावना है कि गांव समृद्ध हो। स्वतत्रता के पश्चात्, जबकि यह संघर्ष बढ़ता ही जा रहा है—उसकी वेदना भी जैसे बढ़ती जाती है। कवि मानता है कि जब तक गांवों के तन पर लाली नहीं होगी, भारत के रेशमी नगर की कोई प्रतिष्ठा स्थापित नहीं हो सकेगी।

स्वतत्रता के पश्चात् देशवासियो ने यह कल्पना की थी कि वे नए सूर्य की रश्मि-आलोक मे अपने उज्ज्वल भविष्य के दर्शन कर सकेंगे। परन्तु उनकी यह धारणा स्वप्न बनकर रह गई। देश मे अमीरी और गरीबी के बीच का अन्तर गहरी खाई मे परिवर्तित होता गया। धनिकों के महल चमकने लगे और गरीबों की कुटिया के टिमटिमाते दीपक बुझने की बेबसी मे तड़पने लगे।

दिनकर ने देश मे व्याप्त इस आर्थिक विषमता को देखकर अपना रोष व्यक्त करते हुए देश के शोषक-वर्ग को चेतावनी दी। उसने स्पष्ट रूप से सूचित कर दिया कि अगर यही परिस्थिति रही तो भूख क्रांति का रूप धारण कर लेगी।

दिनकर ने 'नीम के पत्ते', 'सति तिलक' आदि संग्रहों मे अपने रोष के माध्यम से देश मे व्याप्त विषमता को ही अंकित किया है।

निष्कर्षतः दिनकर की कृतियों में वर्ग-विषमता का चित्र क्रान्ति और सामाजिक उन्नयन के संदर्भ में ही प्रस्तुत है। कवि की विशिष्टता यह है कि वह वर्ग-वैषम्य को मात्र अंकित नहीं करता, वरन् उसके प्रति अपना रोष और निर्मूलन के मार्ग भी सूचित करता है। कवि जैसे इस कामना को अभिव्यक्त करता है कि एक दिन अवश्य आयेगा, जब समाज से कुरूपता दूर होगी और समाज के बीच वैषम्य की खाइयां पट जावेंगी। संघर्ष दूर होंगे। परन्तु कवि की यह कल्पना आज के युग में पूर्ण हो सकेगी यह तो प्रश्न ही है।

दिनकर काव्य में भारतीय सभ्यता और संस्कृति :

प्रत्येक कवि अपनी कृतियों में युगांकन के साथ-साथ अपने देश की संस्कृति और सभ्यता को मूर्त-स्वरूप प्रदान करता है। कवि की रचनाओं के माध्यम से हम देश के इतिहास, संस्कृति एवं परम्पराओं से परिचित होते हैं। कवि देश की संस्कृति और उज्ज्वल अतीत के माध्यम से वर्तमान में व्याप्त कुरीतियों से बाहर निकलने का प्रयत्न करता है तथा सन्तोष प्राप्त करता है।

दिनकर के काव्यों में भारतीय सभ्यता और संस्कृति सर्वत्र अंकित है। कवि अन्य राष्ट्रीय कवियों की भाँति, सांस्कृतिक आन्दोलनों के प्रवर्त्तकों की भाँति देश के गरिमामय अतीत और उसके संस्कारों का वर्णन कर भारतवासियों में सदैव चेतना जागृत करता रहा। यही कारण है कि क्रांति के उद्दाम वेग को वाणी देते समय भी कवि की दृष्टि तो भारत के विस्तृत संस्कारों पर ही रही। वह देश के समक्ष कभी बौद्धकालीन संस्कृति को प्रस्तुत करता है, कभी लिच्छवी वंश की शान को अंकित करता है। कवि अतीत के महापुरुषों, स्थानों का स्मरण करते समय भारत की उज्ज्वल परम्परा को ही व्यक्त करता है।

दिनकर की कृतियों में कवि जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में व्याप्त अनुचिता का समाधान भारतीय आदर्शों के अनुरूप ही करना चाहता है। चक्रवाल की भूमिका में कवि ने स्वीकार किया है—"……मेरी कविताओं के भीतर जो अनुभूतियाँ उतरीं, वे विशाल भारतीय जनता की अनुभूतियाँ थी, वे उस काल की अनुभूतियाँ थी जिसके अंक में बैठकर मैं रचना कर रहा था, वे भारत के पांच सहस्र वर्ष प्राचीन उस गौरवपूर्ण इतिहास की अनुभूतियां थी जो सौभाग्यवश, हमारे ही काल में आकर फिर से जीना चाह रहा था।"[1]

युद्ध का समाधान शान्ति :

शांति की भावना भारतीय संस्कृति की सर्वाधिक श्रेष्ठ भावना है। यही वह अंग है जिसने प्राचीन काल में एवं आज के विज्ञानवादी युग में भी भारत की प्रतिष्ठा को अक्षुण्ण बनाए रखा।

---

१. चक्रवाल, (भूमिका) : पृ० ३४।

दिनकर ने प्रारभ में भले ही विषमताओं के विनाश के लिए क्रांति की आराधना की हो परन्तु उसका युद्ध विषयक दृष्टि-कोण परिवर्तित होता है। कवि युद्ध का समाधान अत मे तो शान्ति में ही ढूंढता है। कवि सर्वत्र जनतांत्रिक राज्य-व्यवस्था पर ही अपनी श्रद्धा अभिव्यक्त करता है। दिनकर के प्रबंधों में सर्वत्र इसी शान्तिमय जनतत्र का समर्थन मिलता है। उसे रूस का साम्यवाद या अमेरिका का साम्राज्य-वाद, भारतीय जनतन्त्र के समक्ष फीके लगते हैं।

जातिभेद का निषेध :

वेद कालीन एवं बौद्ध कालीन भारतीय सभ्यता इस तथ्य का प्रमाण है कि इस देश में जातिभेद को कभी महत्त्व नहीं दिया गया। जातिभेद की दुर्वृत्ति के अभाव में देश मे प्रेम और सहकार की भावनाएँ सर्वोपरि थी। परन्तु कालांतर मे कुछ स्वार्थियो की सकुचित मनोवृत्ति ने ऊँच-नीच के कृत्रिम मान स्थापित कर समाज की एकता पर आघात किए। व्यक्ति की पूजा गुणो की अपेक्षा जाति से होने लगी। वर्तमान युग मे यह बधन और भी दृढ हो चुके थे। देश को स्वतन्त्र देखने के इच्छुक महापुरुषो ने अपनी वाणी से और कृत्यों से इन भेदो को दूर करने का भरसक प्रयत्न किया। गांधी जी जैसो को महत्‌ अशो तक सफलता भी मिली।

दिनकर ने इसी सास्कृतिक पक्ष का अकन 'रश्मिरथी' मे किया है। कर्ण के उदात्त गुणो को प्रस्तुत करते हुए कवि उसके गुणो द्वारा ही उसे पूज्य बतला कर यह सिद्ध करता है कि समाज के इस भेद का निर्मूलन ही हमे उन्नत बना सकेगा। कवि जाति-भेद के साथ-साथ रग भेद तथा अन्य भेदो के निर्मूलन की भी हिमायत करता है।

त्याग भावना :

भारतीय सस्कृति का मुख्य अग उसकी त्याग भावनायें है। जिसमे भोग से अधिक त्याग की महत्ता है। कवि ने प्राय शान्ति के सदेश में त्याग को ही लक्ष्य बनाया है। क्योकि बिना त्याग-भावना के शान्ति का आना असभव ही है। हमारी सस्कृति तो इस तथ्य की प्रतीक है कि हमारे बडे-बडे राजा-महाराजा विपुल सम्पत्ति को तृणवत् त्याग कर सन्यासी बन गए और उसकी चिन्ता उन्हे दिन-रात लगी रहती है।

मातृत्व

मातृत्व की चाह भारतीय नारी की सर्वाधिक बलवती चाह है। कवि 'रसवन्ती' की नारी 'रश्मिरथी' की कुन्ती और 'उर्वशी' की उर्वशी, औशीनरी, सुकन्या आदि मे मातृत्व की स्थापना कर भारतीय माँ का मृदु चित्र अंकित करता है। भारत की नारी का गौरव तभी चमकता है जब वह गोदी मे बालक को लेकर अपने प्यार का केन्द्र उसे बना लेती है। उर्वशी जैसी स्वर्ग की अप्सरा का रूप और

गौरव प्रेयसी मे अधिक उसके मातृत्व मे झलकता है। उससे आधुनिक के प्रति जिस उपेक्षा का परिचय दिया है, इसे हम 'नारी-भावना' के अन्तर्गत देख चुके है। 'रश्मिरथी' की कुन्ती का पुत्र-प्रेम ही उसके कर्ण के प्रति किए अन्याय को बरबस भुला देता है।

मैत्री :

भारतीय सभ्यता के अंग-रूप हम मित्रता को मानते है। हमारी संस्कृति और सभ्यता मे मित्रता व्यक्ति, राष्ट्र और विश्व तक परिव्याप्त है। कवि ने अपनी कृतियो में व्यक्तिगत मैत्री के रूप मे मनुष्य की दान-प्रियता, पारस्परिक सहयोग का चित्रण किया है और साथ ही देश-प्रेम और विश्व-प्रेम की गगा-जमुना प्रवाहित की है। उनका कर्ण मित्रता के नाम पर प्राण देना भी पुण्य समझता है। वह सर्वस्व देकर भी प्रसन्न है।

गुरु-भक्ति :

मैत्री के साथ-साथ गुरु-भक्ति हमारी सभ्यता का अग है। कर्ण के चरित्र के द्वारा कवि ने गुरु-भक्ति का भारतीय आदर्श प्रस्तुत किया है।

'कुरुक्षेत्र', 'रश्मिरथी' और 'उर्वशी' सभी कृतियो मे अपनो से बडो की मर्यादा का सर्वत्र निर्वाह किया गया है। भले ही हम बुजुर्गों के मत से सहमत न हो, परन्तु उनकी अन्तर्गत ईश्वर के प्रति आस्था, अपने कर्त्तव्यों का पालन करना आदि भावनाओं का अनेक स्थान पर कवि ने वर्णन किया है।

ईश्वर में आस्था :

कवि दिनकर भले ही क्षणिक आवेश मे आकर दूध के लिए स्वर्ग लूटने और ब्रह्मा के आदेश को ठुकराने को तैयार हो जायें परन्तु उनकी स्थायी आस्था तो भगवान् की ओर है ही। भारतीय संस्कृति मे यह दुर्बलता तो है ही कि भगवान् और भाग्य के नाम पर निष्क्रियता को फूलने-फलने का पर्याप्त अवसर मिला। दिनकर भी प्रारंभिक कृतियो मे निराशा का अनुभव कर भारत की दुर्दशा मे भाग्य का दोष मानते है, परन्तु यह निराशा क्षणवत् ही रहती है। कवि 'कुरुक्षेत्र' मे भीष्म-द्वारा भाग्यवाद के प्रति घृणा व्यक्त कराते हुए उसे पाप का आवरण बताते है और कर्म को ही प्राधान्य देते है। भीष्म भी अन्त मे तो भगवान् से शांति के विस्तरण की ही प्रार्थना करते है। 'रश्मिरथी' मे तो श्रीकृष्ण की लीला सर्वत्र ही विद्यमान है।

'उर्वशी' मे उर्वशी के साथ स्वैर विहार मे रत पुरूरवा भी औशीनरी को यह सन्देश भेजता है कि वे ईश्वर-आराधना मे रत रहे।

गृहस्थाश्रम का समर्थन :

गृहस्थ-धर्म का कवि पूर्ण समर्थक है। वह 'उर्वशी' के अन्तर्गत इस पक्ष का समर्थन करता है। सुकन्या और च्यवन ऋषि के माध्यम से गृहस्थ-जीवन और एक

आकर्षण का केन्द्र प्रकृति और उसका सौन्दर्य रहा है। परन्तु उसका सर्वाधिक आकर्षण मानव-मन मे विशेष रूप से रहा। सौन्दर्य के प्रति आकर्षण उसकी सहज वृत्ति का एक अंग ही बन गया। मानव मे भी विशेषकर कवियो के माध्यम से प्रकृति का चित्रण विशेष रूप से अंकित हुआ है।

प्रकृति से चिर संगिनी :

मानव का प्रकृति की गोद मे ही लालन-पालन हुआ और जीवन की प्रत्येक सुविधायें उसे प्रकृति से उपलब्ध हुईं। यही कारण है कि बुद्धिवाद के कुहासे मे भी वह प्रकृति के प्रति अपने आकर्षण को कम न कर सका। उसे अपने सुख-दुःख की चिर-संगिनी बनाये रहा। उसका सौन्दर्य उसे प्रेयसी से कम सुभावना नहीं रहा। कभी प्रकृति उसके साथ आनन्द मनाती रही, कभी रोती रही और कभी उसमें शौर्य की शिखायें दीप्त करती रही। यह कहा जा सकता है कि कवि के सृजन मे प्रकृति का प्रेरणादायी रूप उसे अग्रगामी बनाये रहा। साहित्यकार प्रकृति के सौन्दर्य से हृदय का नाता जोड़कर उसके सौन्दर्य का आस्वादन करता रहा।

प्रकृति के परिवर्तित रूप .

सस्कृत-साहित्य मे प्रकृति को सर्वाधिक महत्व-प्रदान किया गया। आदि कवि ने डटकर प्रकृति-वर्णन किया है। माघ, कालिदास, भवभूति आदि सभी सस्कृत के कवियों ने प्रकृति को काव्यों मे विशिष्ट स्थान दिया। परवर्ती अपभ्रंश और प्राकृत साहित्य में भी प्रकृति-वर्णन की प्रचुरता रही। हिन्दी-साहित्य में भी प्रकृति को योग्य स्थान मिला। काल-क्रमानुसार वह वीरों की तलवारों में झनझनाती रही। सन्तो की कुटिया में छायी रही और आश्रय-दाताओ के हेतु लिखे गए शृंगार-काव्यों में इठलाती रही। आधुनिक-साहित्य में वह अधिक सघन हो गयी। प्रकृति मात्र विलास और आकर्षण की वस्तु न रह कर उन्नति में सहयोगिनी बन गयी। छायावाद में वह कल्पना के झूलो में झूली और परवर्ती काल में वह गरीबो के सुख-दुःख की सहानुभूतिदायिनी शक्ति बनी रही। राष्ट्रीय संग्राम में लड़ने वाले वीरों के लिए वह दिगम्बरि के रूप में प्रकट हुई। इस प्रकार प्रत्येक काल में उसका रूप अवश्य बदलता रहा, परन्तु अस्तित्व क्षीण नहीं हुआ। उसमें कल्पना और यथार्थ का समन्वित रूप प्रकट होता रहा।

भारतीय काव्य-शास्त्र की भूमिका सौन्दर्यवादी रही है। और कवि इस सौन्दर्य की पृष्ठभूमि को और पश्चात् उसके रूप को प्रकृति के उपकरणों से सजाता रहा है।

पाश्चात्य साहित्य में प्रकृति का प्रयोग .

भारतीय ही नहीं पाश्चात्य कवियों ने भी प्रकृति को पूर्णरूप से अपनाया है।. अरस्तू ने तो काव्य और कला को प्रकृति का अनुकरण ही माना है। पश्चिमी कवियो

मे प्रकृति का उन्मुक्त रूप प्रस्तुत किया है। अंग्रेजी के अनेक कवि जैसे वर्ड्सवर्थ, कीट्स, शैली, बायरन आदि सभी शुद्ध प्रकृतिवादी कवि रहे हैं। क्रोंसे के अभिव्यंजनावाद मे भी अनुभूति और अभिव्यक्ति के अन्तर्गत जिस सौन्दर्यानुभूति की कल्पना की है, उसमें प्रकृति का ही विशेष महत्त्व है।

काव्य का प्रमुख अंग :—प्रकृति ही वह चिर नूतन तत्व है जो काव्य को नित नवीन बनाए रहता है। प्रकृति के सौन्दर्यपूर्ण अंग ऊषा, इन्द्रधनुष, नक्षत्र हमें उच्चकोटि का सात्त्विक आनन्द प्राप्त करते हैं। प्रकृति का सौन्दर्य हमारे मन पर पावनकारी प्रभाव डालता है जिसके परिणामस्वरूप हमारी अन्त.प्रकृति परिष्कृत एवं उदार बनती है। प्रकृति का यही सात्विक रूप अनादि-काल मे कवियो को प्रेरणा प्रदान करता रहा। प्रकृति मानव में आत्म-स्वातंत्र्य की दिव्य भावनाओं का संचार करती है। पवन का प्रवाह, नदी की लहरें, उमडते बादल, मुक्त आकाश में चहचहाते पक्षी मुक्ति का सन्देश देते हैं। प्रकृति को देखकर हमारे मन में जिज्ञासाएँ एवं रहस्य की भावनायें उत्पन्न होती है।

प्रकृति का उपयोग काव्य में अनेक रूपों में ग्रहण किया गया है। जैसे—(१) आलम्बन रूप में (२) उद्दीपन रूप में (३) मानवीकरण में (४) अलंकरण रूप में (५) प्रतीक विधान में (६) रहस्य-सत्ता की अभिव्यक्ति के लिए (७) नैतिक उपदेश-प्रकाशन के लिए (८) पृष्ठभूमि और वातावरण की सृष्टि के लिए।

हिन्दी साहित्य में प्रकृति का रूप :

हिन्दी साहित्य मे प्रकृति का वर्णन प्रायः सभी कालो के काव्य-साहित्य में हुआ है। परन्तु उसका रूप प्रत्येक काल में बदलता रहा है। वीरगाथा-काल मे प्रकृति वीरों को प्रोत्साहित करती रही, भक्ति-युग में वह नैतिक उपदेशो की संगिनी बन गई, रीतिकाल मे वह घोर शृंगार को उद्दीपन रूप मे सुन्दरियो के साथ परिवेष्टित रही। इस विधान का अर्थ यह नहीं है कि प्रकृति-मात्र कथित रूपो मे ही अंकित हुई। वह अन्य सभी रूपो मे प्रयुक्त तो हुई परन्तु विशिष्ट रूप से जिन भावों की वाहिका बनी उन्हे ही मुख्य माना गया है।

आधुनिक-काल की कविताओं मे भी उसके रूपों मे पर्याप्त वैविध्य दृष्टिगत होता है। भारतेन्दु-काल मे प्रकृति का वर्णनात्मक रूप अधिक अंकित हुआ। द्विवेदी युग में उसकी नैसर्गिक झांकी दिखाई दी। छायावादी-काल मे तो उसका रूप खिल उठा। सौन्दर्य की संगिनी प्रकृति मे रहस्य के दर्शन हुए। यह सत्य है कि छायावाद का प्रकृति-वर्णन शृंगार-युक्त है। परन्तु उसमे रीति-कालीन गंदी गलियों में भटकने की प्रवृत्ति नहीं थी।

आधुनिक-काल के प्रकृति चित्रण में शृंगार और सौन्दर्य के साथ उसका चित्रण राष्ट्रीय रचनाओं मे भी किया गया। प्रकृति का राष्ट्रीय काव्यो मे उत्तरोत्तर

विकास होता रहा। द्विवेदी-युग में इस रूप मे प्रकृति का अधिक वर्णन हुआ। छायावाद मे भी शृंगार मे खो जाने वाली प्रकृति की सरस्वती-धारा राष्ट्रीय-गीतों मे प्रकट होती रही। छायावाद के परवर्ती काव्यो मे भी प्रकृति राष्ट्रीय-गीतो और शृङ्गार-गीतो मे दृष्टव्य रही।

प्रगतिवादी काव्य मे प्रकृति का रूप भी परम्परागत कलेवर को छोडकर नए रूपो मे दिखाई दिया। *प्रकृति के उपमान बदल गए और सौन्दर्य-दायिनी प्रकृति* कल्पना के स्थान पर यथार्थ की सहगामिनी बन गई। इस प्रवृत्ति से यद्यपि कहीं-कहीं उसका रूप अवश्य विकृत हो गया।

दिनकर के काव्य में प्रकृति-चित्रण

दिनकर के काव्यों मे प्रकृति-चित्रण विविध रूपो मे हुआ है। कवि ने प्रायः समस्त मान्य रूपों के आधार पर प्रकृति-निरूपण किया है।

१ प्रकृति का आलम्बन रूप मे चित्रण,
२. प्रकृति का उद्दीपन रूप मे चित्रण,
३. प्रकृति का सजीव रूप मे चित्रण,
४ प्रकृति का अलकरण रूप मे चित्रण,
५. प्रकृति का रहस्यात्मक रूप मे चित्रण,
६ प्रकृति का पृष्ठभूमि-रूप मे चित्रण,
७ प्रकृति का वातावरण रूप मे चित्रण।

प्रकृति का आलम्बन रूप में चित्रण

प्रकृति का आलम्बन-रूप वहाँ माना जाता है जहाँ कवि प्रकृति के सौन्दर्य से अविभूत हो कर उसके सौन्दर्य मे खो जाए। प्रकृति के अगो के सौन्दर्य से प्रभावित होकर, अपनी सौन्दर्यानुभूति को अभिव्यक्त करे। इस प्रकार के वर्णन मे प्रकृति ही स्वयं प्रतिपाद्य होती है।

दिनकर के काव्यो मे आलंबन-रूप में प्रकृति के रूप इस प्रकार निरूपित हैं :—

१. ग्राम्य प्रकृति-दर्शन।
२. वर्णनात्मक रूप।

ग्राम्य प्रकृति-दर्शन

दिनकर के काव्यों मे प्रकृति का सुरम्य सुन्दर रूप प्रस्तुत हुआ है। प्रकृति का उन्मीलित रूप हमे गाँव मे ही मिलता है। कवि दिनकर ने अपने ग्राम्य-जीवन के प्रकृति-प्रेम को अपनी प्रारम्भिक कृति 'रेणुका' मे अभिव्यक्त किया है। 'कवित,

की पुकार' में उनकी कविता नगर के कृत्रिम सौन्दर्य से भागकर गाँव के खण्डहरों में सौन्दर्य ढूंढती है। उसे तो गाँव का यह सौन्दर्य पसन्द है—

> "स्वर्णांचला अहा! खेतों मे उतरी सध्या श्याम परी,
> रोमंथन करती गायें आरही रौंदती घास हरी।
> घर-घर से उठ रहा धुंआ, जलते चूल्हे बारी-बारी,
> चौपालों मे कृषक बैठ गाते 'कहँ अटके बनवारी।"
>
> × × ×
>
> कवि! असाढ की इस रिमझिम मे घन खेतों मे जाने दो,
> कृषक सुन्दरी के स्वर मे अटपटे गीत कुछ गाने दो।
>
> × × ×
>
> वेणु-कुंज मे जुगनू बन मे इधर-उधर मुस्काऊँगी,
> हर सिंगार की कलिया बनकर वधुओं पर झड जाऊँगी।"[1]

कविता जैसे गाँव के गीत भूल जाना चाहती है। उसे गुलाब, कमल, रजनी-गन्धा के पुष्पों की सुगंध से अधिक वन-तुलसी की गध और हर भृङ्गार की कलिया भाती हैं।

वर्णनात्मक-रूप :—उपरोक्त तीन रूपो मे सर्वाधिक रूप से वर्णनात्मक-रूप ही चित्रित हुआ है, 'रेणुका' का कवि जब वर्तमान में व्याप्त क्षोभ से ऊब जाता है तब वह प्रकृति की गोद मे ही प्रश्रय लेता है। यद्यपि इस वृत्ति के कारण उन पर छायावादी प्रभाव भी माना गया है। प्रकृति के वर्णन मे रेणुका की निर्झरणी, मिथिला मे शरत, कोयल अमासध्या, कस्मातीर्थ आदि में द्रष्टव्य है।

"कैसा होगा वह नन्दन वनी" प्रश्न का उत्तर सुन्दर वर्णन का उदाहरण है :—

> "रोमन्थन करती मृगी कहीं, कूदते अंग पर मृगकुमार,
> स्वर्णातप मे निर्झर तट पर, लेटे है कुछ मृग-पद-पसार।
> टीलो पर चरती गाय सरल, गो शिशु पीते माता का थन,
> यद्यपि बालायें ले-ले लघुघट, हँस-हँस करती द्रुम का सिचन।"[2]

तथा—'सिमरियाघाट' (कवि की जन्मभूमि) का वर्णन भी बडा मनोहारी है—

> "गिरिराज-सुता सुषमा-भरिता, जल-स्रोत नहीं, कविता-सरिता।
> वह कोमल काम विकास-मयी, यह बालिका पावन हासमयी;

---

१. रेणुका, (कविता की पुकार) : पृ० १४-१५।
२. रेणुका, (कोयल) : पृ० ५१।

वह पुण्य-विकासिनी, दिव्य-विभा, यह भाव-सुहासिनी, प्रेम-प्रभा।
हे जन्म-भूमि ! शत बार धन्य ! तुझ सा न 'मिमरिया-घाट' अन्य।"[1]

प्रकृति का वर्णन करते समय किशोर कवि अतीत को, कर्त्तव्य को भूल नहीं पाता और गाने की इच्छा होने हुए भी वह गा नहीं पाता—आँसू बरसाने लगता है— "भावुक मन था, रोक न पाया, सज आये पलकों मे सावन।
नालदा वैशाली के ढूहों पर बरसे पुतली के घन।"[2]

'हुंकार' में भी कवि सौन्दर्य से प्रभावित होकर गाना चाहता है परन्तु देश की पराधीनावस्था में कर्त्तव्य उसे विमुख बनाये रहता है।[3]

रेणुका का कवि प्रकृति मे कभी रहस्य ढूंढने दौड़ता है, कभी छायावादियों की भांति प्रकृति पर मुग्ध होकर स्वयं ही रीझता दृष्टिगत होता है। विश्व-छवि', 'अमासध्या' जैसी रचनायें उदाहरण-रूप प्रस्तुत की जा सकती हैं।

'रसवती' मे प्रकृति के स्वतन्त्र वर्णन अल्प ही हैं। प्रकृति की सारी सुषमा जैसे नारी मे केन्द्रित हो गई है। रेणुका मे जिसे उषा, निर्झरिणी मे नारी दिखाई देती थी—अब नारी मे ऊषा, निर्झरिणी दिखाई देती है। 'पावसगीत' जैसे शीर्षकों से लगता है कि प्रकृति का वर्णन होगा, परन्तु वहां भी कवि के विदग्ध ताप का उच्छ्वास ही निसृत है।

'विजन', मे, 'संध्या' रचनाओं मे प्रकृति के शान्त और गम्भीर रूप का दृश्य ही अंकित है।

' पर्ण कुंजों मे न मर्मर-गान, सो गया थक कर शिथिल पवमान,
अब न जल पर रश्मि बिम्बित लाल, मूँद उर मे स्वप्न सोया ताल।
सामने द्रुमराजि तममाकार, बोलते तम मे विहग दो चार,
झींगुरों मे रोर खग के लीन, दीखते ज्यों एक रव अस्पष्ट अर्थ विहीन।"[4]

प्रकृति का वर्णनात्मक रूप 'रश्मिरथी' के द्वितीय सर्ग मे परशुराम के आश्रम का वर्णन करते हुए कवि ने प्रस्तुत किया है—

"शीतल, विरल एक कानन शोभित अधित्यका के ऊपर,
कहीं उत्स-प्रस्रवण चमकते, झरते कही शुभ्र निर्झर।
जहा भूमि समतल, सुन्दर है, नहीं दीखते है पाहन,
हरियाली के बीच खड़ा है, विस्तृत एक उरज पावन।

---

१. रेणुका, (मिथिला में शरत) : पृ० ५७।
२. वही, (कस्मै देवाय) : पृ० ७६।
३. हुंकार, (वसंत के नाम पर) : पृ० ३६।
४. रसवती, (संध्या) : पृ० १०।

आस-पास कुछ कटे हुए पीले धन-खेत सुहाते है,
शशक, मूस, गिलहरी, कबूतर घूम-घूम कण खाते हैं।
कुछ प्रशान्त, अलसित बैठे हैं, कुछ करते शिशु का लेहन,
कुछ गाते साकल्य, दीखते बड़े तुष्ट सारे गोधन।"[1]

इसी प्रकार का संक्षिप्त उषा-काल का वर्णन सप्त-सर्ग के प्रारम्भ में किया है।

प्रकृति का आलम्बन-रूप 'उर्वशी' में भी अंकित हुआ है। आलम्बन रूप के अन्तर्गत चन्द्र, तारक, रजनी एवं गन्धमादन पर्वत का वर्णन हुआ है। कृतिका प्रारम्भ ही चन्द्र और तारों की मनोरम छटा से होता है। सूत्रधार एवं नटी द्वादशी की चाँदनी रात का वर्णन करते हैं। और उन्हें आकाश बाँहें खोलकर आलिंगन-हेतु वसुधा पर झुका नजर आता है। प्रकृति जैसे स्वयं चन्द्रिका-मुकुट में अपना रूप देखकर अपने आपको भूल जाती है।[2]

गन्धमादन पर्वत का आलम्बन-रूप में वर्णन द्वितीय एवं तृतीय अंक में हुआ है। द्वितीय अंक में कंचुकी राजा के सन्देश में महारानी औशीनरी को गन्धमादन का वर्णन सुनाता है—

"पवन स्वास्थ्यदायी, शीतल, सुस्वाद यहाँ का जल है।"

प्रीति, अन्तर्वासिनी, सावन में, संध्या आदि कविताओं में प्रकृति का सजीव रूप कवि ने प्रस्तुत किया है। संध्या का एक रूप विरहिणी नायिका के रूप में देखिए—

"एक अलका व्योम के उस ओर, यक्षिणी कोई विषाद-विभोर
खोजती फिरती न मिलते कान्त, बीतते जाते अमित कल्पान्त
वेदना बजती कठिन मन-माँझ, पल गिना करती कि हो कब साँझ
अश्रु से भीगी, व्यथा से दीन, ऊँघती प्रिय-स्वप्न में तल्लीन।"[3]

उर्वशी में प्रकृति मानवी रूप मुखरित हैं। पुरूरवा रानी औशिनरी को सदेश प्रेषित करते समय प्रकृति का रूप अंकित करते हैं—

"शिखरों पर हिमराशि और नीचे झरनों में पानी,
बीचों-बीच प्रकृति सोती है ओढ़ निचोली धानी।"[4]

तृतीय अंक में 'उर्वशी' वृक्षों को उष्णीय बाँधकर निहारती।[5] उर्वशी पुनः

---

१. रश्मिरथी (द्वि० स०) : पृ० ६।
२. उर्वशी, प्र० अ० : पृ० ५-६।
३. रसवन्ती, (संध्या) : पृ० ७२।
४. उर्वशी, द्वि० अं० : पृ० ३८।
५. वही, तृ० अं० : पृ० ६२।

दिशाओं की वधू और रजनी की नायिका बनाकर चन्द्रिका की क्रमशः उनके आनन पर कपूर धूलि तथा अंगों पर चन्दन लेप करा गया है।[1] पुरूरवा तारों में आग्नेय-जीवों और परियों के नयनों की कल्पना करता है।[2]

तृतीय अंक में प्रभात का वर्णन कितना सजीव है—

> "आ रहा सूर्य, फेंकता बाण अपने लोहित,
> छिप गया ज्योति में, वह देखो अरुणाभ शिखर,
> हिम-स्नात, सिक्त वल्लरी-पुंजाग्नि को देखो,
> लति को फूलों का नया हार पहनाती है,
> कुंजों में जगता है स्वर कोई वृक्ष कहीं,
> वन की प्रगल्भ विहगावलि खोकर गाती है।"[3]

इसके अतिरिक्त चतुर्थ अंक में राजा और उर्वशी के आलिंगनों से उल्लसित अटवी, उनके चुम्बनादि की पद-ध्वनियों में सुन रही है। डालियाँ उन्हें छूना चाहती हैं, कुंजों के प्रसून भी मानसिक सन्तुलन खो बैठे हैं, शिखरों की हरियाली बादलों को छूने के लिए उठ रही है तथा नटिनियाँ उत्ताल शिलाओं पर उछलतीं हुई और भी इतरा कर चलने लगी है।[4] नीलकुसुम में संगृहीत 'पावस-गीत' में कवि ने पावस के घनों को भावुक रूप मानकर उन्हें सजीव चित्रित किया है।[5]

प्रकृति का अलंकरण रूप में चित्रण :

कवि जब प्राकृतिक वस्तुओं का उपमा, रूपक आदि अलंकारों के रूप में प्रयोग करता है तब प्रकृति अलंकार-रूप में प्रयुक्त मानी जाती है। दिनकर ने प्रकृति से उपमान लेकर अपने काव्य को अलंकृत किया है।

कवि 'रेणुका' की 'गा रही कविता युगों से मुग्ध हो' में कविता को परी के रूप में मानकर उसकी तुलना प्रकृति-सज्ज नायिका से करता है।

'रसवन्ती' की 'बालिका से वधू' के रूप-चित्र में कवि ने प्रकृति के उपमानों से वधू का शृंगार किया है—

> "माथे में सेंदुर पर छोटी दो बिन्दी चम-चम-सी,
> पपनी पर आँसू की बूँदें, मोती-सी, शबनम-सी।

---

१. उर्वशी तृ० अं० पृ० ६२।
२. ,, ,, : पृ० ,, ।
३. ,, ,, : पृ० ६६।
४ ,, ,, अ० : पृ० ११६।
५. नीलकुसुम (पावसगीत) : पृ० २५।

लदी हुई कलियों से मादक, टहनी एक नरम-सी,
यौवन की विनती-सी भोली, गुमसुम खड़ी शरम-सी ।"[1]

'पुरुष-प्रिया' काव्य का प्रारम्भ ही प्रकृति के तरुण-भानु की उपमा द्वारा होता है। शक्ति का अवतार पुरुष प्रदीप्त सूर्य-सा प्रकाशित है।[2]

'कुरुक्षेत्र' के सप्तम सर्ग के प्रारम्भ में युधिष्ठिर का वह रूप जिसमें वे द्वन्द्व से मुक्त होकर शान्ति की कामना करते हुए दिखाई देते हैं—

"रागानल के बीच पुरुष कंचन-सा जलने वाला,
तिमिर-सिन्धु में डूब रश्मि की ओर निकलने वाला,
ऊपर उठने को कर्दम से लड़ता हुआ कमल-सा,
डूब-डूब करता उतराता, घन में विधु-मण्डल-सा।[3]

'रश्मिरथी' में परशुराम के आश्रम से निराश कर्ण के चित्रण में कवि ने प्रकृति के अलंकारी रूप को प्रस्तुत करते हुए कर्ण की मानसिक अवस्था का बड़ा ही सुन्दर चित्र प्रस्तुत किया है।

"निराशा से विकल टूटा हुआ-सा
किसी गिरी-शृङ्ग से छूटा हुआ-सा
चला खोया हुआ-सा कर्ण मन में
कि जैसे चाँद चलता है गगन में।"[4]

इसी प्रकार पंचम-सर्ग में पूजन में ध्यानस्थ कर्ण का वर्णन प्रकृति के उपमानों द्वारा अतीव सुन्दर ढंग से प्रस्तुत किया है।

प्रकृति का अलंकार-रूप में चित्रण 'उर्वशी' में बड़े ही मनोहारी रूप में हुआ है। प्रारम्भ में ही आकाश से अवतरित अप्सराएँ नटी को ज्योत्सना-सी प्रतीत होती हैं, जिससे इन्दु-किरणें भी लजा रही हैं। वह विविध कल्पनायें करती हैं, जिनमें रूपक, व्यतिरेक और सन्देह की छटा दर्शनीय है। उर्वशी के चित्रण में भी प्रकृत्यांगों का उपमादि अलंकारो के रूप मे व्यवहार बड़ा ही मनोरंजक है। प्रथम और द्वितीय अंक में चित्रलेखा तथा निपुणिका द्वारा उर्वशी का जो सौन्दर्य वर्णन हुआ है उसमें उत्प्रेक्षा एवं अतिशयोक्ति बड़ी रमणीय है—

"प्रकटी जब उर्वशी, चादनी मे द्रुम की छाया से,
लगा सर्प के मुख से जैसे मणि बाहर निकली हो;

---

१. रसवन्ती, (बालिका से वधू) : पृ० १६।
२. वही, (पुरुष-प्रिया) : पृ० ५१।
३. कुरुक्षेत्र, सप्तम सर्ग : पृ० १२०।
४. रश्मिरथी, द्वि० सर्ग : पृ० २१।

मा कि स्वयं चाँदनी स्वर्ण-प्रतिमा में आन बसी हो;
उतरी हो पर देह स्वप्न की विभा प्रमद उपवन की।

× × ×

हिम-कण-सिक्त-कुसुम-सम उज्ज्वल अंग-अंग झलमल था,
मानो अभी-अभी जल से निकला उत्फुल्ल कमल था।"[1]

उर्वशी पुरूरवा को विटप मानकर लतिका-सी सो जाना चाहती है।[2] कभी रसमयी मेघमाला बनकर उस पर छा जाना चाहती है।[3] पुरूरवा कभी आनन्द-विकल तरु-सा सिहरता है।[4] कभी सिन्धु-सा लहराता है।[5] और कभी कमल-सा प्राणों के सर में उतरना चाहता है।[6]

चतुर्थ अंक में महर्षि च्यवन के लिए मेघ, पादप तथा कुंजर की उपमा दी गई है—

"शुभे ! तपस्या के बल से यौवन मैं ग्रहण करूँगा
प्रौढ़ मेघ, पादप नवीन, मदकल, किशोर-कुंजर-सा।"[7]

कवि ने शरीरावयवों एवं अन्य पदार्थों के लिए भी अनेक मनोरम उपमायें एवं आरोप प्रकृति से ग्रहण किए हैं। जैसे देह के लिए चम्पक-यष्टि,[8] शरीर-शीतलता के लिए चाँदनी,[9] स्पर्श के लिए निमिर,[10] प्राणों के लिए सागर,[11] भाल के लिए सूर्यातप,[12] अधरों के लिए किसलय,[13] चुम्बन के लिए तिमिर-शूल,[14] कपोल-प्रभा के लिए ऊषा-प्रभा,[15] मुस्कान के लिए किरण,[16] पुरूरवा के वक्ष के लिए महीध्र,[17] उर्वशी के उरोजों के लिए कुसुम-कुंज,[18] पुरूरवा की भुजाओं के लिए विटप[19] और उर्वशी की भुजाओं के लिए विधु-किरण[20] की उपमा दी गई है।

शरद् ऋतु का वर्णन भी कवि ने अलंकरण शैली में किया है।[21]

---

१. उर्वशी, द्वितीय अंक : पृ० २६।
२. वही, तृतीय अंक : पृ० ५४।
३. वही, तृतीय अंक : पृ० ५४।
४. वही, वही : पृ० ४०।
५. वही, द्वितीय अंक : पृ० ३०।
६. वही, तृतीय अंक : पृ० ५१।
७. वही, च० अं : पृ० १०६।
८. ६, १०, ११, १२, १३, १४, तृतीय अंक : पृ० ४७, ५४, ४४, ५०, ५०, ८५, ४४।
१५, १६, १७, १८, १६, २०. वही : ८५, ८७, ५४, ८५, ५४ ८५।
२१. वही : पृ० ५६।

प्रकृति का रहस्यात्मक रूप में चित्रण :

दिनकर के काव्यों मे प्रकृति का रहस्यात्मक रूप भी यत्र-तत्र दृष्टव्य है। पहले कहा जा चुका है कि कवि की प्रारम्भिक कृतियों पर छायावाद का प्रभाव है अतः उनके प्रकृति-वर्णन मे रहस्य की झलक भी दृष्टव्य है।

'रेणुका' की 'मिथिला में शरत', 'विश्व-छवि' की प्रारम्भिक पंक्तियों मे रहस्यमयी नायिका के साथ प्रकृति का रहस्यात्मक रूप भी जैसे अवतरित होता है। प्रकृति से अधिक तो उसकी नायिका ही रहस्यमय लगती है।

'रसवन्ती' की 'अगरु-धूम', 'रास की मुरली', 'रहस्य' आदि कविताओं में कवि ने प्रकृति के रहस्यात्मक रूप को ही अंकित किया है—

> "रही बज आमंत्रण के राग, श्याम की मुरली नित्य नवीन,
> विकल-सी दौड़-दौड़ की प्रतिकाल, सरित हो रही सिंधु मे लीन।"[1]

'उर्वशी' में प्रकृति का रहस्यात्मक रूप यत्र-तत्र दृष्टिगोचर होता है। प्रकृति के अंग—सूर्य, चन्द्र, उषा, मेघ आदि उस विराट सत्ता का भान कराते हैं। तृतीय अंक में पुरूरवा ईश्वर की लीला का वर्णन करते हुए कहते हैं—

> "जिसकी इच्छा का प्रसार, भूतल, पाताल, गगन है,
> दौड़ रहे नभ में अनन्त, कन्दुक जिसकी लीला के।
> अगणित सविता-सोम, अपरिमितग्रह, उडु-मण्डल बनकर।"[2]

उर्वशी भी ईश्वर का प्रसार और विस्तार प्रकृति के अवयवों में देखती है।[3] उर्वशी और पुरूरवा के ईश्वर, माया-सम्बन्धी कथोपकथनो मे ईश्वर के रहस्य के साथ-साथ कवि ने प्रकृति को रहस्यात्मक रूप मे ही ग्रहण किया है।

प्रकृति का पृष्ठभूमि के रूप में अंकन :

दिनकर के काव्यों मे घटित होने वाली घटनाओं के पूर्वाभास के रूप में प्रकृति का प्रयोग मिलता है। इससे आगे किस प्रकार की घटना घटित होने वाली है इसका पता चल जाता है।

'सामधेनी' मे पृष्ठभूमि के रूप मे 'अन्तिम मनुष्य', 'जवानियाँ' और 'कलिंग-विजय' में प्रकृति का प्रयोग दृष्टव्य है—

> "वृद्ध सूर्य की आँखों पर माड़ी-सी चढ़ी हुई है,
> दम तोड़ती हुई बुढ़िया-सी दुनिया पड़ी हुई है।"[4]

---

१. रसवन्ती (रास की मुरली) : पृ० ४४।
२. उर्वशी, तृतीय अंक : पृ० ६७।
३. उर्वशी, तृतीय अंक : पृ० ७४।
४. सामधेनी (अंतिम मनुष्य) : पृ० २५।

कवि इस तथ्य को अंकित करना चाहता है कि मदान्ध सत्ताधीशों के कारण दुनिया किस प्रकार तड़प रही है। प्रायः पूरी कविता पृष्ठ-भूमि के रूप में अंकित की जा सकती है।

'कलिंग-विजय' मे युद्ध-भूमि का विकृत वर्णन करने मे पूर्व छिपते हुए सूर्य का वर्णन पृष्ठ-भूमि के रूप मे किया गया है।[1]

'कुरुक्षेत्र' मे भीष्मपितामह युधिष्ठिर को युद्ध से पूर्व तूफान का वर्णन कर उसकी भयानकता का परिचय प्रकृति के माध्यम से ही कराते हैं।[2] चतुर्थ सर्ग मे व्यासजी द्वारा कुटिल ग्रहो के योग द्वारा ही वे भविष्य मे होने वाले भयानक युद्ध का परिचय देते हैं।

'रश्मिरथी' के तृतीय सर्ग मे भगवान श्रीकृष्ण अपना विकराल रूप दिखला कर मानो भविष्य में होने वाले विकराल युद्ध का ही परिचय देते हैं—

"टकरायेंगे नक्षत्र-निकर, बरसेगी भू पर वह्नि प्रखर।
फण शेषनाग का डोलेगा, विकराल-काल मुँह खोलेगा॥[3]

'नीम के पत्ते' मे सग्रहीत गीत 'अरुणोदय' में कवि ने १५ अगस्त के आगमन से पूव प्रकृति का पृष्ठ-भूमि उज्ज्वल रूपाकन प्रस्तुत किया है।[4]

'बापू' सग्रह मे 'बापू' काव्य के १२वें भाग मे देश मे व्याप्त हिंसात्मक हिन्दू-मुसलमानो के झगडो का संकेत प्रकृति के माध्यम से प्रस्तुत किया है।[5]

प्रकृति का वातावरण रूप में चित्रण :

प्रकृति मनुष्य के सुख-दुख की चिरसगिनी रही है। मनुष्य सुख में उसका हास्य रूप निहारता है और दुःख मे अपने साथ उसका दुःखी रूपी निहारता है। संहार मे उसका विकराल रूप उभरता है और शान्ति मे शान्त रूप।

दिनकर के काव्यो मे कवि ने अनेक स्थानों पर प्रकृति का भावानुकूल रूपाकन किया है।

'सामधेनी' मे 'बटोही धीरे-धीरे गा' गीत मे रात दुःखी मन के कारण जलती हुई दृष्टिगत होती है—

"फुकी जा रही रात, दाह से झुलस रहे सब तारे,
फूल नही, लप से पडते हैं, झड़े तप्त अंगारे॥"[6]

१. सामधेनी (कलिंग विजय) : पृ० ४८।
२. कुरुक्षेत्र, द्वि० सर्ग : पृ० १६।
३. रश्मिरथी, तृतीय सर्ग : पृ० २८।
४. नीम के पत्ते, (अरुणोदय) : पृ० १३।
५. बापू : पृ० २९।
६. सामधेनी (बटोही धीरे-धीरे गा) : पृ० १८।

'जवानी का झंडा' काव्य में कवि का सैनिक विजय प्राप्त कर चुका है। अतः उसे प्रकृति का कण-कण जगमगाता नजर आता है।[1]

'रश्मिरथी' में कर्ण की अर्जुन पर श्रेष्ठता देखकर सूर्य भी जैसे आकाश में सुप्त होकर मन्थर गति से अस्त होता है।[2] इसी प्रकार जब कर्ण अपने कवच-कुंडल चीरकर इन्द्र को प्रदान करता है उस समय प्रकृति भी चकित हो उठती है। आघात न सह सकने के कारण सूर्य भी शीघ्र गति से अस्ताचल की ओर सरक जाते हैं।[3] इसी प्रकार पंचम सर्ग में अश्रु प्रसारित कर्ण और कुंती की प्रेम-विह्वलता देखकर प्रकृति भी स्तब्ध रह जाती है।[4] अन्तिम-सर्ग में कर्ण की मृत्यु के पश्चात् प्रकृति भी जैसे रो पड़ती है—

"फिर आकाश से सुरयान सारे, नतानन देवता नभ से सिधारे
छिपे आदित्य होकर आर्तघन में, उदासी छा गई सारे भुवन में।
अनिल मंथर व्यथित-सा डोलता था, न पक्षी भी पवन में बोलता था
प्रकृति निस्तब्ध थी, यह हो गया क्या? हमारी गांठ से कुछ खो गया क्या?"[5]

'उर्वशी' में तो उर्वशी एवं पुरूरवा की संयोगावस्था में सर्वत्र प्रकृति का नव-यौवना रूप ही खिल उठा है। सर्वत्र प्रकृति का मादक प्रेम-पूर्ण वातावरण ही छाया हुआ है। ऐसे वातावरण में वर्ष भर की लम्बी अवधि भी दो क्षण-सी छोटी लगती है।

'बापू' संग्रह में बापू की मृत्यु से संबंधित कविता 'अघटन घटना क्या समाधान' में बापू की मृत्यु का समाचार सुनकर प्रकृति भी स्तब्ध रह जाती है—गंभीर हो जाती है—

"डरता-डरता चन्द्रमा क्षितिज-पट से निकला,
पर, देख न वह भी सका जगत को आंख-खोल;
घन में छिप चलता रहा रात-भर सहम-सहम।"[6]

इसी प्रकार कवि को कल्पतरु के पत्र झरते दृष्टिगत होते हैं, हरि के सिंहासन की मणि तेजहीन लगती है। सर्वत्र पशु, पक्षी, चांद, आकाश आदि पर वह उदासी की काली छाया निहारता है।[7]

१. सामधेनी (जवानी का झंडा) : पृ० ८०।
२. रश्मिरथी, प्र० स०. : पृ० ८।
३. वही, च० स० : पृ० ६१।
४. वही, पं० स० : पृ० ८१-८२।
५. वही, स० स० : पृ० १६३।
६. बापू (अघटन घटना क्या समाधान) : पृ० ४७।
७. वही, वही : पृ० ४८।

निष्कर्षत: नील-कुसुम से पूर्व की कृतियों में दिनकर का प्रकृति-चित्रण विविध रूपों में अंकित है। सम्पूर्ण प्रकृति-चित्रण के अध्ययन से मुझे ऐसा लगा कि कवि ने प्रकृति को स्वाभाविक रूप में ही ग्रहण किया है उसने कहीं भी बलात् उसे थोपने का प्रयास नहीं किया। यद्यपि दिनकर प्रकृति के कवि तो नहीं हैं तथापि प्रकृति का जो स्वाभाविक निरूपण हुआ है—वह अवश्य सुन्दर एवं मनोहारी है, जिसमें कहीं भी दुर्बलता नहीं।

नीलकुसुम जैसी रचनाओं में प्रकृति का वर्णनात्मक रूप विशेष रूप से प्रस्तुत है, परन्तु अब इस वर्णन में भी कवि भावों की भांति यथार्थ की ओर उन्मुख है। कवि चन्द्र के सौन्दर्य को द्रष्टा की भांति देखकर प्रसन्न ही नहीं होता, अपितु उससे विवाद भी करता है।[1] वह अब पेड़-पौधों के सौन्दर्यांकन से विशेष लोहे के पेड़ों को हरा करने में लग गया है। उसे चांद और सूरज बुझे-बुझे से लगते हैं।

'कोयला और कवित्व' में 'ओशीनरी', 'डल झील के कमल', 'वायु', 'आसू' आदि रचनाओं में कवि प्रकृति-वर्णन से अधिक नए उपमान खोजने में प्रवृत्त दिखाई देता है। उसे पेड़ से गिरते हुए पत्ते बूढ़े की आंख से गिरते हुए आंसू लगते हैं।[2] कभी कमल रेशम का तकिया लगता है।[3]

कवि देश में व्याप्त भ्रष्टाचार को देखकर शासकों को सिंहासन खाली कराने में लग गया है अत: प्रकृति से वह कुछ दूर अवश्य हो गया है, परन्तु आशा है कि 'उर्वशी' का कवि सतरंगे घट उड़ेल कर साहित्य-आगन में नई रंगोली सजायेगा।

संक्षिप्त में यह कहा जा सकता है कि दिनकर का प्रकृति-चित्रण कवि की भावनाओं की भांति ओज, शृंगार एवं नाविन्य विचारों की चिर-संगिनी रही है।

> "झीलों में, बस, जिधर देखिए, उत्पल ही उत्पल है,
> लम्बे-लम्बे चौड़ ग्रीव अम्बर की ओर उठाये,
> एक चरण पर खड़े तपस्वी-से हैं ध्यान लगाए।
> दूर-दूर तक बिछे हुए फूलों के नन्दन वन हैं,
> जहां देखिए, वहीं लता-तरुओं के कुंज भवन हैं।
> शिखरों पर हिम-राशि और नीचे झरनों का पानी,
> बीचों-बीच प्रकृति सोयी है, ओढ़ निचोली धानी।"[4]

---

१. नील कुसुम, चांद और कवि : पृ० ४५।
२. कोयला और कवित्व : (नदी और पीपल) : पृ० ८।
३. वही, (डल झील का कमल) : पृ० १०।
४. उर्वशी, द्वि० अं० : पृ० ३८।

तृतीय अंक में गन्धमादन पर रात्रि के अवसान में सूर्यागमन का वर्णन आलम्बन-रूप में ही हुआ है।

आलम्बन-रूप में प्रकृति का वर्णन अल्प ही है परन्तु सरस और अनूठा है।

प्रकृति का उद्दीपन रूप में चित्रण :

प्रकृति का सौन्दर्य अनेक रूपों में मानव को उद्दीप्त करता रहा है। विशेष-कर प्रेमियो के साहचर्य और वियोग में उन्हे प्रकृति विशेष रूप से उद्दीप्त करती है। प्रकृति का उद्दीपन-रूप विशेष रूप से 'उर्वशी' मे ही दृष्टव्य है। कवि ने उद्दीपन-रूप में रात्रि, चन्द्र-तारे, गंधमादन पर्वत और उसकी प्राकृतिक छटा का वर्णन किया है।

प्रथम अंक मे छिटकी हुई चांदनी से उद्दीप्त अप्सरायें उसमें स्नान करना चाहती हैं। चांद की अलकों को चूमना चाहती हैं और गगन-हिंडोरे पर झूलना चाहती हैं।[1] रम्भा हरियाली पर बिखरे हुए ओस-कणों की आर्द्रता से प्राणों को शीतल करने की कामना करती है।[2] इसी अंक के अन्त में अप्सरायें पूर्ववत् भाव ही व्यक्त करती हैं।

तृतीय अक में गन्धमादन पर्वत की छटा उर्वशी और पुरूरवा को उद्दीप्त करती है। उर्वशी को लगता है कि जैसे कोई नगपति के उत्तुंग हिमाच्छादित शिखरों पर सुधा-लिम्पन कर रहा है।[3] चांदनी रात का चमकता हुआ चाद और झिलमिलाते तारे कभी हीरक-कूप से प्रतीत होते हैं, कभी कल्पद्रुम के कुसुम लगते हैं और कभी परियों की आखो से प्रदीप्त होते है।[4]

तृतीय सर्ग के अन्त में वियोग से पूर्व उर्वशी मादक क्षणों का स्मरण करती हुई पुनः पुनः सौन्दर्य को पीकर हृदय सिंचित करना चाहती है।[5]

चतुर्थ अंक में वियोग-दशा में उर्वशी गन्धमादन पर बीते हुए दिनों की याद करती है। इस स्मृति मे अदृश्य गन्धमादन ही उद्दीपन रूप है।

प्रकृति के उद्दीपन-रूप के अनेक उदाहरण 'उर्वशी' में से प्रस्तुत किए जा सकते हैं।

प्रकृति का सजीव रूप में चित्रण :

दिनकर के काव्यो में प्रकृति का सजीव रूप अंकित है। कवि ने अधिकांशतः

१. उर्वशी, प्र० अ० : पृ० ८।
२. वही, वही : पृ० ६।
३. उर्वशी, तृ० अं० : पृ० ६२।
४. वही, वही : वही।
५. 'रेणुका' (गा रही कविता युगों से मुग्ध हो) : पृ० ३७।

उसका नायिका-रूप प्रस्तुत किया है। रेणुका आदि प्रारम्भिक कृतियों में प्रकृति का ऐसा ही रूमानी नायिका के चित्र कवि ने प्रस्तुत किए हैं।

"नत-नयन, कर में कुसुम-जयमाल ले, भाल में कौमार्य की बेंदी दिये,
क्षितिज पर आकर खड़ी होती उषा, नित्य किस सौभाग्यशाली के लिए।"

'जागरण' शिशिर-ऋतु नारी की भांति मधुमास सखी को जगाती हुई चित्रित की गई है। इसी प्रकार के सजीव-चित्र 'रेणुका' की निर्झरणी अमासंध्या, कोयल आदि कविताओं में देखे जा सकते हैं; जिन्हें देखकर कवि का मन प्रकृति की ओर आकर्षित होता दिखाई देता है। कवि द्वारा वर्णित सरिता-सागर, लता-विटप, कली-भ्रमर, रजनी-चन्द्रमा, उषा-सूर्य आदि युग्मो में प्रकृति का जो प्रेम-व्यापार अंकित हुआ है वह उसकी प्रणय-भावना के परिचायक है। 'रसवन्ती' की प्रकृति-संबंधी कविताएँ—भ्रमरी, दाह की कोयल।

षष्ठ अध्याय
कला-पक्ष

दिनकर की काव्य-कृतियों के आधार पर उनकी भाव एवं विचार सरिता में अवगाहन कर चुकने पर इन भाव और विचारों की अभिव्यक्ति के विभिन्न पार्श्वों का दर्शन व परीक्षण किया जाना प्रसंगप्राप्त है।

काव्य में ये अभिव्यक्ति अपनी अनेक रूप छटाओं व भंगिमाओं को लेकर उपस्थित होती है। यदि भाषा इस प्रकार की अभिव्यक्ति का माध्यम है तो अलंकार, छंद आदि तत्त्व काव्य के उत्कर्षधायक तत्त्व माने जायेंगे। काव्य पर विचार करते समय ये सहज रूप में ही हमारा ध्यान आकृष्ट करते हैं अथवा गम्भीर अध्ययन के लिए हमें आमंत्रित करते हैं।

दिनकर की काव्य-भाषा :

भीतर की आग को यथावत् वाणी देने में 'सचेष्ट' दिनकर अभिव्यक्ति की ईमानदारी से अपने काव्यों को आरम्भ करते हुए क्रमशः सौन्दर्य से अपनी भाषा को संयुक्त कर एवं युग-बोध से समन्वित हो भाषा को नवीनतम भंगिमाओं से परिपूर्ण करने का प्रयत्न करते आ रहे हैं। कवि रेणुका से सामधेनी तक भावों व विचारों की यथावत् अभिव्यक्ति को प्रस्तुत करता है; कुरुक्षेत्र से उर्वशी तक भावों एवं विचारों के उत्कर्ष के साथ भाषा को सौन्दर्य से अभिसिंचित करता है; नीलकुसुम, कोयला और कवित्व एवं परवर्ती रचनाओं में युगबोध से समन्वित हो अपनी भाषा को नवीन भंगिमाओं से संयुक्त करता है। सम्भवतः दिनकर की भाषागत उपलब्धियों पर उक्त तीन तथ्यों के परिवेश में विचार करना अधिक वैज्ञानिक माना जायेगा। तदनुसार दिनकर की भाषा के तीन विकासात्मक रूप हमारे सामने उपस्थित होते हैं :

(१) दिनकर की काव्य-भाषा का प्रारम्भिक रूप जहाँ भाव और विचार प्रमुख हैं।

(२) दिनकर की काव्य-भाषा का सौन्दर्याभिमुखी रूप जहाँ भाव के साथ कवि भाषा-गत सौन्दर्य को भी उचित स्थान देता है; तथा

(३) दिनकर की काव्य-भाषा का वह रूप जहाँ वह नवीन युग-बोध से समन्वित हो गई है।

दिनकर की काव्य-भाषा का प्रारम्भिक रूप :

दिनकर की काव्य-भाषा का प्रारंभिक रूप कवि की भावनाओं, अनुभूतियों आदि को व्यक्त करने के मात्र माध्यम रूप में देखा जा सकता है। कवि ने स्वयं

'चक्रवाल' की भूमिका मे इस तथ्य को इन शब्दों मे अभिव्यक्त किया है—"अभिव्यक्ति की सफाई के लिए जितनी कला अपेक्षित है, उतनी कला का ध्यान, शायद मुझे भी था। परन्तु चुन-चुन कर रगीन और चिकने शब्द बिठाने के लिए मैं अधिक श्रम नहीं करता था। मेरी सारी चेष्टा इस बात पर केन्द्रित थी कि भीतर जो आग उबल रही है वह फूटकर बाहर आ रही है या नहीं।"[1] फलत. दिनकर की भाषा-गौण है : भाव ही प्रमुख हैं। उदाहरणार्थ कुछ पंक्तियाँ प्रस्तुत हैं—

(अ) "थकी बेडी कफस सी हाथ में सौ बार बोली,
हृदय पर झनझनाती टूट कर तलवार बोली।
कलेजा मौन ने जब-जब टटोला इश्तिहों में,
जमाने को तरुण की टोलियाँ ललकार बोली॥"[2]

(ब) "जलना तो था बदा भाग्य में,
कविते ! बारह मास तुझे।
आज विश्व की हरियाली पी,
कुछ तो प्रिये, हरी हो ले॥"[3]

(स) "चैत की हवा मे खूब खिलता गया गुलाब,
बाकी रहा कहीं भी कसाव नहीं तन में।
माली को निहार बोला फिर यो गरूर मे कि,
"अब तो तुम्हारा वक्त और भी करीब है॥"[4]

उक्त तीन उद्धरण क्रमश क्रांति, प्रेम एव दार्शनिकता को प्रस्तुत करते हैं। इन उद्धरणो में कवि की वर्ण्य-वस्तु ही प्रमुख है, भाषा नहीं। परिणामतः भाषा की शुष्कता एवं अभिधात्मकता दर्शनीय है। इस रूक्षता एवं अभिधात्मकता का सम्भवतः इसलिए भी निर्वाह हुआ होगा कि दिनकर अपनी बात को अनावृत रूप मे जनता तक पहुँचाना चाहते थे और जन उद्‌बोधन के लिए यह अनिवार्य भी था। इसी संदर्भ मे यह भी उल्लेखनीय है कि उन्होंने अपनी बात को पूरी सम्प्रेषणीयता देने के लिए अनेक स्थानो पर ग्रामीण शब्दों का प्रयोग भी किया है। प्रेम तथा दर्शन संबंधी कविताओं मे भी यही प्रवृत्ति सक्रमित हो गई है जिससे प्रेम जैसी कोमल और व्यंजनात्मक अनुभूतियाँ भी अभिव्यक्ति के स्तर पर यथोचित माधुर्य को ग्रहण करने में समर्थ न हो सकी।

---

१. 'चक्रवाल', (भूमिका) : पृ० २८।
२. हुँकार (दिगम्बरि) : पृ० २४-२५।
३. रसवन्ती, (सावन में) : पृ० ४६-१०१।
४. रेणुका, (सुन्दरता और काल) : पृ० १०१।

इस प्रकार की प्रवृत्ति से पृथक् जहाँ कहीं यत्किंचित भाषागत कोमलता, अभिव्यक्तिगत मधुरता के दर्शन होते हैं उसका श्रेय छायावादी काव्य को ही दिया जा सकता है जिससे ये रचनाएँ प्रभावित हैं। इस प्रकार की रचनाओं की भाषा भी सीधी रेखा सी सरल।

क्रांति संबंधी रचनाओं में अभिव्यक्तिगत सम्भ्रान्तता का अभाव ही इस युग में कवि की कीर्ति का कारण बन गया है।

दिनकर की काव्य-भाषा का सौन्दर्याभिमुखी रूप :

जिस रूप में दिनकर-काव्य का विकास होता गया कवि के मन में भी भाषागत सौन्दर्य को स्वीकार करने की प्रवृत्ति विकसित होती गई। इस तथ्य को स्वीकार करते हुए कवि स्वयं कहता है—"कविता का अंतिम विश्लेषण उसमें प्रयुक्त भाषा का विश्लेषण है; कविता का चरम सौन्दर्य उसमें प्रयुक्त भाषा की सफाई का सौन्दर्य होता है।"[1]

भाषा की सफाई का सौन्दर्य विशेष रूप से दिनकर के प्रबंध कुरुक्षेत्र, रश्मिरथी एवं गीति-नाट्य उर्वशी में मुखरित है। इसका कारण यह भी हो सकता है कि कवि प्रत्यक्ष कथन की पद्धति के स्थान पर पात्रों के द्वारा परोक्ष रूप से अपनी बात को कहने में प्रवृत्त हुआ है। साथ ही युद्ध एवं प्रेम का कवि युद्ध और प्रेम की स्थूल चर्चा न करके उसकी तत्त्व-चिंता में निम्न दिखाई देता है। परिणामतः भाषा में एक अतिरिक्त प्रौढ़ता के दर्शन होते हैं। डॉ० नगेन्द्र ने कुरुक्षेत्र पर चर्चा करते समय इस बात को स्वीकार किया है।[2]

इस समय तक आते-आते कवि स्थूलताओं के स्थान पर सौन्दर्य एवं प्रेम की सूक्ष्म किन्तु विपुल राशिओं को देखने, समझने का अभ्यस्त हो जाता है जिसका अनिवार्यतः परिणाम होता है भाषा की व्यंजकता व लाक्षणिकता। दिनकर के उस युग के काव्य में विशेषतः 'उर्वशी' में यही भाषा सौन्दर्य प्राप्त होता है। निम्नलिखित उदाहरणों से उक्त तथ्य और भी स्पष्ट हो जायेंगे—

(क) "यों ही, नरों में भी विकारों की शिखाएँ आग-सी,
एक से मिल एक जलती हैं प्रचण्डावेग से।
तप्त होता क्षुद्र अन्तर्व्योम पहले व्यक्ति का,
और तब उठता धधक समुदाय का आकाश भी,
क्षोभ से, दाहक घृणा से, गरल, ईर्ष्या, द्वेष से।"[3]

---

१. पंत, प्रसाद और मैथिलीशरण : पृ० ७१।
२. "कुरुक्षेत्र में आकर दिनकर की कला में एक स्तुत्य प्रौढ़ता आ गई है।" (विचार और विश्लेषण : पृ० १३४)।
३. कुरुक्षेत्र, द्वि० सं० : पृ० १७।

(ख) वह विद्युन्मय स्पर्श तिमिर है पाकर जिसे त्वचा की,
नींद टूट जाती, रोमों में दीपक बल उठते हैं ?
वह आलिंगन अंधकार है, जिसमें बँध जाने पर,
हम प्रकाश के महासिन्धु में उतराने लगते हैं ?"[1]

(ग) "उफ री यह माधुरी ! और ये अधर विकच फूलों-सा !
ये नवीन पाटल के दल आनन पर जब फिरते है,
रोम कूप, जानें, भर जाते किन पीयूष-कणों मे।"[2]

उपर्युक्त उदाहरणों मे तात्विक चिंतन व प्रेम सौन्दर्य आदि के वर्णन प्रसंगों में भाषा पूर्व की अपेक्षा अधिक लाक्षणिक व्यंजक, सम्भ्रान्त एव प्रौढता पूर्ण हो गई है।

उर्वशी मे तो भाषा शुद्ध, शिष्ट, रसानुकूल, प्रभावोत्पादक, रमणीय एवं कलात्मक है।

ऐसा प्रतीत होता है कि हर शब्द काट-छाँट कर रखा गया है। भाषा चित्रात्मक हो गई है और भाव पर बल देने वाले कवि का मन शिल्प-सौन्दर्य में रम गया है।[3]

दिनकर की नवीन युगबोध से समन्वित भाषा :

हिन्दी के नए काव्य मे जिस प्रकार की बोल-चाल सम्मत युग-बोध के अनुकूल भाषा प्राप्त होती है उसी प्रकार के भाषागत कुछ नए प्रयोग कवि की नीलकुसुम, कोयला और कवित्व आदि परवर्ती रचनाओं में भी दृष्टिगत होते हैं। यद्यपि 'उर्वशी' 'नीलकुसुम' के बाद प्रकाश में आई किन्तु 'उर्वशी' की भाषा को देखते हुए उसे पूर्व-परंपरा की एक कड़ी सी मानना उपयुक्त होगा जबकि नीलकुसुम पहले प्रकाशित होकर कवि के नए स्वरानुकूल भाषा-स्वरूप को प्रस्तुत करती है। अतः नए भाव-बोध से समन्वित दिनकर की काव्य-भाषा के संकेत नीलकुसुम मे स्पष्टतः परिलक्षित होते दिखाई देते हैं। यहाँ से दिनकर की भाषा अपेक्षाकृत अधिक प्रतीकात्मक हो गई है उदाहरणार्थ कुछ पंक्तियाँ प्रस्तुत हैं—

"छिलके उठते जा रहे, नया अंकुर मुख दिखलाने को है।
यह जीर्ण लनोवा सिमट रहा, आकाश नया आने को है ॥"[4]

उक्त पंक्तियो मे छिलके, नया अंकुर, जीर्ण लनोवा, आकाश नया आदि शब्द प्रतीक प्रयोग हैं जो दिनकर के आस्थावादी-स्वर को उसकी समग्रता मे प्रकट करते हैं। अनेक अन्य स्थलों पर भाषा बिम्बमय हो गई है।

१. उर्वशी, तृ० अ० : पृ० ४४।
२. वही, वही : पृ० ७२।
३. चक्रवाल, (भूमिका) : पृ० ६६-६७।
४. नीलकुसुम, (दर्पण) : पृ० ८।

यद्यपि दिनकर ने भाषा के नए रूप को स्वीकार तो कर लिया है, किन्तु उनके काव्य में सम्प्रति प्रचलित भाषा के अनेक अशिष्ट प्रयोगों को कहीं भी स्थान नहीं मिल पाया है। यह कहना उचित ही होगा कि दिनकर भाषा के प्रयोग में अपेक्षाकृत अधिक सन्तुलित रहे हैं।

गुण :

दिनकर की भाषा मे निहित गुणों को संक्षिप्त चर्चा करना भी यहां अभीष्ट होगा।

गुणों का प्रयोग मूलतः काव्योत्कर्ष के हेतु माना गया है। आचार्य मम्मट ने माना है कि जिस प्रकार शौर्यादिय आत्मा के उत्कर्ष हेतु होते हैं उसी प्रकार रस के अंग धर्म गुण भी काव्य के उत्कर्ष हेतु होते हैं।[1] मम्मट के इस विचार को इस प्रकार प्रस्तुत किया जा सकता है कि काव्य में किसी भी भाव को अंकित करते समय यदि तदनुरूप गुण की आभा नही है तो वह काव्य सरस-काव्य नहीं बन सकता है।

आचार्यों ने काव्य के तीन गुण माने हैं—माधुर्य, ओज एवं प्रसाद। पं० विश्वनाथ ने इन गुणों की विशेषता निरूपित करते हुए लिखा है—जिसमें अन्तःकरण द्रुत हो जाए वह आनन्द विशेष माधुर्य कहलाता है। चित्त का विस्तार रूप दीपात्व ओज होता है तथा जो चित्त में शीघ्र ही व्याप्त हो जाए उसे प्रसाद कहते हैं।[2] आचार्य दंडी ने काव्यादर्श मे दस शब्द गुण तथा दस अर्थ गुण पृथक्-पृथक् माने हैं। परन्तु मम्मट आदि आचार्यों ने तीन ही गुणों को स्वीकार किया है।

माधुर्य-गुण :

माधुर्य-गुण के कारण रचना को पढ़ने और सुनने से चित्त आनंदित हो जाता है, पिघल-सा जाता है। इस गुण के प्रभाव से कठोरता या विरक्ति के भाव जागृत नही होते। 'ट' वर्ग 'र' और पंचम वर्णों के संयोग से बने शब्द तथा लम्बे-लम्बे वाक्यों का उसमे अभाव रहता है। श्रृंगार, करुण और शांत रसों में इस गुण की प्रधानता होती है।

दिनकर की रचनाओं में विशेष रूप से 'रसवन्ती' और 'उर्वशी' में माधुर्यगुण की प्रधानता है। वैसे छिट-पुट तो सभी कृतियों मे यह गुण उपलब्ध है। रसवन्ती का यह उदाहरण देखिए—

"भीग रहा मीठी उमंग से दिल का कोना-कोना।
भीतर-भीतर हँसी देख लो बाहर-बाहर रोना।
× × ×

१. काव्यप्रकाश, मम्मट : उल्लास ८, कारिका ६६।
२. साहित्य दर्पण, विश्वनाथ : परि० ८, का० २-८।

हँस कर हृदय पहन लेता जब कठिन प्रेम-जंजीर।
खुल कर तब बजते न सुहागिन पावों के मंजीर।
घड़ी गिनी जाती तब निशिभर उँगली की पोरों पर।
प्रिय की याद झूलती है सांसों के हिंडोरों पर।।"[1]

अन्तर्वासिनी, पुरुष-प्रिया आदि रचनाओं में भी माधुर्य-गुण की प्रधानता है। 'उर्वशी' से अनेक उदाहरण प्रस्तुत किए जा सकते हैं।

"फूल-फूल में यही इन्दु मुख आकर्षण उपजा कर।
छिप जाना सौ बार विहँग इंगित से मुझे बुला कर।
रस की स्रोतस्विनी यही प्राणों में लहराती थी।
दाह-दग्ध सैकत को, पर अभिसिक्त न कर पाती थी।
किन्तु, आज आषाढ़, घनाली छाई मतवाली है।
मुझे घेर कर खड़ी हो गई नूतन हरियाली है।।"[2]

माधुर्य-गुण के साथ ही स्वभावतः वैदर्भी रीति या उपनागरिका वृत्ति का होना अपेक्षित रहता है। दिनकर की शृंगार परक रचनाओं में सामान्यतः ये रीति या वृत्ति प्राप्त होती है। कहीं-कहीं इसका अपवाद भी दृष्टिगत होता है। यथा प्रथम उदाहरण में 'कठिन प्रेम-जंजीर,' 'हिंडोरों पर' ऐसे ही पद हैं।

'उर्वशी' में सर्वत्र माधुर्य-गुण के दर्शन किए जा सकते हैं।

ओज-गुण :

ओज-गुण वीर और रौद्र-रस के अन्तर्गत होता है। ओज-गुण में 'ट' वर्ग तथा क, च, त, प वर्गों के प्रथम व तृतीय तथा द्वितीय और चतुर्थ वर्णों के संयुक्त शब्दों की प्रचुरता एवं लम्बे-लम्बे सामासिक शब्दों का प्रयोग होता है।

दिनकर की राष्ट्रीय कवितायें प्रायः ओज-गुण से युक्त हैं। रेणुका की कुछ रचनाएँ, हुंकार, सामधेनी, परशुराम की प्रतीक्षा, कुरुक्षेत्र एवं रश्मिरथी वीर-रस से सभर ओज-गुण की रचनाएँ हैं। वीर-रस का सर्वाधिक परिपाक 'हुंकार' की 'आलोक-धन्वा', 'दिगम्बरि', 'विपथगा,' 'स्वर्गदहन', 'रेणुका' की 'हिमालय', 'सामधेनी' की 'प्रतिकूल' तथा रश्मिरथी के युद्ध प्रसंग में हुआ है। कुछ उदाहरण द्रष्टव्य हैं —

"जरा तू बोल तो सारी धरा हम फूँक देंगे।
पड़ा जो पंथ में गिरि कर उसे दो टूक देंगे।
× × ×

---

१. रसवन्ती, बालिका से वधू : पृ० २०-२३।
२. उर्वशी, द्वि० अंक : पृ० ३१।

जिला फिर पाप को; टूटी धरा यदि जोड़ देंगे।
बनेगा जिस तरह, उस सृष्टि को हम फोड़ देंगे।।"[1]

तथा—

"इस ओर वर्ण मार्तण्ड-सदृश।
उस ओर पार्थ अन्तक समान।
रण के मिस मानो स्वयं प्रलय।
हो उठा समर में मूर्तिमान।
जूझना एक क्षण छोड़ स्वतः।
सारी सेना विस्मय विमुग्ध।
अपलक होकर देखने लगी।
दो शिति-कण्ठों का विकट युद्ध।।"[2]

उर्वशी के अंतिम अंक मे क्रुद्ध पुरूरवा जब देवताओं से युद्ध के लिए तैयार होने का जो भाव व्यक्त करता है उसमें ओज-गुण प्रकट हुआ है।

"लाओ मेरा धनुष, यहीं से बाण साध अम्बर मे।
अभी देवताओ के वन मे आग लगा देता हूँ।
फेंक प्रखर, प्रज्वलित, वह्निमय विशिख दृप्त मघवा को।
देता हूँ नैवेद्य मनुजता के विरुद्ध संगर का।।"[3]

ओज गुण के प्रसगो में गौणी-रीति या परुषावृत्ति का समुचित निर्वाह हुआ है। सम्भवतः इस सुन्दर निर्वाह का कारण दिनकर की वह मूल संवेदना रही है जिससे अभिप्रेत हो उन्होंने अपने काव्य का वृहद् अंश रचा है।

प्रसाद गुण :—प्रसाद गुण मे विशिष्टता यही है कि कवि का भाव पाठक को बिना किसी दुरूहता के समझ मे आ जाये। भावार्थ को पाठक सरलता से हृदयंगम करले। मूलतः करुणाद्र संदेश तथा प्रेमातिशय्य-द्योतक बातें प्रसाद-गुण से परिपूर्ण होती हैं। समास-रहित ऋगु पदावली इस गुण की विशेषता होती है।

दिनकर—जैसा कि भाषा के संदर्भ मे कहा जा चुका है—सरल भाषा के कवि हैं। और जनता का कवि सरल ढंग से ही अपने गीतों को जन-जन तक प्रवाहित करता रहा है। उनका प्रसाद-गुण अन्य गुणों का सहारा ही बन गया है। सावित्री सिन्हा ने ठीक ही कहा है—

"एक वाक्य में यह कहा जा सकता है कि दिनकर की आत्मा का ओज और

---

१. हुंकार, दियम्बरि : पृ० २६।
२. रश्मिरथी, स० सर्ग : पृ० १४३।
३. उर्वशी, पं० अंक : पृ० १३८।

माधुर्य सामान्यतः प्रसाद के सहारे ही व्यक्त हुआ है। इसमें अपवाद हैं, लेकिन उनकी संख्या बहुत कम है।"[1]

यद्यपि दिनकर की भाषा में माधुर्य एवं ओज गुणों का वैशिष्ट्य है तथापि प्रसाद-गुण ही उनकी भाषा का सौन्दर्य है। दिनकर की भाषा में अल्पमात्रा में प्रयुक्त तत्सम शब्दावली एवं रहस्यात्मक भावों से युक्त रचनाओं में प्रयुक्त भाषा के झिलमिल आवरण को अपवाद मान लिया जाये तो उनकी भाषा सर्वत्र प्रसाद-गुण-युक्त है। सहज बोध-गम्यता उसकी विशेषता है।

निष्कर्षतः यह कहना ही योग्य है कि दिनकर के काव्यों में गुण भाषा को प्रभावपूर्ण रूप प्रदान करके ही काव्योत्कर्ष में सहायक हुए हैं।

शब्द-समूह :

शब्द भाव-प्रकाशन के मूल माध्यम हैं। कविता की भाषा में उपयुक्त शब्दों का चुनाव महत्त्वपूर्ण होता है। कविता के अन्तर्गत शब्द भावों को ध्वनित करने वाले माध्यम हैं और इस दृष्टि से कवि उन्हीं शब्दों को चुनता है, जो भाव और विचार के साथ मेल खाते हों और जिनमें अभिव्यंजना-शक्ति हो—दिनकर के विचार इस दृष्टि से उल्लेखनीय हैं—'शब्द-चयन की कसौटी पर कवि-कला की जैसी परीक्षा होती है, वैसी शायद अन्यत्र नहीं हो सकती।······ शब्दों का स्वभाव है कि प्राचीन होते-होते वे अपनी ताजगी, शक्ति और सुन्दरता खो बैठते हैं। अधिक प्रयोग से उनमें एकरसता आ जाती है और उनका अर्थ-वृत्त संकुचित हो जाता है। कवि नवीन प्रयोगों के द्वारा उनके सौन्दर्य और शक्ति को पुनरुज्जीवित करता है। भाषा पर शब्द के अभाव का लाछन लगा कर जो कवि निरंकुशता का दावा करता है वह शक्तिशाली नहीं हो सकता। उसकी प्रतिभा सीमित है। अतएव, उसे दुर्बल कहना चाहिए। सच्चे कवि नए शब्द भी गढ़ते हैं और प्राचीन शब्दों की पूरी शक्ति को भी नवीन तथा प्रतिभापूर्ण प्रयोगों के द्वारा जागृत और प्रत्यक्ष करके भाषा का बल बढ़ाते हैं। शब्दों के रूप, गुण और ध्वनि से जितना सम्बन्ध कवि को है, उतना किसी अन्य साहित्यकार को नहीं। अतएव, भाषा की अभिव्यंजना-शक्ति की वृद्धि कवि को करनी ही चाहिए, जिसमें यह शक्ति नहीं है, उसे कवि कह कर हम कवि-प्रतिभा का अनादर करते हैं।"[2]

कवि का शब्द-भंडार जितना समृद्ध होगा उतनी ही उसकी भाषा-शैली समृद्ध मानी जायेगी। शब्द-चयन का ज्ञान कवि की प्रतिभा का परिचायक है। कवि के ही शब्दों में कहें तो—"शब्द-चयन ही कविता की वास्तविक कला है और इसके बिना कविता में कलात्मकता आ ही नहीं सकती।"[3] दिनकरजी के विचारानुसार शब्द-

१. युगचारण दिनकर, सावित्री सिन्हा : पृ० २३०।
२. मिट्टी की ओर, दिनकर : पृ० १५१
३. वहीं, वही : पृ० १५१-१५२।

चयन की कला की सर्वाधिक पहचान विशेषणों के प्रयोग में होती है—"विशेषणों के प्रयोग के समय शब्द चुनने के क्रम में ही कवि को भाषा के स्रष्टा का गौरव-पूर्ण पद प्राप्त होता है।"[1] काव्य की भूमिका में कवि ने विशेषण की महत्ता पर जोर दिया है। इस दृष्टि से 'उर्वशी' का एक उदाहरण प्रस्तुत है—

"जहाँ शीतल हरित, एकान्त मंडप में प्रकृति के
कंटकित युवती युवक स्वच्छंद मिलते हैं।"[2]

इन पंक्तियों में 'कंटकित' विशेषण युवक-युवतियों की मनोदशा को संकेतित करता है और शीतल, हरित एवं एकांत विशेषण प्रसंग को एक विशिष्ट प्रकार की मधुरता प्रदान करते हैं जो प्रसंगोचित हैं। इसी प्रकार के विशेषणों से भाषा में व्यंजकता मुखर हो उठती है। कवि के काव्यों में मे अनेक उदाहरण प्रस्तुत किए जा सकते हैं।

कवि वह शब्द शिल्पी है जो शब्दों को ग्रहण कर उन्हें काट-छाँट कर इस खूबी से प्रयुक्त करता है कि भाषा का सौन्दर्य निखर उठता है। उसे यह पूर्ण ज्ञात होता है कि कौन-सा शब्द कितना वजनदार, सार्थक और कहाँ उपयुक्त है। कवि के लिए यह अत्यधिक आवश्यक है कि वह शब्दों की व्युत्पत्ति उसके विभिन्न अर्थ और उनकी प्रकृति के ज्ञान से पूर्ण-रूपेण परिचित हो।

मूल रूप से शब्दों का प्रयोग चार प्रकार से होता है—तत्सम, तद्भव, देशज तथा विदेशी।

दिनकर की रचनाओं में सभी प्रकार के शब्द प्रयोग द्रष्टव्य हैं। हम क्रमशः शब्द-समूह की चर्चा करेंगे।

तत्सम :—तत्सम शब्दों के अन्तर्गत प्रायः प्रचलित एवं अप्रचलित दो प्रकार के शब्द प्रयोग दिनकर जी की रचनाओं मे मिलते हैं। अप्रचलित शब्दों का प्रयोग प्रायः नगण्य ही है।

दिनकर जी द्वारा प्रयुक्त तत्सम शब्दों की विशेषता यह है कि वे भावों की प्रेषणीयता में साधक ही बनते हैं। कवि ने क्रांतिवादी और प्रेम-परक रचनाओं में तत्सम शब्दावली का प्रचुर मात्रा में प्रयोग किया है। जिस प्रकार छायावाद के कवि निराला ने तत्सम शब्दावली के आधार पर ओज-गुण को प्रस्तुत किया, उसी प्रकार दिनकर ने तत्सम के माध्यम से ओज उत्पन्न करने की चेष्टा की है। कवि ने राष्ट्रीय कविताओं में जहाँ-जहाँ इतिहास और पुराण को आधारभूमि के रूप में स्वीकृत किया है, वहाँ-वहाँ वह अतीत के प्रस्तुतिकरण के हेतु तत्सम शब्दों का प्रयोग

१. मिट्टी की ओर, दिनकर : पृ० १५०।
२. उर्वशी, तृ० अ : पृ० ४७।

रसवती की 'नारी', 'बालिका से वधू', आदि कविताओं का सौन्दर्य उसकी तद्भव शब्द योजना के कारण ही विशेष है—

"माँ की ढीठ दुलार, पिता की ओ लाजवंती भोली
ले जायेगी हिया की मणि को, अभी पिया की डोली।"[1]

यहाँ घृष्ठ, लाजवती, प्रिय या हृदय शब्द जिस मार्मिकता को उत्पन्न नहीं कर सकते थे वे ढीठ लाजवती, हिया और पिया ने उत्पन्न कर काव्य के सौन्दर्य को मूर्त किया है। सरल ग्रामीण नव-वधू का रूप और विदा के क्षणों का चित्र साकार हो उठा है। प्रायः पूरा काव्य इसी प्रकार के शब्दों के कारण सुन्दर चित्र बन गया है। कवि द्वारा प्रयुक्त मुख्य तद्भव शब्दों की संक्षिप्त सूची ही उनके तद्भव शब्दचयन की विशिष्टता को अंकित करेगी—

रैन, निठुर, आँसू, सेंदुर, दूब, थोकना, नीद, पुराना, सपना, धरती, बरमान, उमर, पूरब, करतब, झकार, धीरज, मौत, भँवर, सिगार, ब्याह, नैन, हिया, पिया आदि शब्दों को लिया जा सकता है। कवि का सर्वाधिक कौशल तो यह है कि वह इन तद्भव शब्दों को जबरदस्ती नहीं लाता बल्कि ये शब्द प्रसंगानुकूल स्वय रूप ग्रहण करते जाते हैं और प्रयुक्त होने के पश्चात् अपने सौन्दर्य से भाषा और भावों की सुन्दरता को बढ़ाते हैं।

देशज :—तद्भव शब्दों की भाँति कवि भाषा की सहजता और सरलता के लिए स्थानीय या देशज शब्दों का प्रयोग करता है। यद्यपि ऐसे शब्द-प्रयोग अर्थ की दृष्टि से सामान्य ही होते हैं परन्तु इस प्रकार के प्रयोग द्वारा कवि वातावरण को सजीव और प्राकृतिक बनाता है। भाषा में जनपदीय सहजता और ग्राम्य-जीवन के यथार्थ का चित्र बड़ी सरलता से अंकित होता है। पाठक एक तो स्थानीय शब्दों से परिचित होते हैं और साथ ही उन्हें ग्राम्य-संस्कृति का परिचय भी मिलता है।

देशज शब्दों के प्रयोग भी दिनकर ने बड़े कौशल से किए हैं। इन प्रयोगों से उनकी भाषा में अनुभूतिपरक आत्मीयता का स्पर्श दृष्टव्य है। कवि जैसे भाषा की कृत्रिमता के बंधनों को तोड़कर उसके ग्रामीण सहज-सौन्दर्य रूप को अपना लेता है—

"चौपालों में कृषक बैठ गाते—कँह अटके बनवारी ?"[2]

में कवि गाँव का वह दृश्य खड़ा कर देता है जहा भोले ग्रामीण किसान शाम को इकट्ठे बैठ कर कृष्ण के गीत गा रहे हैं।

इसी प्रकार गाँव की एक प्रोषित-भर्तृका का चित्र कितना सजीव हो उठा है—

---

१. रसवन्ती, (बालिका से वधू) : पृ० २१।
२. हुंकार, (वन फूलों की ओर) : पृ० १२।

"भैया ! लिख दे एक कलम खत भी बालम के जोग।
चारो कोने खेम कुशल मांझे ठा मोर वियोग ॥"[1]

कवि ने खत, मो बालम के जोग, 'खेम-कुशल मांझे ठा मोर' जैसे ग्रामीण शब्दों के प्रयोग द्वारा उस भोली युवती का चित्रांकन किया है जो नन्हें बालकों से जो अभी क़लम ही सीख रहे हैं—पत्र लिखने की प्रार्थना करती है। जो अपने वियोग की बातें लिखवाने के लिए उत्सुक है।

कवि ने अनेक देशी शब्दों का प्रयोग अपनी रचनाओं में किया है। उदाहरण के लिए उनके कुछ स्थानीय शब्दों की सूची प्रस्तुत की जा सकती है।

मिराना, हमर दुखकन ओर, बेर-बेर, छिगुन-छिगुन, बोले रे, घोले रे, घर देना, टेरना, बोरना, बिरवा, गुमरते, बिसूरना, भोर, पपनी, पोखरा, ओरी, बिहान, जोहना, नाहीं, बिमात, मिस, पैंजनी, पगा, बरजोरी, पाहुन, पौर, तनक, जुगाये, गगरी, झरवेरों, हंडुली, अघोर आदि अनेक ग्रामीण शब्दों का प्रयोग कवि ने किया है।

ग्रामीण शब्दों की बहुलता के कारण उन पर स्थानीय शब्दों के प्रयोग का दोष भी लगाया है परन्तु ये शब्द दोष न बनकर कवि की शब्द-प्रयुक्ति-कुशलता के परिचायक ही बने हैं। ऐसे प्रयोगों से कवि की कविता वास्तविकता का नैकट्य अधिक प्राप्त कर सकी।

कवि दिनकर शब्द प्रयोगों में सर्वप्रथम भावानुकूलता पर ध्यान देते हैं। यही कारण है कि उनके शब्द समूह में तत्सम, तद्भव और स्थानीय सभी प्रकार के प्रयोग बड़ी कुशलता से हुये हैं।

विदेशी शब्द समूह :

जिस प्रकार तद्भव और देशी शब्द कवि की कविता में स्वाभाविक ढंग से अवतरित होते हैं उसी प्रकार विदेशी शब्द भी युग-प्रभाव और अन्य संस्कृतियों के परिचय में आने से भाषा में प्रयुक्त होकर स्वाभाविक रूप ग्रहण कर लेते हैं। वे बाहर से आरोपित नहीं लगते और न भाषा के सौन्दर्य को नष्ट ही करते हैं।

दिनकर ने अपनी कविताओं में स्वतः आने वाले विदेशी शब्दों से घृणा नहीं की बल्कि उन्हें सहजता से अपनाया है।

दिनकर के काव्यों में मुख्य रूप से दो प्रकार के विदेशी शब्द प्रयुक्त हुए हैं— १. अरबी-फारसी के शब्द, २. अंग्रेजी के शब्द।

अरबी-फारसी शब्द :

कवि दिनकर जैसा कि हम जानते हैं—उस युग के कवि हैं जब देश स्वतंत्रता के लिए तड़प रहा था। कवि अपनी राष्ट्रीय हुंकृति से देश को जागृति का मंत्र फूंक

१. हुंकार वन फूलों की ओर : पृ० १२।

रहा था। कवि एक ओर हिन्दी के राष्ट्रवादी कवियों से प्रभावित तो था ही—वह उर्दू के राष्ट्रीय-कवि जोश, इक़बाल, जफ़र जैसों से भी प्रभाव ग्रहण कर रहा था। दिनकर के व्यक्तित्व को प्रभावित करने वाले साहित्यकारों के अन्तर्गत हम इस कथन की स्पष्टता कर चुके हैं। इस संदर्भ के कारण भी हम यह देख सकते हैं कि कवि ने क्यों अरबी-फारसी के शब्दों का प्रचुरता से प्रयोग किया। अरबी-फारसी की शब्दावली से कवि की भाषा को सरलता प्राप्त हुई। दिनकर के काव्य मात्र हिन्दी-प्रेमियों की निधि न बनकर देश की जनता की धरोहर बन गए। हिन्दी के साथ अरबी-फारसी के शब्द प्रयोग में उनकी भाषा को गंगा-जमुनी रूप प्राप्त हुआ। इससे दूसरा लाभ यह हुआ कि राष्ट्रीय-भावना, हिन्दू-मुस्लिम-एकता को बल मिला।

राष्ट्रीय कविताओं में जहाँ जोशपूर्ण अभिव्यक्ति हुई है—उर्दू शब्दों का प्रयोग कवि ने किया है।

> "घनी बेड़ी कफस की हाथ में सौ बार बोली,
> हृदय पर झन झनानी टूट कर तलवार बोली।
> कलेजा मौत ने जब-जब टटोला इम्तिहाँ में,
> जमाने को तरुण की टोलियाँ ललकार बोलीं।"[1]

इसी प्रकार प्रेम भावनाओं के परिचय में भी उर्दू शब्दों का प्रयोग मिलता है—

> "कुछ नयी पैदा रगों में जाँ करे
> कुछ अजब पैदा नया तूफाँ करे।
> ×　　　×　　　×
> बे-सरो-सामाँ रहे, कुछ गम नहीं
> कुछ नहीं जिसको, उसे कुछ कम नहीं।"[2]

'द्वन्द्वगीत' की अनेक उपदेशात्मक उक्तियों में अरबी-फारसी शब्दावली का प्रयोग हुआ है—

> "नूर एक वह रहे तूर पर, या काशी के द्वारों में;
> ज्योति एक वह खिले चिता में, या छिप रहे मजारों में
> बहती नहीं उमड़ कूलों से, नदियों को कमजोर कहो,
> ऐसे हम, दिल भी कैदी हैं, ईंटों की दीवारों में।"[3]

---

१. हुंकार, (दिगम्बरि) : पृ० २४-२५।
२. रेणुका, (प्रेम का सौदा) : पृ० ६।
३. द्वन्द्वगीत : पृ० ३७।

स्वतंत्रता-पश्चात् के व्यंग काव्यों में भी अरबी-फारसी शब्दों का प्रयोग दृष्टव्य है। कवि द्वारा प्रयुक्त उर्दू-फारसी के शब्दों की संक्षिप्त सूची इस प्रकार है—जाँ, तूफाँ, बे-सरो-सामा, बेदर्दी, मुहब्बत, हरम, मेहताब, बिहिश्त गुल तुरबत, रवानी, मुन्तजिर, कफस, इश्तिहार, दरी, कयामत, आशिक, गुलची, बदनसीब, उम्मीद, आरजू, जमीं, शमा, कुरबानी, जन्नत, जोस्त, शबनम, मकसद, गुल्म, अजनबी, ईजाद, रूह मानम, कफन, बेनाज़ी, खामखयाली, बुत, मुल्क, गरेबी, महफिल, ख्वाब, ताजों, जश्न आदि।

उपर्युक्त शब्दावली में जाँ, तूफाँ, मुहब्बत, कयामत, आरजू, उम्मीद आदि शब्द भारतीय जीवन में प्रचलित हैं; जबकि तुरबत, गुलची, कफस, ताजा आदि शब्द जीवन से अधिक सम्पृक्त नहीं हैं। इनका प्रयोग उर्दू की साहित्यिक भाषा में ही प्रचलित है।

अंग्रेजी-शब्द :

जिस प्रकार उर्दू-फारसी के लोक-प्रचलित शब्द हिन्दी-साहित्य में अपनाये गये, उसी प्रकार जन-जीवन में प्रचलित सामान्य अंग्रेजी में प्रयुक्त विदेशी शब्द भी हिन्दी के काव्यों में प्रयुक्त हुए है। ऐसे शब्दों के प्रयोग हम आधुनिक साहित्य में भारतेन्दु-युग से ही देख सकते हैं। यद्यपि स्वतंत्रता से पूर्व विदेशी शब्दों का प्रयोग नगण्य ही रहा, परन्तु स्वातंत्र्योत्तर काव्यों में जिस प्रकार काव्य-विधा में पर्याप्त परिवर्तन और मोड आये उसी प्रकार शब्दों के प्रयोगों में भी पर्याप्त प्रयोग होते रहे। प्रयोगवादी या प्रगतिवादी या नई कविता सभी में अंग्रेजी से युक्त शब्द प्रयोगों की बहुलता हो गई।

दिनकर की कुरुक्षेत्र परवर्ती रचनाओं में भाषा पर अंग्रेजी के शब्द-समूह का प्रभाव परिलक्षित है। कवि ने राष्ट्रीय रचनाओं के उपरान्त अन्य प्रतिपाद्य विषयों को अपनाया और साथ ही विदेशी शब्दावली को भी स्वीकार किया। मुख्यरूप से नील-कुसुम, नए सुभाषित, नीम के पत्ते, परशुराम की प्रतीक्षा, कोयला और कवित्व, दिल्ली आदि संग्रहों में ऐसे शब्दों का भाषा पर प्रभाव है। कवि दिनकर ने ऐसे शब्दों को अपनाकर हिन्दी की व्यंजना-शक्ति को बढ़ाया ही है। दिनकर द्वारा प्रयुक्त विदेशी शब्द भी काव्यों में इस प्रकार घुलमिल गये हैं मानों वे हिन्दी के ही शब्द हों। हम दैनिक जीवन में जिन शब्दों का प्रयोग हिन्दी की तरह मुक्त-रूप से करते हैं—प्रायः वैसे ही प्रयोग कवि की कविताओं में हुए हैं।

दिनकर साहित्य में प्रयुक्त अंग्रेजी के माध्यम से आने वाले विदेशी शब्दों की सूची इस प्रकार है—कर्नाट, परेड, एटमबम, मीटींग, कमेटी, ड्राईवर, कम्युनिस्ट, सोशलिस्ट, ओयसिस, फुटपाथ, बालडान्स, डेमोक्रेसी, लाजिक, होमटाम्क, आर्केस्ट्रा, सोनो, श्राटोग्राफ, सैन्ट्रलहाल, केबीनेट, एक्वार्की, रेल्वे, स्लीपर आदि।

अँग्रेजी शब्दों का प्रयोग प्रायः कवि ने मनोविश्लेषणात्मक राजनैतिक और व्यंगात्मक कविताओं में किया है।

दिनकर की भाषा पर विविध शब्द-रूपों का प्रभाव श्रीमती सावित्री सिन्हा ने उनकी भाषा में लचीलेपन का गुण माना है। कवि सदैव भाषा के वाह्य-रूप से अधिक उसके भावों के अनुरूप शब्दों का चयन करता है—फलतः शब्द-चयन में उसे प्रयत्न नहीं करना पड़ता, वे स्वयं-सिद्ध से अवतरित होते जाते हैं। दिनकर मूल्य अभिव्यक्ति की सफाई के कायल रहे हैं, और इसी सफाई के लिए वह शब्दों के तोड़ मरोड़ में भी नहीं हिचकता फिर चाहे उसकी रसवनी रसवंती हो जाये या सामिधेनी का सामधेनी के रूप में प्रयोग क्यों न हो।

निष्कर्षतः दिनकर के शब्द समूह का अध्ययन करने के पश्चात् यह कहा जाना योग्य ही है कि दिनकर शब्द प्रयोग में कुशल कलाकार हैं। यह सच है कि प्रारंभिक शब्द-चयन परवर्ती कृतियों की भांति सबल एवं गरिमायुक्त नहीं है, परन्तु कवि की भाव प्रौढ़ता के साथ शब्द सामर्थ्य में भी अभिवृद्धि होती गई। प्रारंभिक 'रेणुका' 'रसवनी' जैसी रचनाओं में छायावाद प्रभावित तत्सम शब्दावलि प्रभाव मुक्त होकर दिनकर की अपनी शब्दावली बनती गई। प्रारंभ में शब्द-चयन से अधिक भावों की अभिव्यक्ति को विशिष्टता देने वाले कवि ने लगता है भाषा के सौन्दर्य पर भी ध्यान देकर योग्य विषयानुरूप सबल शब्द-शिल्प पर भी ध्यान केन्द्रित किया।

कवि ने शांति, सौन्दर्य एवं रहस्यात्मक विषयों के अनुरूप तत्सम शब्दावली का प्रयोग किया। साथ ही तद्भव शब्दों की सहजिकता से काव्य को सहज बोधगम्य बनाया। कवि दिनकर द्वारा प्रयुक्त देशज शब्द कहीं पर भी प्रश्न चिन्ह नहीं बनते। उनका प्रयोग जैसे सजीव ग्राम्य वातावरण प्रस्थापित करता है।

विदेशी शब्दों में अरबी, फारसी एवं अंग्रेजी के प्रायः प्रचलित शब्दों का प्रयोग ही कवि ने किया है। उर्दू-फारसी के शब्द प्रयोग में भी सहजता उसके सौन्दर्य में वृद्धि करते हैं। इस प्रकार की शब्दावली से राष्ट्रीय भाषा-ऐक्य को भी जैसे गति प्राप्त हुई।

नए युग के अनुरूप अंग्रेजी के प्रचलित शब्द प्रयुक्त हुए हैं। कुछेक अप्रचलित शब्दों को छोड़कर वे ही शब्द प्रयुक्त हैं जिनका प्रयोग हम स्वाभाविक रूप में करते हैं। शब्दों को कवि ने ठोककर बैठाने का प्रयास नहीं किया।

मुहावरे और लोकोक्तियों का प्रयोग : प्रत्येक कवि भाषा में मुहावरों एवं लोकोक्तियों का प्रयोग प्रायः भाषा में वक्रता, विदग्धता तथा जटिल भावों की मार्मिक अभिव्यक्ति के लिए करता है। मुहावरों और लोकोक्तियों के प्रयोग बड़े ही प्रभावशाली होते हैं क्योंकि इनका संबंध सीधा जन-मन के साथ होता है जिसमें जीवन की स्थापित मान्यताओं का प्रतिबिंब झलकता है।

कवि जनमानस का चितेरा होता है वह जनता की भावनाओं को, उसकी मान्यताओं को जितने आकर्षक ढंग से प्रस्तुत करता है—भाषा का रूप उसकी सृजन उतना ही स्थायी और लोक जीवन के निकट होता है। कवि मुहावरों और लोकोक्तियों के प्रयोग द्वारा भाषा को दुरुहता से बनाया है साथ ही उसमे लोकजीवन में प्रचलित प्रयोगों द्वारा उसे लोकभाषा की श्रेणी मे प्रस्थापित होते है। ऐसे प्रयोग प्राय: प्रत्येक युग के साहित्य में उपलब्ध हैं। कवि के कुछ कथन ही कहावत बन जाते हैं।

आधुनिक काव्य-धारायें और विशेषकर उस काव्य-धारा मे जिसमे राष्ट्रीय, सामाजिक जीवन को प्रतिपाद्य के रूप मे स्वीकार किया है, जो जनजीवन के विशेष निकट है—उसमें मुहावरो और लोकोक्तियों का प्रयोग किया गया है। कुछ कवि के कथन ही कहावत के रूप मे बन जाते है।

दिनकर का काव्य जनजीवन के निकट है और राष्ट्रीयता से युक्त होने के कारण उसमे मुहावरों और लोकोक्तियों का प्रयोग शब्द संकलन की भांति बड़ी ही सफलता से हुआ है जो कवि की अनुभूति की अभिव्यक्ति की स्वच्छता और तीव्रता मे निखार ला देता है। श्रीमती सावित्री सिन्हा ने योग्य ही कहा है—

"दिनकर के मुहावरे अनुभूति के साथ एकात्म होकर प्रयुक्त हुए हैं अथवा यह कहना अधिक उपयुक्त होगा कि अधिकतर ऐसे स्थलों पर वे भाव के अंग बनकर आए हैं जहां विषय-वस्तु और अभिव्यंजना का पार्थक्य मिट गया है।"[1]

दिनकर की कविता जहां ग्राम-जीवन मे विहार करती है—वहां कवि ने ग्रामीण मुहावरों का ही प्रयोग किया है। इसी प्रकार प्रेम, शौर्य, व्यंग आदि प्रसगों मे कवि ने तदनुकूल मुहावरों का प्रयोग किया है—जिससे भाषा का सौन्दर्य बढ़ गया है और अभिव्यक्ति की मार्मिकता मे वृद्धि हुई है।

ऐसे ही सशक्त मुहावरों एवं लोकोक्तियों के उदाहरणों द्वारा हम कवि की इस प्रयोग शक्ति का परीक्षण करेंगे।

"ले अँगड़ाई हिल उठे धरा, कर निज विराट् स्वर मे निनाद।"[2]
"वीचि-दृगों से हेर-हेर, सिर धुन धुन कर रह जाती है।"[3]
"पछताते हैं वधिक पाप का घड़ा हमारा फोड़ चले।"[4]
"जड़ को उड़ने की पांख दिए जाता हूँ,
चेतन के मन को आंख दिए जाता हूँ।"[5]

---

१. युगचारण दिनकर : सावित्री सिन्हा : पृ० २२५।
२. रेणुका : पृ० ८।
३. वही : पृ० २७।
४. वही : पृ० ३६।
५. हुंकार : पृ० १३।

"अपनी ही उंगली पर जो खंजर की जंग छुड़ाते हैं।"[1]
"टोकर मार फोड़ दो उसको जिस बरतन में छेद रहे।"[2]
"विजयी पुरुष के नाम पर कीचड़ नयन का डालना।"[3]
"पर दुर्योधन की दुराग्नि नंगी हो नाच रही थी।"[4]
"पतिया फूलों की सुकुमार, गई हीरे से दिल को चीर।"[5]
"शब्द नहीं है, यह गूंगे का स्वाद अगोचर सुख है।"[6]
"रोज ही आकाश चढ़ते आ रहे हैं वे।"[7]
"और तब से ही ये पड़े स्वर्ग में दूध बतासे खाते हैं।"[8]
"तुम यहां फूंकते हो यहां, गांवों में नाले जारी हैं।"[9]
"न माया ही जिन्हें मिलती, न जिनको राम मिलते हैं।"[10]
"गरदन पर किसका पाप वीर ढोते हो।"[11]

उद्धरण सख्या १ मे 'अगड़ाई लेना' मुहावरे का सशक्त व व्यंजनामय प्रयोग हुआ है। सामान्यत. इस मुहावरे का अर्थ होता है— आलस्य भग करना', किन्तु यहाँ वाच्यार्थ से आगे बढ़कर यह मुहावरा व्यग्यार्थ तक सक्राम्त हो गया है और 'नवजागरण', 'क्रांति' आदि का भाव-बोध भी करा पाता है। ऐसा प्रतीत होता है जैसे हिमालय स्वय अगड़ाई लेकर प्रत्यावर्तित हो खड़ा हो गया हो। भाषा की व्यजकता मे इस प्रयोग ने प्राण डाल दिये है।

उदाहरण न० २ मे कवि गगा की लहरो की निराशा को 'सिर धुन-धुन कर' मुहावरे द्वारा व्यक्त करता हुआ इस तथ्य को स्पष्ट करता है कि कभी इसी देश के समुद्रगुप्त जैसे वीर गगा के जल मे तलवारें धोते थे, आज चारो ओर कुहासा छाया है और लहरें भी मानो रो रही हैं।

तीसरे उदाहरण मे प्रयुक्त मुहावरे के द्वारा कवि ने 'बागी' जो वास्तव मे देश की स्वतन्त्रता के लिए क्रान्तिकारी बनकर शोषकों के अत्याचारो को कुचल कर आगे बढ़ रहा है, के हृदय का उत्साह तथा अत्याचारी का अनुताप व्यक्त कर गागर में सागर भर दिया है।

१. हुंकार . पृ० २७। २. द्वन्द्वगीत : पृ० ८८।
३ कुरुक्षेत्र : पृ० ६। ४. कुरुक्षेत्र . पृ० ६१।
५ रसवती : पृ० १।
६. उर्वशी पृ० ७०।
७. सामधेनी : पृ० २१।
८. नीम के पत्ते : पृ० २४।
९. दिल्ली : पृ० १६।
१०. नील कुसुम : पृ० ३३।
११. परशुराम की प्रतीक्षा : पृ० ४।

चतुर्थ उदाहरण में क्रमशः 'पांख देना' और 'आंख देना' का अर्थ इस ध्वनि को प्रकट करता है कि वीर इस देश के सोते हुए (आलस्य में लीन) लोगों को पंख देकर उडने की अर्थात् जागृत होने की एव सोचने समझने की शक्ति प्रदान करना चाहता है। ऐसा प्रतीत होता है कि देश का उत्साह तथा सृष्टि नया रूप ग्रहण करने को छटपटा रहे है।

पाचवें उदाहरण मे 'खजर की जग छुडाना' एक तरफ दीर्घकालीन आलस्य को तोडने की तथा दूसरी तरफ उसके लिए स्वय अपना ही बलिदान दे डालने की भावना को चाक्षुप कर देना है।

छठे उदाहरण मे कवि छेद युक्त बर्तन को फोड देने की बात द्वारा यही तो व्यजित करता है कि निकम्मी वस्तु का नाश करना ही श्रेयस्कर है, तथा देश के लिए जो सर्वथा निकम्मे अर्थात् गद्दार है—उनका विनाश ही योग्य है।

'नयन का कीचड डालना' प्रयोग युधिष्ठिर की आत्मग्लानि को रूपायित करने मे अत्यन्त सक्षम है, जिसमे युधिष्ठिर को यह बोध होता है कि सहार-युक्त विजय उनकी अपनी ओर घृणा की दृष्टि से देख रही है।

उदाहरण आठ मे 'दुराभि का नगा नाच' प्रयाग द्वारा दुर्योधन की मलीन मनोवृत्ति के उद्घाटन तक ही सीमित न रहकर उसकी स्वार्थ लोलुपता एव महाभारत के सहार की कारणभूत वृत्तियो का चित्रण भी कर लेता है।

उदाहरण संख्या नौ में वाच्यार्थ की दृष्टि से फूल की पत्ती हीरे को नही चीर सकती, परन्तु कवि व्यजना द्वारा इस कथन को पुष्ट करता है कि प्रेम की कोमलता हिंस्रमानव के कठोर दिल को भी चीर डालती है—अर्थात् नम्र बना देती है। प्रेम के महत्त्व को प्रतिपादित करने मे यह उक्ति बडी सार्थक हुई है।

इसी प्रकार 'उर्वशी' मे प्रेम को 'गूगे का स्वाद' मुहावरे द्वारा प्रस्तुत कर कवि प्रेम की शक्ति तथा उसकी अनिर्वचनीयता को भी सिद्ध करता है।

ग्यारहवें उदाहरण में 'आकाश चढने' के वाच्यार्थ से कवि इस प्रगतिवादी विचारधारा को अंकित करता है कि आज का प्रगतिशील मानव उत्तरोत्तर प्रगति कर रहा है। इसमें मानव का प्रगतिवादी संकेत है।

बारहवें और तेरहवें उदाहरण मे कवि क्रमशः उन नेताओ पर व्यंग कर रहा है जो स्वतन्त्रता के पश्चात् जनता के दुख-दर्द को भूलकर आनन्द मना रहे हैं। जो शहरों में चैन की वंशी फूंककर, गावो की दरिद्रावस्था के प्रति आँख-मिचौनी खेल रहे हैं।

'माया मिली न राम' कहावत का प्रयोग ऐसे प्रसंग पर किया जहाँ व्यक्ति दोनों ओर के लाभ को लालायित रहता है, मगर उसकी स्थिति धोबी के कुत्ते सी हो

जाती है। 'नर्तकी' के जीवन के इसी पक्ष को वर्णित करते हुए कवि यहाँ इस कहावत का प्रयोग कर यह स्पष्ट करता है कि कला को देख प्रसन्न होने वाले उसका मूल्य घृणा में ही व्यक्त करते हैं। कला को बेचकर भी वह कुछ नहीं पा सकी।

अन्तिम उदाहरण में तो समाज की स्वार्थपरकता की चरम सीमा का मार्मिक प्रकाशन हुआ है जहाँ यह व्यंजित है कि पाप कोई और करे और उसे ढोए कोई दूसरा। वीरों के निर्मल फिर भी सबल कधों पर किसी का पाप ढोया जा रहा है।

ऐसे अनेक सक्षम मुहावरों के उदाहरण प्रस्तुत किए जा सकते हैं। किन्तु साथ ही कहीं-कहीं ऐसे मुहावरों के प्रयोग भी मिल जाते हैं जहाँ किन्हीं कारणों से मुहावरों की व्यंजकता शिथिल हो जाती है। प्राय. ऐसा तभी होता है जब कवि मुहावरों के रूढ़ और प्रचलित रूपों में शाब्दिक पर्यायों या भावों के स्थानापन्न दूसरे शब्दों की योजना करता है या कर डालता है। कुछ ऐसे उदाहरणों के द्वारा कवि के मुहावरों की सीमाएँ भी परख ली जाएँ।

"हवन डालते हुए यज्ञ में मुझ को ही जलना था।"[1]
"गुदड़ी में रखती चुन-चुनकर बड़े कीमती लाल।"[2]
"जीवित है वह उसे फूंक सोना करने वालों में।"[3]
"तुम अलग-अलग जूते क्यों नहीं पिन्हाते हो।"[4]

वस्तुतः 'हवन डालते हुए यज्ञ में मुझ को ही जलना था।' यह प्रयोग 'होम करते हाथ जलना' कहावत का ही रूपातर है। जो अपने मूल रूप को खोने के कारण तथा इस प्रकार की नवीन पद योजना के कारण अपनी व्यंजकता खो देता है।

इसी प्रकार दूसरे उदाहरण में मुहावरा व्यंजना करने में इसलिए असमर्थ होगा कि मुहावरे की प्रचलित शब्दावली के स्थान पर अप्रचलित शब्दावलि का प्रयोग कवि ने किया है।

तीसरे उदाहरण में मुहावरे का एक अंश पंक्ति के प्रारंभ में और दूसरा अंश पंक्ति के अन्त में आ गया है अतः अर्थ बोध और व्यंजना दोनों क्षतिग्रस्त हुए हैं और इसी कारण दुरान्वय दोष भी आ गया है।

प्रस्तुत उदाहरण के मूल में अंग्रेजी मुहावरे का संस्कार ज्यों का त्यों पड़ा हुआ है। मात्र शब्द हिन्दी हुए हैं और अंग्रेजी परिवेश से कहने के कारण मुहावरा भी लावारिश बच्चे की तरह अर्थहीन और असहाय प्रतीत होता है।

---

१. रश्मिरथी : पृ० ५८.
२. वही : पृ० २।
३. कुरुक्षेत्र : पृ० १२०।
४. नीम के पत्ते : पृ० २३।

निष्कर्षतः यह कहा जा सकता है कि कवि की भाषा में सटीक और व्यंजना-प्रधान मुहावरों का प्रयोग पाया जाता है और कहीं-कहीं (यद्यपि अल्प मात्रा में) कुछ निस्सार और केवल प्रयोग के लिए ही प्रयोग भी हुए हैं। किन्तु इससे कवि की व्यंजकता की सामूहिकता दूषित नहीं हो पाई।

सूक्तियाँ

दिनकर के काव्यों में लोकोक्तियों का प्रयोग तो मिलता ही है साथ ही साथ उनके स्वनिर्मित सूक्तियों का प्रयोग भी उनकी रचनाओं में दृष्टव्य है। कवि की सूक्ति-रचना दो रूपों में प्रयुक्त है—(१) जीवन दर्शन परक (२) व्यंग परक।

जीवन दर्शन परक :—कुरुक्षेत्र, रश्मिरथी तथा उर्वशी में ऐसी अनेक सूक्तियों के प्रयोग कवि ने किए हैं जिनके द्वारा कवि के स्वानुभव और प्रचलित लोकोक्तियों का प्रभाव दृष्टिगत होता है। कवि ने सूक्तियों द्वारा व्यंग, चुभन के साथ-साथ काव्यगत सौन्दर्य को भी नपी तुली भाषा में प्रस्तुत किया है। निम्नलिखित उदाहरणों से इन सूक्तियों का सौन्दर्य समझा जा सकेगा।

"चाहता लड़ना नहीं समुदाय है, फैलतीं लपटें विषैली, व्यक्तियों के सांस से।"[१]
"हिंस्र पशु जब घेर लेते हैं उसे, काम आता है बलिष्ट शरीर ही।"[२]
"पाशविकता खड्ग जब लेती उठा, आत्मबल का एक बस चलता नहीं।"[३]
"क्षमा शोभती उस भुजंग को जिसके पास गरल हो।"[४]

"जेता के विभूषण सहिष्णुता, क्षमा हैं किन्तु
हारी हुई जाति की सहिष्णुता अभिशाप है।"[५]
"वाणिज्य के हाथ की कृपाण ही अशुद्ध है।"[६]
"फूले सस्ता सुयश प्राप्त कर उस नर को धिक्कार।"[७]

कुरुक्षेत्र के भीष्म की उक्तियाँ नवीन सुभाषितों के रूप में ही प्रकट हुई हैं, जिनका तादात्म्य युग-धर्म की उष्णता के साथ हो जाता है।

उर्वशी में व्यक्त सूक्तियों में व्यापक जीवन-संदर्भ संलग्न है—कुछ उदाहरण दृष्टव्य हैं—

---

१. कुरुक्षेत्र : पृ० २।
२. वही : पृ० २४।
३. वही : पृ० २४।
४. वही : पृ० ३५।
५. वही : पृ० ३८।
६. वही : पृ० ३९।
७. रश्मिरथी : पृ० ३।

"नर के वश की बात, देवता बने कि नर रह जाये ।"[1]
"दो दिन ही हो, पर कैसे वह धधक धधक जीता है ।"[2]
"रावणी जय तभी लहर उठती जब रत्नाकर है ।"[3]
"दृष्टि का जो पेय है, वह रक्त का भोजन नहीं है ।"[4]
"रक्त बुद्धि से अधिक बलि है और अधिक ज्ञानी भी ।"[5]
'तन का काम अमृत, लेकिन, यह मन का काम गरल है ।"[6]

व्यंगपरक :—'कोयला और कवित्व' तथा 'नये सुभाषित' में सूक्ति और सुभाषित रचना बड़ी ही तीव्र और व्यंग-परक है । अखबारों पर व्यंग देखिए कितनी नयी उक्ति है—

'भोर भोर ये चुगल-खोर कितनी चुगली खाते हैं ।"[7]

इसी प्रकार—"फटे हुए पाजामे में कुछ और फाड़ डाला है ।"[8] में नवीन कहावत के दर्शन होते हैं । डाक पर व्यंग करते हुए नवीन सूक्ति देखिये—

"किन्तु रोज ही सहजी कम, कम्पोस्ट अधिक होते हैं,
बन्द लिफाफे विरल, खुले बुक पोस्ट अधिक होते हैं ।"[9]

अवसरवादिता पर व्यंग का नया तरीका बड़ा ही मार्मिक है—

"आर्केस्ट्रा को छोड़ चुके हो, सीखो कुछ बजाता हूँ ।"[10]

'नये सुभाषित' के व्यंग-विधान, सूक्तियों एवं सुभाषितों में कवि की छटा देखने को मिलती है । व्यंग के साथ हृदय की दाह भी इनमें समाहित है । कुछ उदाहरण देखिए—

"मुक्त छंद कुछ वैसा ही बेनुका काम है
जैसे कोई बिना जाल के टेनिस खेले ।"[11]

---

१. उर्वशी : पृ० ११ ।
२. वही पृ० ११ ।
३. वही पृ० २५ ।
४. वही : पृ० ४६ ।
५. वही : पृ० ५७ ।
६. वही : पृ० ८१ ।
७. कोयला और कवित्व, पृ० ३६ ।
८. वही : पृ० ३६ ।
९. वही : पृ० ४१ ।
१०. वही : पृ० ४१ ।
११. नए सुभाषित : पृ० १५ ।

"चुम्बन है वह गुप्त भेद मन का, जिसको मुख
श्रुतियों से बचकर सीधे मुख से कहता है।"[1]

कवि ने प्रेम, सौन्दर्य आदि विषयों पर नए सुभाषितों की रचना की है जिनमें लोकोक्तियों की अर्थवत्ता, अभिव्यक्ति की प्रयोगशीलता तथा नव-युग के व्यंग की बौछारें हैं। इन सूक्ति-सुभाषितों से कवि की भाषा की ध्वन्यात्मकता एवं व्यंजना-शक्ति में वृद्धि हुई है।

दिनकर के इन सुभाषितों की समरसता और सौन्दर्य को देखकर पंतजी ने सच ही कहा है—

"सतसैय्या के दोहरे रहे न नावक तीर,
नए सुभाषित जब लिखे दिनकर ने गम्भीर।"[2]

शब्द-शक्तियाँ :

भाषा के अन्तर्गत शब्द का बड़ा महत्त्व है। शब्दों की यह सबसे बड़ी विशिष्टता है कि वे प्रसगवश विभिन्न स्थलों पर विभिन्न अर्थ प्रकट करते है। प्राचीन संस्कृत के आचार्यों ने मुख्यतः इन शब्दों के प्रयोगों को तीन भागों में विभक्त कर दिया है। आचार्य मम्मट के अनुसार—

"स्याद्वाचको लाक्षणिकः शब्दोऽत्र व्यञ्जकस्त्रिधा।"[3]

अर्थात् शब्द वाचक, लाक्षणिक और व्यंजक तीन प्रकार से काव्य में प्रयुक्त होते हैं। साहित्यदर्पणकार विश्वनाथ का भी ऐसा मत है—

"अर्थो वाच्यश्च लक्ष्यश्च व्यङ्ग्यश्चेति त्रिधा मतः।"[4]

अर्थात् वाच्यार्थ, लक्ष्यार्थ और व्यंग्यार्थ ये तीन क्रमशः उपर्युक्त तीन प्रकार के शब्दों से प्रकट होते है।

शब्दों में भिन्न-भिन्न अर्थों को व्यक्त करने के लिए भिन्न-भिन्न शक्तियाँ होती है। इसी कारण आचार्यों ने शब्दों की तीन शक्तियाँ क्रमशः अभिधा, लक्षणा एवं व्यंजना निश्चित की है। इनमें अभिधा शब्द के वाच्यार्थ को, लक्षणा शब्द के लक्ष्यार्थ को तथा व्यंजना व्यंजक शब्द के व्यंग्यार्थ को प्रकट करती है।

दिनकर के काव्यों में शब्द शक्ति :

दिनकर की कविताओं के अध्ययन के पश्चात् उन्हें अभिधा का कवि ही

---

१. नये सुभाषित : पृ० ४।
२. सीपी और शंख : पृ० ६३।
३. काव्यप्रकाश, उल्लास २, कारिका ६।
४. साहित्य दर्पण, परि० २, कारिका २।

इससे यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि उनकी लक्षणाश्रित कल्पना के पंख लगाकर स्वैर विहार नहीं करती, अपितु विस्तृत होकर ठोस धरातल पर ही प्रस्थापित रहती है। शब्दों के प्रतीकात्मक प्रयोगों और अर्थगर्भित विशेषणों के निर्माण की सामर्थ्य से उनकी लक्षणाशक्ति का प्रदर्शन होता है।

दिनकर ने क्रान्ति-गीतों में कठोर तथा प्रेमगीतों में कोमल प्रतीकों के प्रयोग किए हैं। कवि ने एक ओर शिव, नासदीय अर्धनारीश्वर एवं परशुराम जैसे पौराणिक प्रतीकों के साथ लाक्षणिक पद्धति से नवीन अर्थों का समावेश किया है तथा बोधिसत्व अशोक जैसे ऐतिहासिक प्रतीकों को नवीन प्रतिभा प्रदान की है। कवि ने अनेक नवीन शब्दों का निर्माण कर प्रतीकों के रूप में प्रयोग किया है। क्रान्ति के संदर्भ में विभापुत्र आलोकधन्वा, युगचारण, वर्तमान का वैतालो, अनल किरीट, दिगम्बरि, विपथगा जैसे स्वनिर्मित शब्दों के प्रयोग के साथ-साथ अग्निरुद्र नाइद, सामधेनी, होम-शिखा शब्दों का सार्थक प्रयोग किया है।

दिनकर द्वारा प्रयुक्त लक्षणा सौन्दर्य हम कुछ उदाहरणों द्वारा देख सकते हैं।

साध्यवसाना गौणी प्रयोजनवती लक्षणा

(अ) "युग के मूक शैल! उठ जागो, हुंकारो, कुछ गान करो।"[1]

(आ) "भेड़िए ठठाकर हँसते है, मनु का बेटा चिल्लाता है।"[2]

(इ) "किन्तु पुरुष चाहता भीगना, मधु के नए क्षणों से,
नित्य चूमना एक पुष्प अभिसिंचित ओस कणों से।"[3]

प्रथम उद्धरण में 'मूक शैल' से अभिधात्मक अर्थ में बाध उपस्थित होता है अत. युग के संदर्भ में मूकशैल का अर्थ सुप्त देशवासियों के लिए प्रयुक्त हुआ है। अतः लक्षणा है किन्तु यह लक्ष्यार्थ भी रूढ न होने के कारण प्रयोजनवती लक्षणा है। साथ ही मूकशैल उपमान का ही कथन है आरोप होते हुए भी उपमेय अनुक्त है अत साध्यवसाना गौणी प्रयोजनवती लक्षणा है। इसी प्रकार दूसरे उदाहरण में 'भेड़िए' का हँसना और मनु पुत्रों का रोना परस्पर सम्बद्ध होने के कारण वाच्यार्थ में बाध उपस्थित होता है अत लक्षणा के आधार पर भेड़िए का अर्थ होगा नर-पशु। इसमें नर उपमेय अनुक्त है केवल भेड़िए से ही काम चला लिया गया है अत. यहाँ भी साध्यवसाना गौणी प्रयोजनवती लक्षणा ही है साथ ही भेड़िया शब्द पशु प्रवृत्ति धारण करने वाले व्यक्ति के लिए रूढ शब्द भी है अत यहाँ पर रूढा लक्षणा भी हो सकती है। तृतीय उद्धरण में भी मनुष्य 'मधु के नए क्षण' और 'पुष्प' इन तीनों को मिलाकर कोई सीधा अर्थ व्यक्त नहीं होता अत मनुष्य के परिवेश में मधु के

---

१. हुंकार, (आमुख) : पृ० २।
२. सामधेनी, (हे मेरे स्वदेश) : पृ० ३४।
३. उर्वशी, प्र० अं० : पृ० २२।

क्षण का लक्ष्यार्थ होगा प्रेम के क्षण और पुष्प का लक्ष्यार्थ होगा प्रेयसि। कि... प्रेम और प्रेयसि के अर्थात् उपमेय के अभाव में उपमानो को ही प्रयुक्त कर कवि ने उपरोक्त लक्षणा का प्रयोग किया है।

सारोपा-गौणी प्रयोजनवती लक्षणा :

(क) "घड़ी गिनी जाती जब, निशि-भर ऊंगली की पोरों पर
प्रिय की याद झूलती है, सासो के हिंडोरो पर।"[1]

(ख) "दो दीपों की सम्मिलित ज्योति, वह एक शिखा जब जगती है,
मन के अगाध रत्नाकर मे यह देह डूबने लगती है।"[2]

प्रथम उद्धरण मे सासो के हिंडोरो मे प्रिय की याद झूलने से वाच्यार्थ स्पष्ट नही होता। सांसों को ही हिंडोरा मान लेने पर सांसो पर हिंडोरे का आरोप हो जाता है और लक्ष्यार्थ निकलता है कि सांस-सास मे याद समाई हुई है। अत: यहाँ पर सारोपा गौणी प्रयोजनवती लक्षणा है। द्वितीय उद्धरण में 'मन के अगाध' रत्नाकर मे भी उपमेय में उपमान का आरोप है अत यहाँ पर भी उपरोक्त लक्षणा है। साथ ही जहाँ दो दीपो की बात कही गई है अर्थ बाध होता है परिणामतः लक्ष्यार्थ निकलता है। दो आत्माओ का मिलन और इस प्रकार मान उपमान की उपस्थिति के कारण इन पंक्तियों में साध्यवसाना लक्षणा भी है।

लक्षण शुद्धा प्रयोजनवती लक्षणा :

"जब से चितवन ने फेरा मन पर सोने का पानी
मधु-वेग ध्वनित नस-नस मे, सपने रग रही जवानी।"[3]

सामान्यत: जहाँ पर वाच्यार्थ का शब्द से कोई लगाव नहीं रहता और एक दूसरा ही ग्रर्थ उससे ध्वनित होता है वहाँ पर लक्षण लक्षणा होती है। प्रस्तुत उदाहरण में भी सोने का पानी अपने वाच्यार्थ को छोडकर प्रसन्नतावादी माधुर्य का एक नया ही ग्रर्थ ध्वनित करता है। अतः उक्त पंक्तियों में लक्षणशुद्धा प्रयोजनवती लक्षणा है।

उपादान शुद्धा प्रयोजनवती लक्षणा :

"कितने द्रौपदियों के बाल खुले? किन-किन कलियों का अत हुआ?
कह हृदय खोल चित्तौर ; यहाँ कितने दिन ज्वाल वसंत हुआ।"[4]

उपादान लक्षणा मे सामान्यतः वाच्यार्थ भी बना रहता है और लक्ष्यार्थ का भी बोध होता रहता है। प्रस्तुत उदाहरण में 'द्रौपदी' और 'बाल खुलना' दोनों के

---

१. रसवंती, (बालिका से वधू) : पृ० २३।
२. उर्वशी, तृ० अं० : पृ० ६३।
३. रसवंती, (अन्तर्वासिनी) : पृ० ४७।
४. रेणुका, (हिमालय) : पृ० ७।

माध्यम से वाच्यार्थ का तो बोध होना ही है परन्तु कवि देश की नारियों की दुर्दशा का लक्ष्यार्थ भी स्पष्ट करता है। अतः यहाँ वाच्यार्थ एवं लक्ष्यार्थ की उपस्थिति के कारण उपादान शुद्धा प्रयोजनवती लक्षणा होगा।

उक्त उदाहरणों के अतिरिक्त भी दिनकर के कुछ ऐसे प्रयोग प्राप्त होते हैं जहाँ एक ही वाच्यार्थ को केन्द्र में रखकर तत्सम्बन्धी पंक्तियों की व्याख्या करने पर रूढ़ा और प्रयोजनवती दोनों के दृष्टांत सिद्ध हो जाते हैं।

"हटो व्योम के मेघ, पन्थ से, स्वर्ग लूटने हम आते हैं,
दूध-दूध ओ वत्स तुम्हारा, दूध खोजने हम आते है।"[1]

इस उद्धरण में *'व्योम के मेघ'* साध्यवसाना की पुष्टि करता है *और स्वर्ग वैभव* या विलास का रूढ़ अर्थ धारण किए होने के कारण रूढ़ा लक्षणा की प्रतीति कराता है, तथा 'स्वर्ग' और 'दूध' के परस्पर आसंग के कारण उपादान लक्षणा की प्रतीति कराता है।

लक्षणा के अन्तर्गत कवि साभिप्राय विशेषणों का निर्माण करता चलता है। जिनके प्रयोग से अर्थव्यंजकता और चित्रात्मकता मुखरित होती है। ऐसे प्रयोगों में भीगी तान, दहकती-वायु, मीठी-उमंग, चकित-पुकार, तरंगित-यौवन, मधुमय-राग, ताप-तप्त-अधर, वृद्ध-सूर्य, शरमीला-चुम्बन, आदि विशेषण उदाहरण के रूप में प्रस्तुत किए जा सकते हैं।

संक्षेप में यह कहना योग्य है कि दिनकर का लक्षणा-विधान बड़ा ही मार्मिक, अर्थ-गर्भित और सरल है। कवि सरल लक्षणाओं द्वारा निहित अर्थों को मूर्तरूप प्रदान कर सका है। उसने मूर्त का अमूर्त और अप्रस्तुत का प्रस्तुत विधान द्वारा शैली के उत्कर्ष के लिए लाक्षणिक प्रयोग किया है।

व्यंजना विधान :—जब शब्द वाच्यार्थ एवं लक्ष्यार्थ से भिन्न अर्थ व्यक्त करता है, तब वह शब्द व्यंजक, उससे प्रकट अर्थ व्यंग्यार्थ कहलाता है। जिस शक्ति से वह अर्थ व्यक्त होता है, उसे व्यंजना कहते हैं। प० विश्वनाथ ने साहित्य-दर्पण में व्यंजना की व्याख्या करते हुए लिखा है—"अपना-अपना कार्य सूचित करके अभिधा आदिक वृत्तियों के शान्त हो जाने पर जिससे अन्य अर्थ का बोध हो, वह शब्द तथा अर्थादिक में रहने वाली वृत्ति व्यंजना कहलाती है।"[2] आनन्दवर्धनाचार्य ने व्यंजना-शक्ति को ध्वनि काव्य के अन्तर्गत मानते हुए लिखा है—"जहाँ अर्थ अपने को अथवा शब्द अपने अर्थ को गुणीभूत करके प्रतीयमान अर्थ को व्यक्त करते हैं उस वाक्य विशेष को विद्वान ध्वनि-काव्य कहते हैं।"[3]

---

१ हुंकार, (हाहाकार) : पृ० २३।
२. साहित्य-दर्पण, परि २, कारिका : १२-१३।
३. ध्वन्यालोक, उद्योत १, कारिका : १३।

दिनकर के काव्यों में विशेषकर स्वातंत्र्योत्तर काव्यों में व्यंजना-शक्ति उनकी शैली का अंग ही बन गई है। व्यंजना-शक्ति का प्रयोग वैषम्य, भ्रष्टाचार आदि के प्रति रोष व्यक्त करने की वृत्ति में मिलता है। साथ ही उर्वशी जैसे प्रेम-काव्य में भी इसके दर्शन होते हैं। दिनकर काव्य में व्यंजना अपने मुख्य दोनों रूपों में मुखरित है :

(अ) शाब्दी व्यंजना :

शाब्दी व्यंजना वहाँ होती है जहाँ एक ही शब्द के अनेक पर्याय हों किन्तु उन पर्यायों में से उसी शब्द विशेष के प्रयोग के द्वारा व्यंग्यार्थ ध्वनित होता है—अर्थात् पर्यायों से स्थानापन्न न हो सकने वाले शब्द विशेष से जहाँ अर्थ-व्यंजित होता हो, वहा पर शाब्दी-व्यंजना होती है। उदाहरणार्थ—

> "टोपी कहती, मैं थैली बन सकती हूँ।
> कुरता कहता है, मुझे बोरिया ही कर लो।
> ईमान बचा कर कहता है, आँखें सबकी।
> बिकने को हूँ तैयार, खुशी हो जो दे दो।"[1]

यहा 'टोपी' कुरता शब्द अपने एक विशिष्ट अर्थ में रूढ़ है इसलिए अर्थ-बोध में उनका दूसरा कोई भी पर्याय अर्थात् कैप, हैट और झब्बा या कफनी को प्रयुक्त करने से उसकी सारी व्यंजना खत्म हो जायेगी। सारांश यह है कि इस सारे काव्य की व्यंजना इन्हीं शब्दों पर आधृत है अतः यहा पर शाब्दी व्यंजना है। और यह व्यंजना खद्दरधारियों के द्वारा किए जाने वाले भ्रष्टाचार को नग्न रूप में व्यंजित करती है।

(आ) आर्थी व्यंजना :

शाब्दी व्यंजना की भाँति ही आर्थी व्यंजना में किसी शब्द-विशेष के अनेक अर्थों में से किसी एक अर्थ की (विशिष्ट) व्यंजना होती है। दिनकर के काव्य में ऐसे उदाहरण भी विशेषतया 'उर्वशी' मे उपलब्ध है। उदाहरणार्थ—

(अ) "गलती है हिम शिला, सत्य है, गठन देह की खोकर,
पर, हो जाती वह असीम कितनी पयस्विनी होकर।"[2]

प्रस्तुत उदाहरण में 'पयस्विनी' शब्द के अनेक अर्थ किये जाने पर भी नारी का मातृत्व ही बोध्य है। अतः यहा आर्थी व्यंजना है, क्योंकि ये मातृत्व का अर्थ देह की गठन खोना, हिम-शिला की तरह गलना और असीम होना आदि के आसंग में द्रवित ममता और तप के कारण केवल मातृत्व ही यहां व्यंजित है।

---

१. नीम के पत्ते, (पहली वर्ष गांठ) : पृ० १८।
२. उर्वशी, प्र० सं० : पृ० ११।

ऊपर के विवेचन से यह स्पष्ट हो जाता है कि दिनकर की कविता में लक्षणा-व्यंजना आदि के प्रयोग सहज रूप में समाविष्ट हो गये हैं। अभिधा-प्रधान कवि के लिए लक्षणा-व्यंजना की निराला समाहित निदर्शनात्मक रूप में भाविक उपलब्धि है।

दिनकर की चित्र-योजना :

जिस प्रकार किसी भी कवि के लिए शब्द-चयन का ज्ञान अनिवार्य है, उसी प्रकार भाषा में लालित्य उत्पन्न करने के लिए तथा कविता को सजीव बनाने के लिए चित्र-योजना महत्त्वपूर्ण है। चित्रात्मक शैली से कवि अपनी भावनाओं को बड़े ही अनूठे ढंग से व्यक्त करता है जो पाठकों के हृदय पर स्थायी प्रभाव अंकित करते हैं। कवि ने कविता में चित्रण-कला का स्वीकार किया है। 'चक्रवाल' की भूमिका में वे चित्ररचना के महत्त्व को स्वीकार करते हुए लिखते हैं—"चित्र-कविता का अत्यन्त महत्त्वपूर्ण गुण है, प्रत्युत, कहना चाहिए कि कविता का एकमात्र शाश्वत गुण है जो उससे कभी नहीं छूटता। कविता और कुछ चाहे करे या न करे किन्तु चित्रों की रचना वह अवश्य करती है और जिस कविता के भीतर बनने वाले चित्र जितने ही स्वच्छ यानी विभिन्न इन्द्रियों से स्पष्ट अनुभूत होने के योग्य होते हैं, वह कविता उतनी ही सफल और सुन्दर होती है। × × × कविताओं की प्रवृत्तियाँ बराबर बदलती रहती हैं। किन्तु चित्र प्रत्येक प्रवृत्ति के साथ रहते हैं। कविताओं की शैली बदलती है, छन्द बदल जाते हैं और कभी-कभी छन्द टूट भी जाते हैं। किन्तु, चित्र कभी भी नहीं रुकते। वे टूटे छंदों के भीतर भी वाक्यों में मोती के समान जड़े रहते हैं। और तो और जब कविता के भीतर का सारा द्रव्य बदल जाता है, दर्शन और दृष्टिकोण सभी कुछ परिवर्तित हो जाते हैं, तब भी चित्र कविता का साथ नहीं छोड़ते। कविता में चित्रों का आना संयोग की बात नहीं हैं। प्रत्येक सुन्दर कविता-चित्रों का एलबम अथवा स्वयं एक पूर्ण चित्र होती है। चित्र रेगिस्तान से उड़कर नहीं आते। वे उस कवि के मस्तिष्क से निकलते हैं, जो कल्पना और विचार से लबालब भरा हुआ है तथा जो संक्षिप्त-होने के लिए अलंकारों में बोलना चाहता है।"[1]

कवि ने चित्र-योजना की महत्ता को स्वीकार करते हुए यह भी माना है कि कविता-मात्र चित्रों का ही प्रदर्शन बन जाए, परन्तु वे विचारों के साथ सामंजस्य स्थापित करते हैं।

'काव्य की भूमिका' में दिनकर जी ने कविता में चित्रों के महत्त्व को और भी विशेषता से अंकित किया है। उनके विचारानुसार चित्रमयता काव्य को विज्ञान से पृथक् करती है। कविता जब चित्रों के माध्यम से अंकित की जाती है तब वह

---

१. 'चक्रवाल' (भूमिका) : पृ० ७३।

इन्द्रियों को जागृत कर अभिव्यक्ति की वाहक बन जाती है। आधुनिक युग में कविता साहित्यिक, सामाजिक और सौन्दर्य के नवीन धरातलों को चित्रित करती है। और कविता चित्र के माध्यम से समस्याओं को प्रस्तुत करती है। कविता में बाह्य और अन्तरंग दोनों प्रकार के चित्रों की आवश्यकता कवि ने स्वीकार की है।[१]

दिनकर की काव्य-कृतियों में मुख्य रूप से प्रयुक्त काव्य-चित्रों का विभाजन निम्न प्रकार से किया जाता है—

१. समूह-चित्र, २. लघु-चित्र, ३. रूप-चित्र तथा ४. व्यंग-चित्र।

समूह-चित्र—दिनकर ने समूह-चित्रों का अधिकतर प्रयोग क्रांति और युद्ध की कविताओं में किया है। क्रांति-सम्बन्धी कविताओं में ओज का स्वर जितना विस्फोटक है, चित्र भी उतने ही क्रांतिपूर्ण हैं।

'रेणुका' में 'ताण्डव' कविता की चित्रमयता दृष्टव्य है जो शंकर के प्रलय-नृत्य को प्रस्तुत करती है—

"नाचो, हे नाचो, नटवर !
चन्द्र चूड़ ! त्रिनयन ! गंगाधर ! आदि प्रलय ! अवढर ! शंकर !
नाचो, हे नाचो, नटवर !
× × ×
अंग भंगि, हुँकृति—झंकृति-कर, थिरक-थिरक हे विश्वभर !
× × ×
डिम-डिम, डमरू बजा निज कर में
नाचो, नयन, तृतीय तरेरे !
ओर-छोर तक सृष्टि भस्म हो
अचि पुंज अम्बर को घेरे।"[२]

कवि ने शंकर के ताण्डव-रूप को प्रस्तुत करते हुए समस्त गति में क्रांति की अंगड़ाई को प्रस्तुत किया है, जिसमें अंगारों की झलक है। हुंकृति और झंकृति उनके अंगों को चित्रित करती है। डमरू की ध्वनि और नयन का तरेरना सबलता और सजीवता के परिचायक हैं।

'हुँकार' की रचनाओं में क्रांति की चित्रावली विशेष मुखरित है। क्रांति-कुमारी का चित्र और कार्य-व्यापारों का विप्लव और विद्रोह कवि ने रेखा-चित्र द्वारा प्रस्तुत किया है। 'विपथगा' कविता को पढ़ने के पश्चात् ऐसा प्रतीत होता है मानो रणचण्डी हमारे सामने उपस्थित है और प्रक्रिया के रूप में हृदय में जोश उत्पन्न होता है—

---

१. दे० 'काव्य की भूमिका', : पृ० ६, १३, ७८, ८०, १००, १०१ और १०२।
२. 'रेणुका', (ताण्डव) : पृ० १, ३।

"झन-झन-सन-झन-झन-झनन-झनन,
मेरी पायल झनकार रही, तलवारों की झनकारों में,
अपनी आगमनी बजा रही, मैं आप क्रुद्ध हुंकारों में,
मैं अहंकार सी कड़क ठठा, हँसती विद्युत की धारों में,
बन काल-हुताशन खेल रही, पगली मैं फूट पहाड़ों में,
अंगड़ाई में भूचाल, साँस में लंका के उनचास पवन।"[1]

उद्धरण की प्रत्येक पंक्ति विविध चित्रों का निर्माण करती है। तलवार की झनकारें और हुंकारें वीरत्व के भाव जागृत करती हैं। बिजली और आग उसके क्रोध और नाश को उभारती हैं। भूचाल और उनचास पवन घोर ध्वंस को प्रस्तुत करते हैं। चित्र चाक्षुष एवं श्राव्य है।

क्रांति का जन्म शोषितों की पीड़ा में होता है। भूख और नग्नता इसे 'यौवन' प्रदान करती है—

"श्वानों को मिलते दूध-वस्त्र, भूखे बालक अकुलाते हैं,
माँ की हड्डी से चिपक, ठिठुर जाड़ों की रात बिताते हैं।
युवती के लज्जा वसन बेच जब ब्याज चुकाये जाते हैं,
मालिक जब तैल-फुलेलों पर पानी-सा द्रव्य बहाते हैं।
पापी महलों का अहंकार देता मुझको तब आमंत्रण।"[2]

प्रायः पूरे का पूरा काव्य क्रांति की चित्रावली ही है, जिसकी रेखायें फूत्कारों से युक्त हैं और वर्ण-योजना में रुधिर की लालिमा है। प्रचण्ड रूप कल्पना की आँखों में उभरता है।

'हुंकार' की 'हाहाकार', 'दिगम्बरि', 'अनल-किरीट', अनेक कविताओं में क्रांति के विशद चित्र कवि ने प्रस्तुत किए हैं।

'सामधेनी' की 'आग की भीख', 'फूलों की डालों में तलवार', 'जवानियाँ', 'साथी' काव्यों में क्रांति के चित्र कवि प्रस्तुत कर सका है।

क्रांति के उपरान्त दलित-वर्ग का समूह चित्र भी दिनकर की चित्र-योजना में आयोजित है। कवि इस प्रकार के वर्णनों में एक ओर अपनी करुणा को व्यक्त करता है, दूसरी ओर अपना रोष व्यक्त करता भी नहीं चूकता—

"रण-शोधन के लिए दूध-घी बेच-बेच धन जोड़ेंगे,
बूँद-बूँद बेचेंगे अपने लिए नहीं कुछ छोड़ेंगे।
शिशु मचलेंगे दूध देख, जननी उनको बहलायेगी,
मैं फाडूँगी हृदय, लाज से आँख नहीं रो पायेगी।

---

१. 'हुंकार', (विपथगा) : पृ० ७२।
२. हुंकार (विपथगा) : पृ० ७३।

इतने पर भी धनपतियों की उन पर होगी मार,
तब मैं बरसूँगी बन बेबस के आँसू सुकुमार।"[1]

प्रस्तुत कविता मे कवि ने जैसे समग्र शोषित कृषक-समाज का चित्र ही अंकित कर दिया है जो भूख से बिलबिलाता है फिर भी शोषकों द्वारा सताया जाता है। इसी प्रकार हुँकार की 'हाहाकार' कविता शोषित समाज के चित्र को ही अंकित करती है।[2]

'बापू' काव्य मे कवि ने 'नोआखली' में हुए साम्प्रदायिक दंगों का चित्र प्रस्तुत किया है जहां मजहबी उन्माद प्रस्तुत हुआ है—

"विष की ज्वाला से दह्यमान हो उठा व्यग्र सारा खगोल,
मतवाले नाग अशंक चले, खोले जिह्वायें लोल-लोल।
हँसो के नीड़ लगे जलने, हँसों की गिरने लगी लाश,
नर नहीं नारियों से होली खेलने लगा खुल सर्वनाश।"[3]

'रश्मिरथी' के अन्तर्गत कवि ने युद्ध के अनेक चित्र प्रस्तुत किए हैं जो 'कुरुक्षेत्र' के युद्ध की भयानकता और संहार को प्रस्तुत करते हैं। चित्र इतने सजीव हैं, कि यह आभास होता है कि हम चित्रपट पर युद्ध के दृश्यों को निहार रहे है। 'कुरुक्षेत्र' के अन्तर्गत यद्यपि युद्ध-भूमि की विकरालता का परिचय और उसकी वीभत्सता युधिष्ठिर द्वारा जिस चित्रात्मक शैली मे कवि ने प्रस्तुत की है वह सजीव है।

समूह चित्रों के अन्तर्गत कवि ने ग्रामीण और सामाजिक चित्रों को भी प्रस्तुत किया है—

"वन तुलसी की गंध लिए हलकी पुरवैया आती है,
मन्दिर की घंटा-ध्वनि युग-युग का संदेश सुनाती है।
टिम-टिम दीपक के प्रकाश में पढते निज पोथी शिशुगण,
परदेशी की प्रिया बैठ गाती यह विरह-गीत उन्मन।
"भैया! लिख दे एक कलम खत मों बालम के जोग,
चारो कोने खेम-कुसल, मांझेठाँ मोर वियोग।।"[4]

कवि ग्राम की सात्विक सुरभि को अंकित करता है। मन्दिर के घन्टा की ध्वनि धर्म का वातावरण सृजित करती है। दीपक की लौ मे गाँव के पढ़ते हुए बालकों का चित्र बड़ा ही वास्तविक है और बच्चों से अनुरोध करती हुई ग्रामीणा के शब्द

१. 'रेणुका', (कविता की पुकार) : पृ० १६।
२. 'हुँकार', (हाहाकार) : पृ० २२।
३. बापू', पृ० २०।
४. 'रेणुका', (कविता की पुकार) : पृ० १४।

सो जैसे पूरे गाँव का चित्र ही उतार देते हैं। कवि इस प्रकार के चित्रों द्वारा अपने मन के ग्राम्य-प्रेम को बड़े ही कौशल से प्रस्तुत कर गया है। कहीं-कहीं तो जैसे वह कैमरे से गाँव की शाम का चित्र खींच रहा है। गाँव की सन्ध्या का चित्र भी कितना सजीव है—

> "स्वर्णांचला अहा! खेतों में उतरी सन्ध्या श्याम परी,
> रोमन्थन करती गायें आ रहीं रौंदती घास हरी।
> घर-घर से उठ रहा धुँआ, जलते चूल्हे बारी-बारी,
> चौपालों में कृषक बैठ गाते "कहँ अटके बनवारी?"
> पनघट से आ रहीं पीत वसना युवती सुकुमार,
> किसी भाँति ढोती गागर-यौवन का दुर्वह भार।"[1]

सन्ध्या की श्याम परी के रूप में डूबते हुए सूरज का चित्र बड़ा ही मनोहर है। कवि ने रोमन्थन करती हुई गायें, घर से उठता हुआ धुंआ और गाते हुए कृषकों के गीत में गति, चित्र और ध्वनि का सामञ्जस्य प्रस्तुत कर चित्र को सजीव बना दिया है। अन्तिम दो पंक्तियों में ग्रामीण युवती का सौन्दर्य गागर के साथ ही छलकता नजर आता है।

सर्वत्र खून और अंगारों की लाली का रंग, और अग्निपूर्ण दीप्ति से चित्रों को सजाना है। उसे सूर्य के प्रखर आलोक की ही वाञ्छा है।

लघु-चित्र :

लघु-चित्रों की विशेषता यह है कि वे विविध सामूहिक भावनाओं के स्थान पर किसी एक चित्र को ही प्रस्तुत करते हैं। समूह चित्रों की भाँति उनका फलक विस्तृत नहीं होता। संक्षिप्त किन्तु प्रभावोत्पादकता इनकी विशेषता मानी जाती है।

लघु-चित्रों के अन्तर्गत विशेष रूप से दिनकर द्वारा निर्मित प्रकृति-चित्रों का ही समावेश किया जा सकता है। यह सत्य है कि कवि मूलतः आक्रोश और युद्ध का कवि है, परन्तु 'रसवन्ती' और 'उर्वशी' में रूप-सौन्दर्य और प्रकृति-सौन्दर्य भी बिखरा हुआ है। कवि का प्रत्यक्ष या परोक्ष किसी न किसी रूप से प्रकृति से सम्बन्ध रहा है। कवि ने प्रकृति को आलम्बन और उद्दीपन दोनों रूपों में स्वीकृत किया है। जहाँ उग्र रेखाओं से उनका निर्माण है वहाँ वह क्रान्ति का समर्थक है और कोमल भावनाओं में वह तरल भावों को व्यक्त करता है। कवि ने अधिकतर लघु फलकों पर प्रकृति के कोमल रूप के चित्र ही सजाये हैं। यह चित्रात्मकता 'रसवन्ती', 'नीलकुसुम' और 'उर्वशी' में सर्वाधिक है।

कवि की प्रारम्भिक कृति 'रेणुका' में भी उसकी चित्रांकन कला का परिचय मिलता है—

---

१ 'रेणुका', (कविता की पुकार) पृ० १४।

"आज सरित का कल-कल, छल-छल।
निर्झर का अविरल झर-झर।
पावस की बूंदो की रिमझिम।
पीले पत्तो का मर्मर॥"[1]

प्रस्तुत चित्र मे प्रकृति का ध्वनि और गति का समन्वित रूप व्यक्त हुआ है। कल-कल और छल-छल शब्द ध्वनि-परक हैं। और झर-झर के अन्तर्गत गति और ध्वनि का सम्मिश्रण है।

'रसवन्ती' मे प्रकृति के अनेक चित्र कवि ने प्रस्तुत किए हैं—

"पर्ण-कुजों मे न मर्मर गान, सो गया थक कर शिथिल पवमान,
अब न जल पर रश्मि बिम्बित लाल; मूंदे उर मे स्वप्न सोया ताल।
सामने द्रुमराजि तमसाकार, बोलते तम मे विहग दो-चार,
झींगुरो मे रोर खग के लीन देखते ज्यो एकरव अस्पष्ट अर्थ विहीन।
दूर श्रुत अस्फुट कहीं की तान, बोलते मानो, तिमिर के प्राण।"[2]

प्रस्तुत चित्र प्रकृति की निस्तब्धता और नीरवता का स्थिर चित्रीकरण है। नीरवता सन्ध्या के वातावरण को साकार बनाती है। कवि ने लघु-चित्रो के अन्तर्गत प्रतिबिम्ब चित्र भी सुन्दरता से अंकित किए हैं—

"उगा अगर सत्य, उतर आया सरसी मे निखिल व्योम सखी।
झलमल-झलमल काँप रहे हैं जल मे उडु और सोम सखी।"[3]

जल मे तारक विहसित गगन की छाया कवि ने तैरते हुए चित्रो में रख दी है।

प्रकृति के चित्रो में कवि पर छायावादी चित्र-योजना का प्रभाव भी दृष्टव्य है—

"शशि मुख पर दृष्टि लगाये, लहरें उठ घूम रही है,
भय-वश न तुम्हे छू पाती, पकज मुख चूम रही हैं,
गा रही चरण के पास विकल, छवि बिम्ब लिए अंतर मेरी।"[4]

घूमती हुई लहरें और शशि-मुख का चित्र बड़ा ही मनोहर चित्र है। भाव और वर्ण का साम्य इसकी विशिष्टता है। 'भय-वश' शब्द से कवि 'भय-वश न तुम्हे छू पाती' द्वारा कवि अन्तर्वासिनी की रहस्यमयता को प्रकट करता है। इन पक्तियों से प्रसाद जी की 'आसू' की पंक्तियों का स्मरण हो आता है।

---

१. 'रेणुका' (मगल आह्वान) : पृ० ख।
२. 'रसवन्ती' (सन्ध्या) पृ० ८०।
३. 'रसवन्ती' : पृ० ४२।
४. वही (अन्तर्वासिनी) : पृ० ४६।

प्रकृति के चित्र 'द्वन्द्वगीत', 'नीलकुसुम' मे भी कवि ने उतारे हैं।

कवि दिनकर की विशिष्टता यह भी है कि उन्होंने मात्र रेखाओं द्वारा चित्र का ढाँचा ही प्रस्तुत नही किया, वरन् रंगों के द्वारा उन्हे इन्द्र धनुषी सौन्दर्य प्रदान किया है—

> "भूखी झिलमिल रजत-सरित हो घटा गगन की काली है,
> मेहदी के उर की लाली हो पत्तो मे हरियाली है।
> जुगनू की लघु विभा दिवा मे कलियों की मुस्कान हुई,
> उडु को ज्योति उसी ने दी जिसने निशि को अँधियाली है।"[1]

प्रथम पंक्ति मे रजत-सरित के विरोधाभासी, काली घटा को प्रस्तुत कर कवि ने घटा का रंग और भी गहरा बना दिया है। मेहदी की लाली और पत्तों की हरियाली द्वारा कवि की रग योजना मुखरित हुई है। जुगनु की विभा और कलियों की मुस्कान मे कवि वर्ण-योजना के साथ आभा और कोमलता का सयोजन कर सका है। ज्योति और अधकार का विरोध और उन द्वारा व्यजित प्रतीक चित्र को पारदर्शी बना देते हैं।

'उर्वशी' मे ऐसे अनेक रेखाचित्र प्रस्तुत किए जा सकते हैं जो रगीन और मादक हैं—

> "शांति, शान्ति सब ओर, किन्तु यह क्वणन-क्वणन-स्वन कैसा ?
> अनल व्योम-उर मे ये कैसे नूपुर झनक रहे है ?
> उगी कौन-सी विभा ? इन्दु की किरणें लगी लजाने,
> ज्योत्सना पर यह कौन अपर ज्योत्सना छायी जाती है ?
> कल-कल करती हुई सलिल-सी गाती, धूम मचाती,
> अम्बर से ये कौन कनक-प्रतिमायें उतर रही हैं ?
> उडी आ रही छूट कुसुम-वल्लियाँ कल्प-कानन से,
> या देवों की वीणा की रागिनियाँ भटक गई हैं ?
> उतर रही हैं ये नूतन पंक्तियाँ किसी कविता की,
> नई अर्चियों-सी समाधि के झिल-मिल अँधियाले मे ?
> या वसन्त के सपनो की तस्वीरें घूम रही हैं,
> तारों-भरे गगन मे फूलों-भरी धरा के भ्रम से ?"[2]

निशा व्याप्त ज्योत्सना का आनन्द लेते हुए सूत्रधार क्वणन-क्वणन शब्द सुनकर वृहत् रेखाचित्र खींचता है। प्रत्येक उत्प्रेक्षा एक-एक लघु चित्र उपस्थित करती है जो सजा हुआ गुलदस्ता-सा लगता है।

१. द्वन्द्वगीत : पृ० २५।
२. 'उर्वशी,' प्रथम अंक : पृ० ६।

'उर्वशी' के तृतीय अंक मे प्रकृति का वर्णन चित्रात्मक शैली में ही हुआ है। जिन पर कवि का काव्य-रंग मजा हुआ है। प्रभात का वर्णन उर्वशी के शब्दो में चित्र उपस्थित करता है—

"चन्द्रमा चला, रजनी बीती, हो गया प्रात:,
पर्वत के नीचे मे प्रकाश के आसन पर,
आ रहा सूर्य फेंकते बाण अपने लोहित,
छिप गया ज्योति, वह देखो अरुणाभ शिखर,
हिम-स्नात, सिक्त वल्लरी पूजारिन को देखो।
पति को फूलो का नया हार पहनाती है
कुंजों में जन्मा है कल कोई वृक्ष कहीं,
वन की प्रसन्न विहगावलि सोहर गाती है।"[1]

सूर्य का आगमन और रजनी का गमन बड़ा ही प्रसन्नोत्पादक है। कवि प्राकृतिक छटा के वर्णन के साथ-साथ सोहर का जो चित्र प्रस्तुत करता है वह अनूठा है।

रूप चित्र :—

रूप चित्र के अन्तर्गत कवि ने रूमानी रूपो का ही अधिक चित्रण किया है। 'रेणुका' की राजारानी कविता शकुन्तला आदि का करुणामय रूप-चित्र प्रस्तुत किया है।[2]

रसवंती मे तथा अन्य मुक्तक संग्रहों में कवि ने नारी को माध्यम बनाकर अनेक रूप-चित्र प्रस्तुत किए हैं।

"खोल दृग देखा प्राची ओर अलक्तक चरणो का शृंगार,
तुम्हारा नव उद्वेलित रूप मे उड़ता कुंतल-भार।"[3]

प्रारंभ मे क्रिया विधायक चित्र है और पश्चात् रूप और रंग की छटा है। अन्त मे रंग और गति द्वारा कवि ने चित्र को सजीव बना दिया है।

"गीत-अगीत' काव्य में तीनों चित्र जिज्ञासा, गुलाबी सौन्दर्य और शृंगार को व्यक्त करते हैं। चित्र विश्लेषणात्मक है जिसकी प्रत्येक रेखा अनुरागमयी भंगिमा को उत्पन्न कर अनुभूति को सरस बना देती है।

"बालिका से वधू' काव्य मे कवि ने ग्रामीण उपकरणो और सहज सौन्दर्य से युक्त ग्रामवधू का चित्र प्रस्तुत किया है—

"माथे में सिन्दूर पर छोटी दो बिन्दी चम-चम सी
पपनी पर आँसू की बूँदें मोती-सी सबनम-सी

१. 'उर्वशी', तृतीय अंक : पृ० ६६।
२. 'रेणुका', (राजारानी) : पृ० ४३।
३. 'रसवंती' (रसवंती), :पृ० ५।

पीला चीर कोर में जिसकी चकमक गोटा-जाली
चली पिया के गाँव उमर के सोलह फूलों वाली।"[1]

इसी प्रकार विदा लेती हुई *कन्या की बिछोह-पीड़ा और उसके मन की उमग* का वर्णन कवि ने रेखाचित्रों द्वारा ही व्यक्त किया है।

पुरुष प्रिया के रूप चित्रों में कवि की सौन्दर्य दृष्टि और चित्रांकन के वैशिष्ट्य का परिचय मिलता है। कवि का चित्र तरल और प्राणवन्त है—

"लघु कनक कुम्भ कटि पर साधे, दृग बीच तरल अनुराग लिए,
चरणों में ईंगुर अरुण क्षीण जल धौत अलक्तक-राग लिए,
सद्यस्नाता मद भरित मिलन मरमी रुह की अम्लान कली,
अक्षता सद्य पाताल-जनित मदिरा की निर्झरिणी पतली।"[2]

कवि ने सद्यस्नाता के हलके अलक्तक की रंग योजना और आँखों के तरल अनुराग द्वारा चित्र को सुन्दर सवाक बना दिया है। सद्यस्नाता में मदिरा की पतली निर्झरिणी की कल्पना सचमुच उनकी कल्पना का सूक्ष्म परिचायक है।

रूप-कल्पना में कवि सुहागिन के रूप को अनेक आभूषणों से सजाकर अलङ्कृत करता है—

"तुम्हें भी रात के सुनसान में आकाश पर दिखते;
वे कौन किसी के माँग के मोती, किसी के हाथ का दर्पण?
किसी के मुक्त कुंतल जाल लहराते हुए घन से,
कि जिनमें से चमेली के हजारों फूल झरते हैं।"[3]

कवि ने प्रकृति से रूप और रंगों को उधार लेकर नारी के चित्रों को सजाया है।

"उर्वशी" में रूपचित्र अनेक रूपों में कवि ने प्रस्तुत किये हैं। उर्वशी का नैसर्गिक सौन्दर्य कितना दीप्त और कांतिपूर्ण है जिसकी अलौकिकता दृष्टि को चकाचौंध बना देती है—

"प्रकटी जब उर्वशी चाँदनी में द्रुम की छाया से,
लगा सर्प के मुख से जैसे मणि बाहर निकली हो।
या कि स्वयं चाँदनी स्वर्ण प्रतिमा में आन ढली हो,
उतरी हो धर देह स्वप्न की विभा प्रमद उपवन की,

---

१. रसवन्ती, (बालिका से वधू) : पृ० १८।
२. 'रसवन्ती', (पुरुष प्रिया) : पृ० ५३-५४।
३. 'नीलकुसुम', (स्वप्न और सत्य) : पृ० १४।

हिम-कण सिक्त कुसुम-सम उज्ज्वल अंग-अंग झलमल था,
मानों अभी-अभी जल से निकला उत्फुल्ल कमल था,"[1]

उर्वशी के रूप सौन्दर्य के अनेक उदाहरण प्रस्तुत किए जा सकते हैं। रूपचित्र के अन्तर्गत हम कर्ण, भीष्म, परशुराम जैसे प्रतिभापूर्ण व्यक्तियों के चित्र रूप देख सकते है।

व्यंग चित्र :

कवि दिनकर के व्यंग चित्र बड़े ही सशक्त और समृद्ध हैं। कवि का आक्रोश, व्यंग और उपहास के माध्यम से जिस शक्ति से व्यक्त होता है वह व्यंग चित्रकार की रेखाओं से कम शक्तिशाली नहीं है। ऐसे चित्र यद्यपि अलंकार की आभा से रंगे नहीं होते हैं, परन्तु उनका प्रभाव बड़ा ही स्थायी होता है। व्यंगों का अधिकतर प्रभाव उनकी मुक्तक रचनाओं में है तथा स्वातान्त्र्योत्तर भ्रष्टाचार को कवि ने व्यंगात्मक शैली में ही व्यक्त किया है—

"आजादी खादी के कुरते की एक बटन,
आजादी, टोपी एक नुकीली तनी हुई।
फैशन वालों के लिए नया फैशन निकला,
मोटर में बांधो तीन रंग वाला चिथड़ा,
और गिनो कि आंखें पड़ती हैं कितनी हम पर
हम पर यानी आजादी के पैगम्बर पर।
× × ×
टोपी कहती है मैं थैली बन सकती हूँ,
कुरता कहता है, मुझे बोरियां ही कर लो।
ईमान बचाकर कहता है आंखें सबकी
बिकने को हूँ तैयार खुशी हो जो दे दो।"[2]

आधुनिकता पर एक व्यंग देखिए—

"आधुनिकता की बही पर नाम अब भी तो चढ़ा दो,
नायलन का कोट हम सिलवा चुके हैं;
और जड़ से नोच कर बेली चमेली के द्रुमों को
कैक्टसों से भर चुके बाग हम अपना।"[3]

गाँधी के नाम पर अहिंसा का कृत्रिम ढोंग रचने वालों पर उनका प्रहार किसी कार्टून से कम नहीं है—

१. 'उर्वशी', द्वि० सं० : पृ० ७६।
२. 'नीम के पत्ते', (पहली वर्ष गाँठ) : पृ० १७-१८।
३. 'नए सुभाषित'

"कुरता-टोपी बाँध कमर मे भले बाँध लो,
पांच हाथ की धोती घुटनो से ऊपर तक,
अथवा गाधी बनने के आकुल प्रयास मे,
आगे के दो दाँत डॉक्टर से तुड़वा लो।"[१]

निष्कर्षत' कवि ने ध्वन्यात्मक और चित्रात्मक शक्तियो का सफल प्रयोग कर शिल्प को मोड दिया है। कवि ने कोमलता, ओज, शृंगार आदि सभी भावो को कोमल-परुष विशाल और लघु चित्रों द्वारा प्रस्तुत किया है। कवि के चित्रो की विशेषता यही है कि भाव मन. चक्षु के सामने साकार रूप ग्रहण कर लेते है। उनके चित्र पारदर्शी है जिनमें बाह्य रेखाओ के साथ-साथ आन्तरिक भावनायें भी मूर्त होती है। दिनकर के चित्रो की सर्वाधिक विशेषता यह मानी जा सकती है कि कवि ने चित्रों के माध्यम से भाषा को तो सजाया ही है—रसोद्रेक के माध्यम भी बन जाते हैं। हमारी दृष्टि चित्रो की रेखाओं के प्रति ही आसक्त नही रहती अपितु वह उसके मर्म को ग्रहण कर आनद का अनुभव करती है। एक शब्द में कहें तो दिनकर को चित्र योजना में पूर्ण सफलता प्राप्त हुई है।

भाषागत दोष :

दिनकर की भाषा का विविध दृष्टिकोणो से अध्ययन करते समय कतिपय दोष भी दृष्टिगत होते है। यद्यपि इस प्रकार के दोष-दर्शन का अभिप्राय कवि पर दोषारोपण नही है, तथापि शोधार्थी की दृष्टि से जहाँ कही सदोष भाषा का प्रयोग दिखाई दिया, उसे प्रस्तुत किया है। प्रत्युत ऐसे दोष कम ही है।

दुनरुक्ति दोष :

दिनकर की भाषा मे यह दोष दृष्टव्य है। पदावृत्ति के कारण काव्य का सौन्दर्य किन्ही अशो तक घट जाता है। उदाहरणार्थ 'सामधेनी' मे सग्रहीत 'जवानियो' एवं 'जवानी का झंडा' रचनाओ मे 'अहा' की पदावृत्ति द्रष्टव्य है। 'हुँकार' मे सकलित 'हाहाकार' काव्य में दूध-दूध की पदावृत्ति के कारण ऐसा लगने लगता है कि कवि की दृष्टि मात्र बच्चो के दूध तक ही सीमित हो गई है। इसी प्रकार 'बापू' काव्य मे 'अंगारहार' पद की पुनरावृत्ति अन्त तक छूटती ही नही है। पुनश्च इसी काव्य मे 'मानवता का इतिहास' पद की पुनरावृत्ति चौदह पक्तियो मे सात बार हुई है।

शब्द दोष :

इस दोष के अन्तर्गत कवि द्वारा प्रयुक्त अप्रचलित एव क्लिष्ट तत्सम शब्दो के प्रयोग समाविष्ट किए जा सकते हैं। कवि की राष्ट्रीय ओज गुण-युक्त रचनाओ मे हुआ है। उदाहरणार्थ—

---

१ नये सुभाषित : पृ० ५४।

"मेरी ध्वनि के छा गए त्रिदिव मे प्रतिध्वान
सुरवर्त्म स्तब्ध, रुक गया विभावसु का वितान ॥"[1]

पाठक जब तक उपरोक्त रेखांकित शब्दों का अर्थ समझने का प्रयत्न करता है, तब तक तो 'दृग्विद्ध', 'विरुपाक्ष', 'सुरद्विप', 'विवस्वान' आदि शब्दों का प्रवाह उमड़ पड़ता है। परिणामस्वरूप काव्य के रसास्वादन मे तो क्षति होती ही है, काव्य की क्लिष्टता भी खटकती है।

इसी प्रकार सामधेनी की प्रतिकूल कविता मे ऐसे शब्ददोष देखे जा सकते हैं—

"इच्छा में भी उसकी, जिसका यह शम्बपात।
× × ×
चलना होगा कब तक, दूरध्व पर हृदय-थाल।
× × ×
सागर मे तप परिणात, सरित मे सर प्रवाह।"

रेखांकित शब्दों द्वारा शब्दो की क्लिष्टता का अनुभव किया जा सकता है।

'कुरुक्षेत्र' की प्रारंभिक पंक्तियो मे ही कवि ने 'व्याहार' एवं 'शीर्षवलक्ष' जैसे अप्रचलित शब्द का प्रयोग किया है। शीर्षवलक्ष के अर्थ के लिए सिर के बालों की सफेदी से तात्पर्य ग्रहण करने के पश्चात् ही अर्थ समझने का परिश्रम करना पड़ता है। इसी भाति पचमसर्ग मे इन पन्नो से आ रहा विस्र यह क्या है—पक्ति में 'विस्र' शब्द का क्लिष्टत्व ग्राह्य नही हो पाता।

'उर्वशी' में भी 'निविडस्तननता', 'मुष्टि मध्यमा' जैसे अप्रचलित तत्सम शब्दो की योजना से क्लिष्टता उत्पन्न होती है।

असंगत शब्द प्रयोग दोष : कही-कही कवि ने असगत शब्द प्रयोग किए है जो वातावरण या स्वभाव के अनुकूल नही हैं। यथा सर्प की फुफकार के लिए 'गूंजना' शब्द का प्रयोग हुआ है जो प्रसिद्ध हत दोष है।

"गूंज रही संस्कृत मंडप में भीषण फणियो की फुफकारें।"[2]

इसी प्रकार कवि शिशुओं को विशाल वसन उड़ा कर उन पर भार ही लादता है—

"सरल शिशु-सा सोता है विश्व, ओढ सपनों के वसन विशाल।"[3]

च्युत संस्कृत दोष : (ग्रामीण शब्द-प्रयोग दोष) :—दिनकर के काव्यों में कही-कही च्युत सस्कृत दोष भी दृष्टव्य हैं। जिससे व्याकरण सम्मतता का दोष होता है—

१. हुंकार, (स्वर्गदहन) : पृ० १२।
२. रेणुका, (कस्मैदेवाय) : पृ० ३१।
३. वही, (कवि) : पृ० ७५।

"आंजने जिस क्षण बैठी आंख, पहूँची मधुवेला यह आन।"

यहां 'पहूँची' में ह 'ह्रस्व' चाहिए। ह्रस्व 'उ' मधुवेला में शीघ्र पहुंचने की सूचना देता है। इसी प्रकार—

"कोयल न कीर तो बोले हैं, कुररी मैना रस घोले हैं।"[1]

यहां सकर्मक क्रिया घोलना के आसन्नभूत कालिक रूप में कर्त्ता की 'ने' विभक्ति होनी चाहिए।

यद्यपि दिनकर के शब्दों में देशज शब्द और सौन्दर्य के पोषक हैं परन्तु उर्वशी के तत्सम वर्णनों में कहीं-कहीं ऐसे प्रयोग अनुकूल नहीं लगते। एकाध स्थान पर ब्रज के 'जाने' और 'कड़े' शब्दों का प्रयोग किया गया है। साथ ही उर्दू के 'धड़कन' जैसे शब्द का प्रयोग भी असंगत लगता है।

लिंग दोष :—दिनकर की भाषा में कहीं कहीं लिंग दोष भी दिखाई देते हैं। कुछ उदाहरण स्पष्टता के लिए पर्याप्त हैं—

"दिल्ली आह कलक देश की, दिल्ली आह ग्लानि की भाषा॥"[3]

यहां 'कलक' का स्त्रीलिंग में प्रयोग चिन्त्य है। कुरुक्षेत्र में भी ऐसे ही दोष हैं—

"खोजती कुछ तत्त्व रण के भस्म में।"[4]

'वे क्या जाने नर में वह क्या असहनीय अनल है।'[5]

"सम्राट-भाल पर चढ़ी लाल जो टीका।"[6]

प्रथम व द्वितीय में भस्म तथा अनल का प्रयोग पुल्लिंग में तथा टीका का प्रयोग स्त्रीलिंग में किया है जो संपूर्ण विपरीत है। उर्वशी में भी एकाधदोष ऐसा ही है—

"लगा, अग्नि ही स्वयं फूट कर कड़े चले आते हों।"[7]

यहां अग्नि का पुल्लिंग में प्रयोग हुआ है।

वचन दोष : लिंग के समान कहीं-कहीं वचन दोष भी हुए हैं—

"पांच ही असहिष्णु नर के द्वेष से हो गया संहार पूरे देश का।"[8]

---

१. रसवन्ती, (राम की मुरली) : पृ० ४१।
२. रेणुका, (मिथिला में शरत) : पृ० ५७।
३. दिल्ली, (दिल्ली और मास्को) : पृ० १०।
४. कुरुक्षेत्र, प्र० सर्ग : पृ० ८।
५. कुरुक्षेत्र, द्वि० सर्ग : पृ० ३७।
६. वही, पृ० ८५।
७. उर्वशी, तृ० अंक : पृ० १११।
८. कुरुक्षेत्र, प्र० सर्ग : पृ० ८।

यहाँ नर के स्थान पर 'नरो' होना चाहिए था।

अन्य :—कहीं-कहीं कथितपद दोष भी मिलते है जिसके अन्तर्गत किसी एकार्थक शब्द का दुबारा प्रयोग किया जाता है।

"किरण रूप, निष्काम रहित हो, क्षुधा-तृषा के रज से
कर्मबंध से मुक्त, हीन दृग, श्रवण, नयन, पद, भुज से।"[1]

तथा—

"निःश्रेयस यह श्रमित, पराजित, विजित-बुद्धि का भ्रम है।"[2]

इन दोनों उदाहरणों में क्रमशः दृग और नयन तथा पराजित और विजित शब्दों का प्रयोग एकार्थक शब्द के लिए ही हुआ है।

इस प्रकार के दोष इतने बड़े विशाल कवित्त्व सागर में नगण्य ही कहे जा सकते हैं। सांगोपांग निरीक्षण के निष्कर्ष रूप यही कहा जा सकता है कि दिनकर की भाषा प्रसाद गुण से युक्त, ओज एवं शृंगार भावनाओं से समृद्ध भाषा है जो उत्तरोत्तर प्रगति कर परिमार्जित होती गई है।

अलंकार योजना :

मूलतः काव्य की आत्मा रस है। इस रसयुक्त काव्य को सौन्दर्य प्रदान करने का कार्य अलंकार करते हैं। कभी-कभी ऐसा भी देखा जाता है कि रसहीन काव्य भी अलकारों के कारण शोभा रूप लगता है, परन्तु ऐसा काव्य ठीक उस सजे हुए शरीर-सा है जिसमे जान नहीं है—निरूपयोगी है। इससे यह सिद्ध होता है कि जिस प्रकार सजीव शरीर अलंकृत होकर आकर्षण का केन्द्र बनने की क्षमता रखता है, उसी भाँति सरस काव्य ही अलंकृत होकर विशेष प्रभावोत्पादक बनता है। इस कथन से यह भी प्रतिफलित होता है कि काव्योत्कर्ष का प्रथम लक्षण रस, तथापि अलंकार है। अलंकारो के प्रयोग से कवि अपनी वाणी को विभूषित करता है।

सर्वप्रथम भरतमुनि ने 'नाट्य शास्त्र' के अन्तर्गत 'अलकार-लक्षण' शीर्षक के अन्तर्गत अलंकारों पर विचार करते हुए इतना ही निर्देश किया कि अलकार और गुण काव्य की शोभा में अभिवृद्धि करते हैं।[3] तदनंतर भामह ने वक्रोक्ति को ही अलंकार माना।[4] दण्डी ने अलंकारों को काव्य की शोभा करने वाले धर्म-रूप मे इनका स्वीकार किया।[5] वामन ने काव्य में निहित सौन्दर्य को अलंकार माना।[6] मम्मट ने इन्हे

१. कुरुक्षेत्र, प्र० सर्ग: पृ० १६८।
२. वही, पृ० १५४।
३. नाट्य शास्त्र, अ० १६, श्लोक ४-५ (जी० ओ० एस० डी०) प्रका० १९३४।
४. काव्यालंकार, परि० १, श्लोक ३६।
५. काव्यादर्श, परि० २, कारिका १।
६. काव्यालंकारसूत्र, अधिकरण १, अं० १, सूत्र २।

हारादि के समान शोभाकर माना है।[1] पंडित विश्वनाथ ने अलंकारों को काव्य के उत्कर्ष-हेतु स्वीकार किया।[2] हिन्दी के आचार्यों ने भी अलंकारो के महत्त्व को काव्य सौन्दर्य के हेतु स्वीकार किया है। श्री केशव का विधान उल्लेखनीय है—

"जदपि सुजाति सुलच्छनी सुबरन सरस सुवृत्त।
भूषण बिनु न बिराजई, कविता बनिता मित्त।"[3]

इन व्याख्याओं एवं मान्यताओं से यह पुष्ट होता है कि अपनी उक्ति को प्रभावपूर्ण एवं सौन्दर्य-वर्धन के निमित्त कवि अलकारो की योजना करता है। अलकार-युक्त काव्य सहृदयों को रंजित करने की क्षमता रखता है। कवि अभीष्ट अर्थ के साथ वाह्य जगत की वस्तुओं के सादृश्य स्थापित कर काव्य अर्थ एवं काव्य रूप को सुशोभित करता है।

अलकारों के काव्य-विदो ने मुख्य रूप से दो भेद किये हैं—(१) शब्द के अलकार तथा (२) अर्थ के अलकार।

प्रथम प्रकार के शब्दालकार कहलाते है। आचार्यों ने शब्दालकारो से युक्त काव्य को उत्तम काव्य नही माना। काव्य प्रकाशकार ने ऐसे काव्य को अधम काव्य ही कहा है—जिसमे मात्र शब्द चित्र हो, व्यंजना न हो।[4] आनन्दवर्धन एवं पंडित जगन्नाथ ने अपने ग्रथ 'ध्वन्यालोक' एव 'रस गंगाधर' मे शब्दालकारों का प्रयोग निषेध किया है। हाँ, यह अवश्य स्वीकार किया है कि काकतालीय न्याय से कदाचित एकाध यमक आदि का प्रयोग हो जाए तो हर्ज नही।

जब कवि सौन्दर्य के पीछे पड जाता है तब उसका काव्य सही ऊर्मि-सवेदना को सफलता से अभिव्यक्त नही कर पाता और काव्य सही अर्थों मे काव्य के सौन्दर्य से दूर ही रहता है। वस्तुतः जहाँ कवि सप्रयास शब्दालकारो का प्रयोग करता है वहाँ काव्य निर्बल बनता है और जहाँ वे स्वत प्रयुक्त होते हैं वहाँ काव्य सौन्दर्य को बढाते हैं।

भरतमुनि से लेकर प्राय. सभी आचार्यों ने इसी दृष्टि से शब्दालंकारो को गौण मानकर उनकी सख्या अत्यल्प मानी है।

अर्थ के अलकारो को अर्थालकार कहा जाता है। अर्थालंकारों को उत्तम माना गया है। ये काव्य के सौन्दर्य के अभिवृद्धिकर्त्ता हैं। परन्तु जहाँ कवि मात्र अलंकारों का ही प्रयोग करने लगता है और काव्य की ध्वनि एवं व्यंजना को गौण बना देता है उसे भी श्रेष्ठ काव्य नही माना जाता। (ध्वन्यालोक—उद्योत—२, कारिका १५-१६

१. काव्य प्रकाश, उल्लास ८, कारिका ६७।
२. साहित्य दर्पण, परि० १, कारिका ३।
३ कवि-प्रिया, अ० ५, दोहा १।
४. काव्य प्रकाश, मम्मट : उल्लास १, सूत्र ४।

निर्णय सागर १९३८) प्रारम्भ में काव्य में सौन्दर्य एवं प्रभावोत्पादकता की चर्चा अर्थालंकारों के आधार पर ही की गई है। अर्थालंकार साम्यमूलक, अतिशयमूलक, वैषम्यमूलक, औचित्यमूलक, वक्रतामूलक रूपों में विविध प्रकार से प्रयुक्त होते हैं।

पाश्चात्य विद्वानों ने भी अलंकृत-काव्य के महत्त्व को स्वीकार करते हुए शब्द वाक्य एवं अर्थ विन्यास संबंधी अलंकारों को स्वीकार किया है। यद्यपि इनमें कुछ पाश्चात्य अलंकारों का समावेश हमारे अलंकारों में हो जाता है।

इस सम्पूर्ण चर्चा के निष्कर्ष रूप यह कहा जा सकता है कि भारतीय और पाश्चात्य मनीषियों ने काव्य की शोभारूप अलकारों को स्वीकार किया है।

दिनकर के काव्य में अलकार :

दिनकर जैसा कि उनकी कृतियों के अध्ययन से ज्ञात हुआ है—मूलतः भावनाओं के कवि हैं—शिल्प के नहीं। कवि का प्रथम प्रयास यही रहा कि वह हृदय के भावों को मुक्त रूप से सरल ढंग से अभिव्यक्त करें। इस अभिव्यक्तिकरण में कवि-प्रतिभा के कारण अलंकार स्वाभाविक रूप से ही प्रयुक्त हुए हैं।

कवि स्वयं अलंकारों को बाह्य सौन्दर्य से अधिक आन्तरिक सौन्दर्य के सहायक उपकरण मानता हुआ कहता है—"अलंकार शब्द से, वैसे तो अनावश्यक बनाव-सिंगार की ध्वनि निकलती है, किन्तु कविता में अलंकारों के प्रयोग का वास्तविक उद्देश्य अतिरंजन नहीं, वस्तुओं का अधिक से अधिक सुनिश्चित वर्णन ही होता है। साहित्य में जब भी हम संक्षिप्त और सुनिश्चित होना चाहते हैं, तभी रूपक की भाषा हमारे लिए स्वाभाविक हो उठती है।"[1]

कवि के इस निवेदन से यह स्पष्टता हो जाती है कि कवि कृत्रिम रूप से अलंकारों का स्वीकार नहीं करता वरन् स्वाभाविक रूप से वहीं स्वीकार करता है जहाँ वे वर्णनों को संक्षिप्त और सुनिश्चितता लाना चाहते हैं।

दिनकर के काव्य में, अलंकारों में भी शब्दालंकारों को अत्यल्प स्थान मिला है। काव्य में विशेष रूप से अर्थालंकारों का ही प्रयोग हुआ है। कवि ने परम्परागत अलकारों के उपरात नवीन अलंकारों का प्रयोग भी किया है। अब हम दिनकर के काव्य में प्रयुक्त अलंकारों का अध्ययन, उनकी अलंकार योजना द्वारा करेंगे।

दिनकर द्वारा प्रयुक्त अलंकारों का विभाजन निम्नलिखित रूपों में किया जा सकता है।

१. परम्परागत अलकार।

२. नवीन अलंकार।

---

१. चक्रवाल, (भूमिका) : पृ० ७३।

श्लेष :

"कहाँ उच्च वह शिखर काल का जिस पर अभी विलय था ।"[1] (उ० ७३)

यहां 'काल' समय और यम का अर्थ प्रकट करता है अतः शब्द-श्लेष है ।

पुनरुक्तवदाभास :

"ये पर्वत रस मग्न, अचल कितने प्रसन्न लगते हैं ।"[2] (उ० ११८) यहाँ पर्वत और अचल यद्यपि एक से लगते है और शब्द पुनरुक्ति का भास होता है तथापि यहाँ अचल का अर्थ निश्चल होने से पुनरुक्तवदाभास शब्दालंकार है ।

वीप्सा :

आदर, उत्साह, आश्चर्य, शोक, घृणा आदि भावों को व्यक्त करते समय उन्हें प्रभावोत्पादक बनाने के लिए जब शब्द बार-बार आते हैं वहाँ 'वीप्सा' शब्दालंकार होता है । इस अलंकार को संस्कृत के आचार्यों ने स्वीकार नहीं किया है ।

हुँकार की हाहाकार कविता में कवि ने दूध-दूध शब्द के प्रयोग द्वारा समाज के प्रति अपनी घृणा एवं रोष को व्यक्त किया है ।[3] तथा—

"तेज-तेज साँसें चलती हैं, धड़क रही छाती है
चित्रे ! तू इस तरह कहाँ से थकी-थकी आती है ।"[4]

इन उदाहरणों को देखने पर यह पुष्ट होता है कि सचमुच कवि कहीं पर भी सप्रयास शब्द योजना में रत नहीं है । भावों के अनुरूप जैसे शब्द स्वयं अपना स्थान ग्रहण करते गये हैं । यही कारण है कि शब्दालंकार कहीं भी भावों पर आक्रांत नहीं हैं वरन् काव्य को सुन्दरता ही प्रदान करते है । इस निष्कर्ष से हम कवि के पूर्व निवेदन से भी सहमत हो सकते हैं ।

अर्थालंकार :

दिनकर के काव्यों में अर्थालंकारों में विशेष रूप से साम्य या सादृश्यमूलक अलंकारों का प्रयोग ही हुआ है । सादृश्यमूलक अलंकारों के उपरांत अतिशयमूलक, वैषम्यमूलक एवं वक्रतामूलक अलकारों के प्रयोग भी हुए है । अब हम दिनकर के काव्यों में प्रयुक्त अर्थालंकारों के उदाहरणों द्वारा उनके सौन्दर्य का परीक्षण करेंगे ।

उपमा :

जब किसी वस्तु का वर्णन करके उससे अधिक प्रसिद्ध वस्तु से उसकी समानता, की जाये, तब उपमा अलंकार की सुन्दरता होती है । दूसरे शब्दों में कहें तो उपमेय और

---

१. उर्वशी, तृ० अं० : पृ० ७३ ।
२. उर्वशी, तृ० अं० : पृ० ११८ ।
३. देखिए हुंकार, (हाहाकार) : पृ० २२-२३ ।
४. उर्वशी : प्र० अं० : पृ० २० ।

उपमान मे सादृश्य का ज्ञान प्रस्थापित करना है। उपमा अलकार मे उपमेय, उपमान, सामान्य धर्म एवं वाचक शब्द का होना आवश्यक है।

दिनकर के काव्य मे उपमा की बहुलता है। कवि ने युद्ध और प्रेम दोनों सदर्भों मे इसी अलकार का प्रयोग किया है। उदाहरणार्थ—

(अ) "शरों की नोक पर लेटे हुए गजराज जैसे।
थके, टूटे, गरुड़ से त्रस्त पन्नगराज जैसे।"[1]

(आ) "और तब चुप हो रहे, कौन्तेय
सयमित करके किसी विध शोक दुष्परिमेय,
उस जलद-सी एक पारावार,
हो भरा जिसमे लबालब, किन्तु जो लाचार,
बरस तो सकता नहीं, रहता मगर बेचैन है।"[2]

(उ) "कटि तक डूबा हुआ सलिल मे, किसी ध्यान मे रत सा,
अम्बुधि मे आकटक निमज्जित कनक-खचित पर्वत सा।"[3]

(ई) "माथे मे सेंदूर की छोटी दो बिन्दी चमचम सी
पपनी पर आँसू की बूँदें, मोती-सी शबनम-सी।"[4]

(ई) "लाल-लाल वे चरण कमल से, कुंकुम से, जावक-से,
तन की रक्तिम कान्ति शुद्ध, ज्यों, धुली हुई पावक से।"[5] (उ० पृ० २४)

(उ) "शुभे! तपस्या के बल मे यौवन मैं ग्रहण करूँगा,
प्रौढ मेघ, पादप नवीन, मदकल, किशोर कुजर सा।"[6]

उपरोक्त उदाहरणों मे प्रथम मे मृत्यु शैय्या पर शयित उपमेय भीष्म के वीरत्व की तुलना कवि गजराज, थके टूटे गरुड एवं त्रस्त पन्नगराज से करता है। जैसे और से वाचक शब्द है तथा त्रस्त सामान्य धर्म है। कवि भीष्म की उस अवस्था को अंकित कर रहा है जो आजीवन अडिग रहने के पश्चात् आज थका हुआ और टूटा हुआ है। उपमानों का प्रभाव साम्य चित्रण भीष्म के चित्र को सजीव बना देते है।

द्वितीय उदाहरण मे युधिष्ठिर की वेदनामय अश्रुपूर्ण आंखों को सजल बादलों की उपमा देकर उनके गरिमामय व्यक्तित्व को प्रस्तुत करना है। जो रोना चाहता है मगर लाचार हो—रो नहीं पाता। धर्म साम्य का यह सुन्दर उदाहरण है।

---

१. कुरुक्षेत्र, च० स० : पृ० ४६।
२. वही, द्वि० स० : पृ० १५।
३. रश्मिरथी, च० स० : पृ० ५०।
४. रसवन्ती, (बालिका से वधू) : पृ० १६
५. उर्वशी, प्र० अं० : पृ० २४।
६. वही, च० अ० : पृ० १०६।

इसी प्रकार कर्ण के दीप्त एवं तपस्वी रूप को स्वर्ण खचित पर्वत उपमान से सादृश्य स्थापित करते हुए कवि उसके अडिग एवं उज्जवल व्यक्तित्व को साकार कर देता है।

वधू का रूप एवं पिता का घर छोडने की वेदना मे प्रवाहित अश्रुशीला नारी का वर्णन सचमुच मार्मिक है। एक ओर माथे के सिंदूर की बिन्दी चमचमा कर उसके सुहाग का परिचय देती है दूसरी ओर आँसू की बूंदें मोती और शबनम सी चमक रही हैं। सौन्दर्य और रुदन का चित्र ही जैसे उपमा के कारण चमक उठा है।

पंचम उदाहरण मे उर्वशी के विविध अगो को प्रकृति के उपमानो से सजाते हुए कवि उर्वशी के रूप को निखार रहा है। तन की कांति को धुली हुई पावक कहना इस तथ्य का प्रमाण है कि उर्वशी सौन्दर्यशीला एवं प्रेमी पुरुरवा मे आकर्षण की ज्वाला उत्पन्न करने वाली है।

अन्तिम उदाहरण मे कवि च्यवन ऋषि को प्राप्त होने वाले यौवन की तुलना मेघ, नवीन पादप, मदकल एव किशोर कुजर से की है। जो सौन्दर्य के साथ शक्ति एवं मादकता का परिचायक है। मालोपमा की सुन्दर व्यजना कवि ने की है।

दिनकर ने जहाँ क्रांति के संदर्भ मे तप और त्याग को आग एव ज्वाला, वाणी की आग को जलते हुए मदार जैसे उपमानो से प्रस्तुत किया है। उसी प्रकार सौन्दर्य के संदर्भ मे अप्सराओ को सिमटी हुई चाँदनियाँ, गीत के जल से भरी हुई गगरियाँ, पुरुष को पर्वत, सुन्दरी को गिरिमल्लिका, लोचन को दर्पण, किरण को ज्योति का सगम जैसे उपमानो से सुशोभित कर अपनी उपमा शक्ति का परिचय दिया है।

रूपक :

जब उपमेय को उपमान के रूप मे दिखाया जाता है अर्थात् उपमेय और उपमान मे इतनी समता बढ जाती है कि दोनों एक से दिखाई देने लगते हैं—तब रूपक अलकार होता है।

दिनकर के काव्यो में उपमा अलंकार के पश्चात् रूपक अलंकार का ही विशेष प्रयोग हुआ है।

(अ) "शशिमुख पर दृष्टि लगाये, लहरें उठ घूम रही है,
भयवश न तुम्हे छू पाती, पङ्कज-मुख चूम रही है।"[1]

(ब) "नर-सस्कृति की रण-छिन्न लता पर
शांति-सुधा-फल दिव्य फलेगा।"[2]

---

१. रसवन्ती, (अन्तर्वासिनी) : पृ० ४६।

२. कुरुक्षेत्र, पं० स० : पृ० १०६।

(क) "झूलो गगन-हिंडोरे पर, किरणों का तार बढ़ाओ री ।"[1]

(ड) "इसीलिए तो मानी उर्वशी, उषा नन्दन वन की
सुरपुर की कौमुदी, कलित कामना इन्द्र के मन की ।"[2]

उपरोक्त उद्धरणों में प्रथम में शांति उपमान एवं मुख उपमेय में भेद नहीं रह गया, मुख की उज्ज्वलता की चन्द्र की उज्ज्वलता में एकरूपता की स्थापित किया गया है तथा पंकज और मुख में, मुख की कोमलता एवं मृदुता का बोध पंकज के सौन्दर्य एवं कोमलता से इतना सम्बद्ध है कि पंकज और मुख में अभेद साम्य के कारण यहां रूपक अलंकार से सौन्दर्य-बोध में भी सुन्दरता भर गई है।

इसी प्रकार रण की कल्पना छिन्न लता की रचना में गुम्फित गई है तथा शान्ति-रूपी सुधाकर में शान्ति और सुधा के अमरत्व का एकाकार रूपक अलंकार के पुष्ट प्रमाण तो बन ही गए हैं। पाठक छिन्न लता में जिस असौन्दर्य एवं शान्ति में जिस सौन्दर्य की कल्पना करता है वह साकार हो उठती है।

'गगन-हिंडोरे' कहकर रवि आकाशगामिनी परियों (अप्सराओं) का परिचय देते हुए उनकी स्वच्छन्द मनोवृत्ति का परिचय देता है। गगन में हिंडोरे का आरोप बड़ा ही सुन्दर है।

चतुर्थ उदाहरण में कवि उपमान उर्वशी एवं उपमेय सौन्दर्य प्रतीक नन्दन वन की उषा, सुरपुर की कौमुदी एवं इन्द्र के मन की कलित कामना में ऐसा साम्य प्रस्थापित कर सका है कि उर्वशी का सौन्दर्य, आकर्षण एवं चित्र-सा उपस्थित करता है।

उत्प्रेक्षा .

किसी प्रस्तुत वस्तु की अप्रस्तुत के रूप में सम्भावना करने को उत्प्रेक्षा कहते हैं। अर्थात् जब उपमेय में उपमान से भिन्नता जानते हुए भी उसकी सम्भावना की जाये तब उत्प्रेक्षा अलंकार होता है। उदाहरणार्थ—

"इन द्रुमों के बीच चन्द्रमा मन्द-मन्द चलता है,
मन्द-मन्द चलती है नीचे वायु श्रान्त मधुवन की,
मद-विह्वल कामना प्रेम की, मानों अलसाई-सी,
कुसुम-कुसुम पर विरम मन्द, मधुगति में घूम रही है।"[3]

प्रस्तुत उदाहरण में कवि ने मन्द-मन्द वायु में मद-विह्वल प्रेम की अलसाई-सी कामना की कल्पना की है। उपमेय, प्रेम एवं उपमान मन्द-मन्द वायु में भिन्नता

---

१. उर्वशी, प्र० अं० : पृ० ८।
२. वही, वही : पृ० १३।
३. उर्वशी, प्र० अं० : पृ० ४।

होते हुए भी इसकी सम्भावना प्रकट होने के कारण उत्प्रेक्षा अलंकार है। 'उर्वशी' में कवि ने उत्प्रेक्षा की सरस योजना की है, जिसमे सौन्दर्य के साथ सहजता भी है।

सन्देह :

जब उपमेय और उपमान मे समता देखकर यह निश्चय नहीं हो पाता कि उपमान वास्तव मे उपमेय है या नहीं, दुविधा बनी रहने पर सन्देह अलंकार होता है। उदाहरणार्थ—

"अम्बर से ये कौन कनक प्रतिमाएँ उतर रही है ?
उडी आ रहीं, छूट कुसुम-वल्लियाँ कल्प-कानन से
या देवों की वीणा की रागिनियाँ भटक गई हैं ?
उतर रही हैं ये नूतन पंक्तियाँ किसी कविता की,
नई ऊर्मियाँ-सी समाधि के झिलमिल अँधियाले मे,
या वसंत के स्वप्नों की तस्वीरें घूम रही है।"[१]

प्रस्तुत उदाहरण मे नटी को आकाश से अवतरित अप्सराओ के विषय मे कोई निश्चय नही होता; वह उपमेय अप्सराओ एव उपमानो में से किसी निश्चित तथ्य पर नही पहुँचती। यह सन्देह अलकार का सुन्दर उदाहरण है जो अप्सराओं के सौन्दर्य, रहस्य आदि का उद्घाटन करता है।

उल्लेख :

जब किसी वस्तु का अनेक प्रकार से वर्णन किया जाये तब उल्लेख अलंकार होता है। यह मूलतः दो प्रकार से हो सकता है—एक, जब एक ही व्यक्ति या पदार्थ अनेक लोगों के द्वारा भिन्न-भिन्न प्रकार से देखा, समझा या वर्णन किया जाये। दूसरे, एक ही पदार्थ विषय-भेद से एक व्यक्ति के द्वारा अनेक प्रकार से देखा जाए। उदाहरणार्थ—

"यह मनुज, ब्रह्माण्ड का सबसे सुरम्य प्रकाश,
कुछ छिपा सकते न जिससे भूमि या आकाश,
यह मनुज, जिसकी शिखा उद्दाम,
कर रहे जिसका चराचर भक्ति-युक्त प्रणाम।
यह मनुज, जो सृष्टि का शृङ्गार,
ज्ञान का विज्ञान का, आलोक का आगार।"[२]

कवि ने मनुष्य के बहु-विध गुणो का उल्लेख अनेक प्रकार से किया है। और उसके गुणों एवं शक्ति को प्रकट किया गया है।

---

१. उर्वशी, प्र० अं० : पृ० ६।
२. कुरुक्षेत्र, पं० स० : पृ० ११४।

अपह्नुति :

जब उपमेय का निषेध कर उस स्थान पर उपमान का आरोप किया जाता है तब अपह्नुति अलंकार होता है। उदाहरणार्थ—

> "भरी सभा में लाज द्रौपदी की न गई थी लूटी,
> वह तो यही कराल आग थी, निर्भय होकर फूटी।"[1]

प्रस्तुत उदाहरण में द्रौपदी की लाज का निषेधकर कराल आग का फूटना प्रस्तुत कर कवि ने अपह्नुति अलंकार की योजना की। तथापि द्रौपदी की लाज लूटना देश के लिए कितना भयंकर परिणाम बना, इसे भी प्रस्तुत किया है।

अतिशयोक्ति :

जब उपमेय की अत्यन्त प्रशंसा के लिए बहुत बढ़ा-चढ़ा कर लोक-सीमा के बाहर की बात कही जाये वहाँ अतिशयोक्ति अलंकार होता है। यथा—

> "दृष्टि तुमने फेरी जिस ओर, गई खिल कमल पंक्ति अम्लान
> हिंस्र मानव के कर से स्रस्त, शिथिल गिर गए धनुष औ बाण।"[2]

प्रस्तुत उदाहरण में कवि ने नारी की दृष्टि के प्रभाव को इतना बढ़ा-चढ़ा कर प्रस्तुत किया है कि कमल की पंक्ति भी खिल गई और हिंस्र मानव के कर से धनुष और बाण भी गिर गया।

दृष्टान्त :

उपमेय और उपमान वाक्य तथा अनेक साधारण धर्म का जहाँ पर बिम्ब प्रतिबिम्ब भाव हो, वहाँ दृष्टान्त अलंकार होता है। अर्थात् भिन्न धर्म वाले दो वाक्यों में एक-दूसरे से मिलने-जुलने भाव जान पड़ते हैं इसमें यह आवश्यक होता है कि प्रथम वाक्य में कोई बात कही जाये और दूसरे वाक्य में उससे मिलती-जुलती दूसरी बात कही जाए। यथा—

> "पर समझ गई, वह मुझको नहीं मिलेगा
> बिछुड़ी डाली पर पुष्प न आज खिलेगा।"[3]

यहा पर कुन्ती की इस निराशा को व्यक्त किया गया है जिसमें उसे कर्ण-प्राप्ति की आशा क्षीण होती दिखाई देती है। इस भाव को यह कहकर कि जिस प्रकार वृक्ष से बिछुड़ी डाली पर पुष्प का खिलना असम्भव है उसी प्रकार कर्ण की प्राप्ति भी उसे दुर्लभ है। पूर्व कथन की पुष्टि अपर से होने के कारण दृष्टान्त अलंकार है।

---

१. कुरुक्षेत्र, प० स० : पृ० ५८।
२. रसवन्ती, (नारी) : पृ० २६।
३. रश्मिरथी, पं० स०, पृ० ८२।

व्यतिरेक :

जहाँ उपमेय को उपमान से श्रेष्ठ बताया जाता है, वहाँ व्यतिरेक अलंकार होता है। उदाहरणार्थ—

"कुसुम और कामिनी बहुत सुन्दर दोनों होते है,
पर, तब भी नारियाँ श्रेष्ठ हैं कहीं कान्त कुसुमो से।
क्योंकि पुष्प हैं मूक और रूपसि बोल सकती है,
सुमन मूक सौन्दर्य और नारिया सवाक् सुमन हैं।"[१]

यहाँ उपमेय कामिनी का सौन्दर्य उपमान कुसुम से भी श्रेष्ठ अंकित है तथा उन्हे सवाक् कहकर उपमान से कई गुना अधिक उत्तम सिद्ध किया है।

परिकर :

जब प्रस्तुत का वर्णन करने के लिए उसके साथ ऐसे विशेषण का प्रयोग किया जाता है जो साभिप्राययुक्त होता है, तब परिकर अलकार होता है। उदाहरणार्थ—

"पीकर लहू जब आदमी के वक्ष का,
वज्राग पाण्डव भीम का मन हो चुका परिशान्त था।"[२]

प्रस्तुत उदाहरण में 'वज्राग' शब्द साभिप्राय विशेषण है। आदमी के वक्ष का लहू पीना सहृदय व्यक्ति का कार्य नही। यहाँ कवि भीम के क्रोध एव आसुरी-शक्ति का परिचय युधिष्ठिर द्वारा प्रस्तुत कर उनकी घृणा में भीम की पाशवी-शक्ति के प्रति प्रच्छन्न घृणा ही है। अत: वज्राग शब्द साभिप्राय होने से परिकर अलंकार है।

व्याजस्तुति :

जब किसी कथन मे साधारणतया देखने या सुनने मे निन्दा-सी जान पड़े पर वास्तव मे प्रशंसा हो अथवा प्रशसा-सी जान पड़े पर वास्तव मे निन्दा हो तब 'व्याजस्तुति' अलंकार होता है। यथा—

"पर, नर के मन को सदैव वश मे रखना दुष्कर है
फूलों से यह मही पूर्ण है और चपल मधुकर है।"[३]

यहाँ मधुकर समान नर की वृत्ति गुण रूप में अंकित करके उसकी कामुकता की निन्दा हुई है अतः व्याजस्तुति अलंकार है।

अर्थान्तर-न्यास :

जब प्रस्तुत अर्थ का अप्रस्तुत अन्य अर्थ के स्थापन करने से समर्थन किया जाता है तब अर्थान्तरन्यास अलंकार होता है। उदाहरणार्थ—

१. उर्वशी, तृ० अं० : पृ० ८३।
२. कुरुक्षेत्र, प्र० स० : पृ० ४।
३. उर्वशी, द्वि० अं० : पृ० ३६।

"पर जाने क्यो, नियम एक अद्भुत जग मे चलता है,
भोगी सुख भोगता, तपस्वी और अधिक जलता है।
हरियाली है, जहाँ, जलद भी उसी खड के वासी
मरु की भूमि मगर रह जाती है प्यासी की प्यासी।"[1]

विरोधाभास :

विरोधाभास का प्रयोग कवि ने सादृश्य-मूलक अलंकारों की भाति किया है। वह विरोधीभाव प्रकट कर अपनी व्यजना को सुन्दर ढग से प्रस्तुत कर सका है। विरोधाभासी भाव हृदय को शीघ्र प्रभावित करते हैं।

जब दो विरोधी पदार्थों का सयोग एक साथ दिखाया जाता है, अथवा जाति द्रव्य, गुण और क्रिया के द्वारा उनके सयोग से परस्पर विरोधी काम होता है, तब विरोधाभास अलकार होता है। देखिए—

"मर कर भी सखि! मधु मुहूर्त यह कभी नही मरता है।
जब चाहो, साकार देख लो उसे बन्द आँखों मे।"[2]

यहाँ बद आखो मे देखना वास्तव मे विरोध है परतु वास्तव में यहाँ सुकन्या पति च्यवन को स्मरण द्वारा सदैव निकट पाकर प्रसन्न होती है। अर्थात् देखने से अभिप्राय प्रसन्न होने से है।

विभावना :

जब कारण के अभाव में कार्य सम्पन्न हो जाता है तब विभावना होती है। बिना कारण कार्य होने से किसी विलक्षण बात की कल्पना की जाती है। देखिए—

"नही बढ़ाया कभी हाथ पर के स्वाधीन मुकुट पर,
न तो किया सघर्ष कभी पर की वसुधा हरने को।
तब भी प्रतिष्ठानपुर वन्दित है सहस्र मुकुटो से,
और राज्य-सीमा दिन-दिन विस्तृत होती जाती है।
इसी भाँति, प्रत्येक, सुयश, सुख, विजय, सिद्धि जीवन की
अनायास, स्वयमेव प्राप्त मुझको होती आई है।"[3]

यहा पर के मुकुट पर हाथ बढाने या सघर्ष कर वसुधा हरने के अभाव में भी राज्य की सीमा-वृद्धि होने, सुयश, सुख एव विजय का वर्णन होने से विभावना है।

प्रस्तुत उदाहरणो के उपरात दीपक, समासोक्ति, लोकोक्ति आदि अलंकारो, के बिखरे हुए दृष्टान्त कवि की कृतियों में देखे जा सकते हैं।

---

१. रश्मिरथी, च० स० : पृ० ४७।
२. उर्वशी, च० अं० : पृ० १०८।
३. वही, तृ० अं० : पृ० ४३।

मानवीकरण :

परम्परागत शास्त्रीय अलकारों के उपरान्त दिनकर की रचनाओं में पाश्चात्य अलंकारो का प्रयोग भी दृट्व्य है। विशेषकर कवि ने मानवीकरण का प्रयोग किया है। इसके कारण वह निर्जीव पदार्थों में भी साकार रूप रूपायित कर काव्य-सौन्दर्य में अभिवृद्धि कर सका है। ऐसे प्रयोग प्रकृति-चित्रण में विशेष है।

उदाहरणार्थ देखिये—

(अ) "पहन मुक्ता के युग अवतस, रत्न-गुम्फित खोले कच-जाल,
बजाती मधुर-चरण-मजीर आ गई नभ में रजनी बाल।"[1]

(आ) "अम्बर पर मोती गुंथे चिकुर फैलाकर,
अंजन उँडेल सारे जग को नहलाकर;
साड़ी में टाँके हुए अनन्त सितारे
थी घूम रही तिमिराचल निशा पसारे।"[2]

(इ) "हिम-स्नान सिक्त वल्लरी पुजारिन को देखो।
पति को फूलों का नया हार पहनाती है,
कुंजों में जन्मा है कल कोई वृक्ष कही,
वन की प्रसन्न विहगावलि सोहर गाती है।"[3]

प्रस्तुत तीनों उदाहरणों में कवि ने प्रकृति को विविध रूपों के सजीव रूप में अंकित किया है। मानवीकरण की इस वृत्ति से काव्य-विशेष आनंददायी बन सका है।

अलंकारों में नए प्रयोग :

दिनकर के काव्यों मे 'सामधेनी', 'नीलकुसुम' और 'नीम के पत्ते' 'कोयला और कवित्व', 'मृत्ति तिलक' सग्रह में अलंकारों में कवि ने नई उपमाओ का प्रयोग किया है। कतिपय उदाहरणों से इसकी पुष्टि हो सकेगी।

उपमागत नाविन्य :

"वृद्ध सूर्य की आँखो पर माड़ी-सी चढ़ी हुई है।
दम तोड़ती हुई बुढ़िया-सी, दुनिया पड़ी हुई है॥"[4]

प्रलय के नाश से ग्रस्त विश्व की उपमा के लिए दम तोड़ती हुई बुढ़िया का उपमान-रूप मे प्रयोग कवि का यथार्थ की ओर मुड़ने का परिचायक है।

१. हुँकार; पृ० ३
२. रश्मिरथी, पं० स० : पृ० ८१।
३. उर्वशी, तृ० अं० . पृ० ६६।
४. 'सामधेनी', (अन्तिम मनुष्य) : पृ० २५।

नीलकुसुम' में प्रयुक्त नई उपमाओं को देखिये—

"मजे में रात भर घूमो कभी दायें कभी बायें,
उमड़ती बाढ़ में ज्यों गाँव की डोंगी निकलती है,
घरों के पास में होकर, बचा कर पेड़-पौधों को;
कि जैसे पर्वतों में नदियाँ बहा करतीं;
कि जैसे टापुओं के बीच में जलयान चलते हैं;
कि जैसे रेंगते हैं साँप नीचे, फूल के वन में,
कि जैसे 'वनिम' में ग्रहों के बीच फिरती है।"[1]

कवि द्वारा प्रयुक्त उपमान धरती से सम्बन्धित हैं, जिनके द्वारा रंगीन वातावरण और जीवन दृष्टि की अभिव्यक्ति हुई है—उपरोक्त पंक्तियाँ मालोपमा की सुन्दर उदाहरण हैं और भी उदाहरण देखिये जिसमें कवि वर्तमान जीवन के क्षोभ, मालिन्य, घुटन को प्रस्तुत करता है—

"मन रहते हैं टँगे लिपट कर मकड़ी के जालों से,
या कि लहर रोगिणी वायु की उलझी हुई लटों से।"[2]

यहाँ कवि नवीन उपमाओं के संयोजन में सन्देह अलंकार को प्रस्तुत कर सका है।

उपरोक्त उदाहरणों द्वारा नए उपमानों में कवि ने कामबाण के लिए जामिनी-राय की तूलिका, व्रण के लिए दोह, कमल पुष्प के लिए रेशम का तकिया, कफन के लिए चाँदनी, खिड़कियों के लिए मसिपत्र के पन्ने आदि उपमानों का प्रयोग किया है, जिनके उदाहरण कोयला और कवित्व में देखे जा सकते हैं। इन उपमानों में कवि ने जीवन के यथार्थ को ही विशेष महत्व दिया है। भूख से मरती हुई दुनिया के लिए चाँदनी कफन सी ज्यादा निकट लगती है। कवि ने एक स्थान पर गीतों को कौवों की उपमा दी है। लगता है कि गीत विहग का सुरीला कण्ठ गीत के कौवों में बदल गया है।

इस परिवर्तित प्रयोगों को देखकर यह कहना ठीक ही है कि दिनकर में अलंकारों का विकास समय की गति के अनुसार परिवर्तित और परिवर्धित होता रहा। परन्तु उसके नए उपमान भी असमित नहीं हुए, जैसे कि नए प्रयोगवादियों में कहीं-कहीं देखे जाते हैं।

निष्कर्षतः यह कहना योग्य ही है कि दिनकर के काव्य-सौन्दर्य में वृद्धि करने वाले अलंकार स्वाभाविक ढंग से ही प्रयुक्त हुए हैं। दिनकर का मूल उद्देश्य तो अपने कथ्य को सरल ढंग से प्रस्तुत करना ही रहा है। परन्तु, स्वाभाविक ढंग से प्रयुक्त

१. नीलकुसुम, (स्वप्न और सत्य) : पृ० १६।
२. वही : पृ० ५१।

अलंकार स्वतः काव्योत्कर्ष के अंग बन गए हैं। यद्यपि अलंकारों का प्रयोग विशेष रूप से परम्परागत ही है, परन्तु कवि का प्रयोग-कौशल नाविन्य प्रकट करता है।

परम्परागत अलंकारो मे विशेष आकर्षक कवि द्वारा गृहीत नवीन अलंकार आकर्षक हैं, जिनमे कवि यथार्थ से अनुप्राणित उपमानो का प्रयोग करता है। विशिष्टता तो यह है कि नवीन अलंकारो के प्रयोग मे कवि ने प्रयोग अवश्य किए हैं, परन्तु प्रयोगवादियों की तरह कहीं भी अशिष्ट या अयोग्य उपमान नहीं जुटाए हैं।

संक्षिप्त मे कहा जाए तो दिनकर यद्यपि अलंकारवादी कवि तो नहीं हैं परन्तु अलंकार योजना में उन्हें सफलता मिली है जिससे भाषा का सौन्दर्य निखरा है और भावो को स्पष्टता मिली है।

छन्द-योजना :

छंद-काव्य का मेरुदण्ड है सौन्दर्य एवं उपयुक्त छद के प्रयोग से निखर उठता है। वेद के छह अंगो में छंद को भी स्थान मिला है। यद्यपि उसका स्थान अन्तिम ही है, तथापि विद्या के अंग-रूप उसका स्वीकार तो हुआ ही है। छद-शास्त्र की गणना प्राचीन शास्त्रों के अन्तर्गत की गई है और महर्षि पिंगल को इसका आदि आचार्य माना गया है। इसी दृष्टि से छंद शास्त्र को पिंगल शास्त्र भी कहा गया है। कविता की गति को आवद्ध करने वाले नियम ही छंद है। यहाँ गति के आवद्ध से तात्पर्य उसकी व्यवस्था से है।

कवि छद के माधुर्य और स्वर-संयोजन के लिए अपनी सौन्दर्य बोध-वृत्ति का प्रयोग करता है। छंद-रचना के प्रति कवि की जागरुकता अपेक्षित है। कविवर पन्त के शब्दो में कहे तो—"जिस प्रकार नदी के तट अपने बन्धन से धारा के तट को सुरक्षित रखते है—जिनके बिना वह अपनी ही बन्धन-हीनता मे अपना प्रवाह खो बैठती है, उसी प्रकार छद भी अपने नियंत्रण से राग को स्पन्दन, कम्पन तथा वेग प्रदान कर निर्जीव शब्दों के रोड़ों मे एक कोमल, सजल कलरव भर, उन्हे सजीव बना देते हैं। छद-बद्ध शब्द चुम्बक की तरह अपने चारों ओर एक आकर्षण क्षेत्र तैयार कर लेते हैं, जिनमे एक प्रकार का सामंजस्य, एक रूप, एक विन्यास आ जाता है, उनमें राग की विद्युत-धारा बहने लगती है, तथा उनके स्पर्श में एक प्रभाव तथा शक्ति पैदा हो जाती है।"[1]

इस विधान से यह प्रतिफलित होता है कि छद कविता में अन्य गुणों की तरह महत्वपूर्ण अंग है छन्दो-बद्ध कविता का आनन्द दोहरा होता है। जिसमें संगीतात्मकता भी संलग्न होती है। सफल कवि की लेखनी में शब्दों और छंदो का अविभाज्य सामंजस्य अभिहित होता है। संस्कृत एव हिन्दी के प्रायः सभी आचार्यो ने छदो के महत्त्व एवं गरिमा को काव्य के लिए आवश्यक माना है।

---

१. 'पल्लव', (भूमिका) सुमित्रा नन्दन पंत : पृ० ३०-३१।

दिनकर के काव्यों में वर्णिक एवं मात्रिक दोनों प्रकार के छन्दों के प्रयोग समुपलब्ध हैं। परन्तु वर्णिक छन्दों का प्रयोग स्वल्प मात्रा में ही हुआ है। कवि ने विशेष रूप में तो मात्रिक छन्दों का ही प्रयोग किया है। कवि द्वारा प्रयुक्त छन्दों के उदाहरणों से हम उनकी मात्रिक छन्द योजना पर विचार करते हुए उनके निर्वाह एवं स्वच्छदता पर भी विचार करेंगे।

वर्णिक छंद :

कवि ने कुरुक्षेत्र में वर्णिक छन्दों का प्रयोग किया है जिनमे कवित्त, घनाक्षरी मुख्य छन्द हैं।

कवित्त :—यह ३१ वर्ण का छन्द है, जिसमे १६-१५ वर्णों पर यति होती है तथा अन्तिम वर्ण गुरु होता है।

"जानता कहीं जो परिणाम महाभारत का,
तन-बल छोड मैं मनोबल से लडता।
तप से सहिष्णुता से त्याग से सुयोधन को,
जीत, नई नींव इतिहास की मैं धरता।
और कहीं वज्र गलता न मेरी आह से जो,
मेरे तप से नहीं सुयोधन सुधरता,
तो भी हाय, यह रक्तपात नहीं करता मैं,
भाइयों के संग कहीं भीख मांग मरता।"[1]

युधिष्ठिर के मन की वेदना एवं आत्मग्लानि का वर्णन सुन्दर ढग से कवित्त छन्द में हुआ है।

कवित्त छन्द का प्रयोग कवि ने कुरुक्षेत्र के द्वितीय, तृतीय एवं सप्तम सर्ग में किया है।

रूपघनाक्षरी :—कवित्त के उपरान्त ३२ वर्ण वाले दंडक रूपघनाक्षरी का प्रयोग भी कुरुक्षेत्र मे हुआ है जिसमे १६-१६ वर्णों पर यति होती है तथा अन्तिम दो वर्ण गुरु-लघु होते हैं। प्रस्तुत घनाक्षरी में युधिष्ठिर की आत्मग्लानि जैसे साकार हो उठी है।

"वीर गति पाकर सुयोधन चला गया है,
छोड़ मेरे सामने अशेष ध्वंस का प्रसार,
छोड़ मेरे हाथ मे शरीर निज प्राण हीन,
व्योम में बजाता जय दुन्दुभि सा बार-बार।
और यह मृतक, शरीर जो बचा है शेष,
चुप-चुप, मानों, पूछता है मुझसे पुकार

१. कुरुक्षेत्र, द्वि० स० : पृ० १२।

विजय का एक उपहार मैं बचा हूँ, बोलो
जीत किसकी है और किसकी हुई है हार।"[1]

दुर्मिल :—इस छन्द में ८ सगण का बंधन माना गया है। इसे चन्द्रकला वर्णिक छन्द भी कहा जाता है। उदाहरणार्थ—

"इस रोती हुई विधवा को उठा, किस भाँति गले से लगाऊँगा मैं ?
जिसके पति की न चिता है बुझी, निज अंक में कैसे बिठाऊँगा मैं।
धन में अनुरक्ति दिखा अवशिष्ट, स्वकीर्ति को भी न गवाऊँगा मैं।
सहने का कलंक लगा सो लगा, अब और न इसे बढ़ाऊँगा मैं।"[2]

कुन्दलता :—कुन्दलता में ८ सगण होते हैं और अन्तिम दो वर्ण लघु होते हैं।

"कुछ के अपमान के साथ पितामह, विश्व विनाशक युद्ध को तोलिए;
इसमें से विघातक पातक कौन, बड़ा है रहस्य विचार के तोलिए;
मुझ दीन विपन्न को देख दयाद्र हो, देव नहीं निज सत्य से डोलिए;
नर-नाश का दायी था कौन, सुयोधन या कि युधिष्ठिर का दल बोलिए।"[3]

वर्णिक छन्दों के इन चार उदाहरणों का परीक्षण करने से यह स्पष्ट होता है कि प्रथम दो छन्दों में छन्द नियम का निर्वाह हुआ है परन्तु अंतिम दो में छन्द निर्वाह नहीं हो सका। दुर्मिल एवं कुन्दलता के ८ सगण का निर्वाह नहीं हुआ है। साथ ही यति-गति में भी त्रुटियाँ हैं। श्री कांतिमोहन शर्मा ने 'कुरुक्षेत्र मीमांसा' में कुरुक्षेत्र के छन्दों पर विचार करते हुए इन छन्दों को दुर्मिल एवं कुन्दलता मान लिया है और इसका परीक्षण प्रस्तुत नहीं किया। वस्तुतः इस प्रकार के विधान पाठक को भ्रम में डाल देते हैं। इस स्खलन के बावजूद भी लय की दृष्टि से छंद भंग का दोष शीघ्र विदित नहीं होता।

मात्रिक छंद :

दिनकर के मात्रिक छन्दों की कसौटी भी इसी प्रकार करते हुए उनके निर्वाह एवं स्खलन का परीक्षण करना समीचीन होगा।

सार छंद :

सार छन्द का दूसरा नाम ललित पद भी है। इसमें २८ मात्राएँ होती हैं। १६-१२ पर यति होती है। अन्त में दो गुरु होते हैं। इस छन्द का प्रयोग कवि की मुक्तक एवं प्रबन्ध रचनाओं में हुआ है। उदाहरणार्थ—

---

१. कुरुक्षेत्र, द्वि० सं० : पृ० ११।
२. कुरुक्षेत्र, पं० सं० : पृ० ६६।
३. वही, वही : पृ० १०३।

(अ) "पीला चीर कोर में जिसकी
चकमक गोटा जाली
चली पिया के गाँव उमर के
सोलह फूलों वाली ।"[1]

(आ) "हँसकर लिया मरण होठों पर, जीवन का व्रत पाला,
अमर हुआ सुकरात जगत में, पीकर विष का प्याला
मर कर भी मसूर नियति की, सह पाया न ठिठोली
उत्तर में सौ बार चीरकर, बोटी-बोटी बोली ।"[2]

(इ) "भरी सभा में लाज द्रौपदी की, न गई थी लूटी,
वह तो यही कराल आग थी, निर्भय होकर फूटी ।
ज्यों-ज्यों साड़ी विवश द्रौपदी की, खिंचती जाती थी,
त्यों-त्यों वह आवृत, दुरग्नि यह नग्न हुई जाती थी ।"[3]

(ई) "पर, मैं जली नहीं, तत्क्षण पावक ऋषि के नयनों का
परिणत होने लगा स्वयं शीतल मधु की ज्वाला में,
मानो प्रमुदित अनल-ज्वार आवक में बदल रहा हो ।
नयन रक्त, पर, नहीं कोप से, आसव की लाली में ।"[4]

इन उदाहरणों का परीक्षण करने पर कतिपय त्रुटियाँ दृष्टिगत होती हैं । प्रथम उदाहरण में मात्र दो चरण ही है और छन्द शास्त्र की दृष्टि से चार छन्द होना अनिवार्य है । इसी प्रकार अन्य तीन उदाहरणों में यद्यपि मात्राओं का निर्वाह हुआ है तथापि यति-दोष दृष्टव्य है । इसी प्रकार के उदाहरण प्रस्तुत करते हुए विद्वान लेखक श्री अम्बाप्रसाद सुमन ने २८ मात्राओं वाले छन्दों को सार छन्द स्वीकार किया है ।[5] लेखक ने मुक्तक की कुछ पंक्तियों के आधार पर सम्पूर्ण काव्य और इसी प्रकार कुछ उदाहरणों के आधार पर प्रबन्धों के सर्गों को सार छन्द में लिखा गया माना है । परन्तु परीक्षण करने पर ऐसा लगता है कि दिनकर ने सार छन्द का प्रयोग ही नहीं किया है । उसने तो १६ और १२ के मात्रिक छन्द में ही कविता लिखी है । और ऐसी मुक्तक कविताओं में न तो अन्त में दो गुरु (ऽऽ) का निर्वाह हुआ है । इसी प्रकार प्रबन्धों के सर्गों में २८ मात्रा के वजन का स्वच्छन्द छन्द ही

१. रसवती, (बालिका से वधू) पृ० १६ ।
२. रश्मिरथी, च० स० : पृ० ५० ।
३. कुरुक्षेत्र, च० स० : पृ० ६० ।
४. उर्वशी, च० अ० : पृ० १०६ ।
५. दे० दिनकर सं० सावित्री सिन्हा : दिनकर की काव्य-भाषा और छन्दोविधान : अम्बाप्रसाद सुमन ।

कवि ने स्वीकार किया है। क्योंकि यति और गति के नियमों का निर्वाह नहीं हुआ है। चरणान्त में कहीं लघु है, कहीं दो गुरु हैं, कहीं गुरु लघु हैं और कहीं लघु-गुरु है। २८ मात्रा के इस छन्द में सार छन्द के उपरान्त हरिगीतिका, विधाता या विद्या छन्द का भी निर्वाह नहीं हुआ है। विद्वानों ने 'रश्मिरथी' के प्रथम एवं चतुर्थ, 'कुरुक्षेत्र' के तृतीय, चतुर्थ एवं सप्तम तथा 'रश्मिरथी' में जहाँ भी २८ मात्राओं के छन्द का प्रयोग किया है, वहाँ सार छन्द मान लिया है। परन्तु सर्वत्र सार छन्द के नियम का शास्त्रोक्त दृष्टि से पालन नहीं हुआ है। विशेषकर 'उर्वशी' में तो एक पंक्ति से लेकर सात पंक्तियों तक के छन्दों का प्रयोग हुआ है जिनमें २८ मात्राएँ हैं। कुछ छन्द अतुकान्त हैं, कुछ में दूसरे चौथे की तुक मिलती है और कहीं पहली, दूसरी और चौथी पंक्ति की तुक मिलती है।

इस विवेचन से स्पष्ट रूप मे यह कहा जा सकता है कि दिनकर ने सार छन्द का प्रयोग न कर २८ मात्रा के वजन का छन्द प्रयोग ही किया है।

पद्धरि :

पद्धरि छन्द १६ मात्राओं का होता है जिसके अन्त मे जगण होता है। उदाहरणार्थ—

(अ) "साकार दिव्य गौरव विराट,
पौरुष के पुंजीभूत ज्वाल,
मेरी जननी के हिमकिरीट,
मेरे भारत के दिव्य भाल।"[1]

(आ) "अब देर नहीं कीजे केशव।
अब सेर नहीं कीजे केशव।
धनु की डोरी तन जाने दें,
संग्राम तुरन्त ठन जाने दें।"[2]

प्रथम उद्धरण मे 'रेणुका' की 'हिमालय' कविता का सर्वांगी परीक्षण करने पर १६ मात्रा का अनुबन्ध तो मिलता है, परन्तु जगण का स्खलन सर्वत्र है। कविता के चौथे-पाँचवें छन्द मे चरणान्त में कहीं नगण (। । ।) है, कहीं रगण (ऽ । ऽ) और कहीं सगण (। । ऽ) है। अत: यह सिद्ध होता है कि पूरी कविता पद्धरि छन्द मे न होकर १६ मात्रा के वजन में ही लिखी गई है। इसी प्रकार 'रश्मिरथी' के तृतीय एवं षष्ठ सर्ग में प्रयुक्त छन्द भी 'जगण' के निर्वाह न हो सकने के कारण १६ मात्रा के वजन का ही छन्द माना जा सकता है। कवि ने यति-गति और चरणान्त की तुक

१. रेणुका, (हिमालय) : पृ० ४।
२. 'रश्मिरथी', तृ० सर्ग : पृ० ४५।

के बारे में स्वेच्छा और स्वच्छन्दता से काम लिया है। १६ मात्रा के इस प्रकार के छन्द का प्रयोग अन्य मुक्तक रचनाओं में तथा 'उर्वशी' में भी देखा जा सकता है।

ताटंक :

यह तीस मात्राओं का छन्द होता है, जिसके चरणान्त में 'मगण' होता है तथा १६-१४ पर यति होती है।

दिनकर की मुख्यतः मुक्तक-रचनाओं में ३० मात्राओं के छन्द का प्रयोग हुआ है। परन्तु ताटंक के नियम का निर्वाह नहीं हुआ है। कुछ विद्वानों ने दिनकर के छन्दों पर विचार करते समय 'रेणुका' की कविता की पुकार की निम्नलिखित पंक्तियाँ उद्धृत कर ताटंक छन्द मान लिया है—

> "चलो, जहाँ निर्जन कानन में वन्य-कुसुम मुसकाते हैं,
> मलयानिल भूलता भूलकर जिधर नहीं अलि आते हैं।"[1]

परन्तु, सात पंक्तियों के पूरे छन्द पर विचार करने पर इन दो पंक्तियों के उपरान्त कहीं भी 'मगण' का निर्वाह नहीं हुआ है। वस्तुतः यह १६ और १४ मात्रा का प्रचलित एवं सुविदित अनुबंध है, जिसे आधुनिक कवियों ने सर्वाधिक रूप से अपनाया है।

दिग्पाल :

दिग्पाल छन्द २४ मात्राओं का होता है, जिसमें १२-१२ मात्राओं पर यति होती है तथा पाँचवीं और सत्रहवीं मात्रा सदैव लघु होती है। इस छन्द का निर्वाह 'सामधेनी' में संकलित 'आग की भीख' कविता में हुआ है—

> "दाता पुकार मेरी, संदीप्ति को जिला दे,
> बुझती हुई शिखा को, संजीवनी पिला दे,
> प्यारे स्वदेश के हित अंगार माँगता हूँ,
> चढ़ती जवानियों का शृंगार माँगता हूँ।"[2]

दिग्पाल छन्द के उपरान्त मुक्तकों में २४ मात्राओं के छन्द का निर्वाह हुआ है। इस प्रकार के २४ मात्रा के वजन वाले छन्दों का प्रयोग 'नील-कुसुम' आदि में भी देखा जा सकता है।

सुमेरु :

सुमेरु छन्द में १९ मात्राएं होती हैं तथा १०-९ पर यति होती है, आदि वर्ण लघु होता है और चरणान्त में यगण होता है। श्री अम्बाप्रसाद सुमन जी ने 'रश्मिरथी' के सप्तम सर्ग में इसी छन्द का प्रयोग स्वीकार किया है। उदाहरणार्थ—

१. 'रेणुका', (कविता की पुकार) : पृ० १३।
२. सामधेनी, (आग की भीख) : पृ० १६३।

"मगर, जो हो मनोज सुवरिष्ठ था वह
धनुर्धर ही नहीं, धर्मिष्ठ था वह।
तपस्वी, सत्यवादी था, व्रती था;
बड़ा ब्रह्मण्य था, मन से यती था।"[१]

जब हम सर्ग के छन्द का परीक्षण करते हैं, तब १६ मात्राओं के उपरान्त न तो यति-गति का निर्वाह ही हुआ है और न यगण का ही निर्वाह हुआ है। हम इसे आनन्दवर्धन छन्द स्वीकार कर सकते हैं, जिसमें १६ मात्राओं के अलावा यति-गति एवं लघु-गुरु का बन्धन नहीं होता। वैसे कवि की प्रवृत्ति के अनुसार इसे १६ मात्राओं के वजन का छन्द कहना भी अनुपयुक्त न होगा।

सरसी :

सरसी छन्द मे २७ मात्राएँ होती हैं और अन्त मे गुरु-लघु होता है तथा १६-११ पर यति होती है। उदाहरणार्थ—

"एक शुष्क कंकाल, युधिष्ठिर की जय की पहचान,
एक शुष्क कंकाल, महाभारत का अनुपम दान।"[२]

श्री कान्तिमोहन शर्मा ने 'कुरुक्षेत्र' के पचम सर्ग में सरसी छन्द का प्रयोग बताया है।[३] परन्तु इसमे सरसी छन्द का निर्वाह नही हुआ है क्योंकि 'कुरुक्षेत्र' के पंचम सर्ग के द्वितीय खण्ड में २७ मात्रा के दो-दो पंक्तियो के २२ छन्द लिखे गये हैं। परन्तु परीक्षण करने पर न तो यति-गति का निर्वाह ही हुआ है और न गुरु-लघु का बन्धन ही कवि ने स्वीकार किया है। अतः इसे भी हम २७ मात्राओं में लिखा गया छन्द कह सकते हैं।

राधिका :

राधिका छन्द २२ मात्राओ का होता है, जिसमे १३ और ६ पर यति होती है। 'कुरुक्षेत्र' के पंचम-सर्ग के प्रथम खण्ड एवं 'रश्मिरथी' के पंचम सर्ग में इस छन्द का प्रयोग हुआ है। कहीं-कहीं यति-दोष अवश्य हुआ है, अन्यथा दोष-मुक्त छन्द प्रयोग है। इसका कारण यह भी हो सकता है कि चरणान्त में किसी प्रकार का बन्धन न होने से कवि को इस छन्द का प्रयोग रुचिकर लगा हो। उदाहरणार्थ—

(अ) "जिस दिन वध का वध समझ जयी रोयेगा,
आँसू से तन का रुधिर-पंक धोयेगा;

---

१. रश्मिरथी, स० स० : पृ० १६५।
२. कुरुक्षेत्र, पंचम सर्ग : पृ० ६३।
३. दे० 'कुरुक्षेत्र' मीमांसा, कान्तिमोहन शर्मा : पृ० २१०।

होगा जब उस दिन मुक्त मनुज की जय का,
आरंभ भीम धरती में मानवोदय का।"[1]

(आ) "पहनो कवचों में नहीं भींगती जैसे,
भीगता रहा कुछ काल कर्ण भी वैसे।
फिर कमल छोड़ बीना धरती पर आकर,
मैं धन्य हुआ विप्रर्षि गोदी को पाकर।"[2]

रूपमाला :

यह छन्द २४ मात्राओं का होता है। १४ और १० पर यति होती है तथा अन्त में क्रमशः गुरु-लघु होता है। कतिपय विद्वानों ने 'कुरुक्षेत्र' के षष्ठ सर्ग से एकाध उदाहरण देकर उसे रूपमाला छन्द कहा है। परन्तु षष्ठ सर्ग में छन्दोबद्ध से अधिक अतुकान्त छन्द ही विशेष प्रभावशाली ढंग से प्रयुक्त हुआ है। इस दृष्टि से जैसा कि दिग्पाल छन्द के अन्तर्गत विधान किया जा चुका है, २४ मात्राओं के वजन के छन्द का ही यत्र-तत्र प्रयोग हुआ है।

दिनकर के काव्य पर जिन-जिन विद्वानों ने अपने विचार प्रकट किए हैं, उनमें से अधिकांशतः विद्वानों ने उन्हें कतिपय उदाहरणों के आधार पर परम्परागत छन्दों का निर्वाह करने वाले कवि के रूप में ही अंकित किया है।

वस्तुतः इस विवेचन में हमारा अभिप्राय दोष-दर्शन नहीं है, हम तो परीक्षण के पश्चात् यही सिद्ध करना चाहते हैं कि दिनकर ने मूलतः परम्परागत शास्त्रीय नियमों में सन्निद्ध छन्दों के बन्धन की अपेक्षा, भावों के अनुसार मात्राओं के उपयुक्त वजन के छन्दों का ही प्रयोग किया है। इसका कारण यह माना जा सकता है कि कवि दिनकर का काव्याकाश में जब उदय हुआ था, उस समय छायावाद के स्तम्भ पंत—जैसे कवि छन्दों का बन्ध खुलने का उद्घोष कर रहे थे। काव्य, कल्पना की भूमि से यथार्थ की भूमि पर उतर रहा था। एक ओर कवि छन्दोबद्ध कविता की दुहाई दे रहे थे, दूसरी ओर प्रगतिवादी कवि रूढ़िबद्ध कविता के प्रति विद्रोह कर रहे थे। दिनकर ने यद्यपि छन्द-शास्त्र का अध्ययन तो अवश्य किया था, परन्तु परम्परागत शास्त्रीय छन्दों के घेरे में अपने आपको आबद्ध नहीं किया। कवि ने काव्य-सौन्दर्य एवं आनन्दवर्धन के हेतु छन्दों के महत्त्व को तो स्वीकार किया, परन्तु शास्त्रीय बन्धन को नहीं। दिनकर द्वारा शास्त्रीय बन्धनों को स्वीकार न करना छन्द-दोष नहीं है, अपितु परिवर्तित परिवेश में उसकी स्वतन्त्र एवं प्रगतिशील प्रवृत्ति का परिचायक तत्त्व ही है। सच पूछा जाय तो शास्त्रीय नियमों में अनुबद्ध होते हुए भी, दिनकर की छन्दो-बद्ध रचनाओं का सौन्दर्य शिथिल नहीं है।

---

१. कुरुक्षेत्र, पं० सं० : पृ० ८६।
२. रश्मिरथी, पं० सं० . पृ० ८५।

नवीन-छन्द :

नवीन छन्द के अन्तर्गत दो प्रकार के छन्दों का समावेश किया जा सकता है—एक तो वे छन्द जो मात्रिक होते हुए भी विषयानुरूप सबलता लिए हुए हैं; दूसरे वे छन्द जो मुक्त या अतुकांत हैं।

नवीन छन्द-योजना :

नवीन छन्द-योजना से तात्पर्य है विषय के अनुकूल नए छन्दों का प्रयोग। दिनकर ने छन्दों के परिवर्तन और उनके तोड़-मरोड़ को स्वीकार किया है।[1] उन्हें परम्परागत जड़ाऊ पोशाकों के स्थान पर नई डिजाइन के सूट ज्यादा उपयुक्त लगे। दिनकर ने 'नीलकुसुम' तक आते-आते अपने छन्दों के प्रवर्तमान स्वरूपों को बदल दिया और जैसा कि उन्होंने स्वीकार भी किया है कि उन्हें प्राचीन छन्दों की अपेक्षा 'शबनम की जंजीर', 'नीलकुसुम' तथा 'चाँद और कवि' के काव्य ही विशेष रुचे हैं। जिनमें चिंतन की प्रक्रिया बाधक नहीं होती। यद्यपि इन नए छन्दों को प्राचीन छन्दों की तरह किन्हीं नामों और लक्षणों के दायरे में तो नहीं बाँधा जा सकता, परन्तु उनमें व्याप्त लय और समरसता का जो प्रभाव और सौन्दर्य समाहित है वह अनुकरणीय रहा है। कवि के विचारों के अनुसार ये वे छन्द हैं जो मनोदशा की अभिव्यक्ति के लिए सर्वाधिक अनुकूल हैं। इन छन्दों की गति, भाव और सौन्दर्य समझने के लिए एक दो उदाहरण सगत होंगे—

"ओ नीतिकार ! तुम झूठ नहीं कहते होगे,
बेकार मगर पगलों को ज्ञान सिखाना है;
मरने का होगा खौफ, मौत की छाती में,
जिसको अपनी जिन्दगी ढूंढने जाना है।"[2]

तथा—

"विज्ञान काम कर चुका हाथ उसका रोको,
आगे आने दो गुणी ! कला कल्याणी को।
जो भार नहीं विभ्राट, महाबल उठा सके,
दो उसे उठाने किसी क्षीण बल प्राणी को।"[3]

'चाँद और कवि' का छन्द भी नवयुवकों में काफी प्रचलित हुआ—

"स्वर्ग के सम्राट को जाकर खबर कर दे,
रोज ही आकाश चढ़ते जा रहे हैं ये;
रोकिये, जैसे बने, इन स्वप्न वालों को,
स्वर्ग की ही ओर बढ़ते आ रहे हैं ये।"[4]

---

१. देखिये 'चक्रवाल' (भूमिका) : पृ० ६६ एवं 'उजली आग' : पृ० ४३।
२. नीलकुसुम, (नीलकुसुम) : पृ० २।
३. वही, (शबनम की जंजीर) : पृ० ८३।
४. वही, (चाँद और कवि) : पृ० ४।

'नीलकुसुम' नए छन्दों के प्रयोग में वह सीमा चिह्न है जहाँ से कवि प्रायः सभी गीतों में नए छन्दों का ही प्रयोग करता रहा है। जिसके उदाहरण उनकी परवर्ती रचना 'नीम के पत्ते', 'मृत्ति तिलक', 'कोयला और कवित्व', 'बापू' और 'परशुराम की प्रतीक्षा' में देखे जा सकते हैं। निष्कर्षतः यह कहा जा सकता है कि 'नीलकुसुम' और परवर्ती रचनाओं में कवि ने परिवर्तित भावनाओं और युगबोध के साथ नवीन छन्दों का प्रयोग किया है।

मुक्त छंद :—काव्य के बदलते हुए मानदण्ड और रूपों के साथ-साथ छंद में भी पर्याप्त परिवर्तन हुए। प्रयोगवादी कवि ने जिस प्रकार काव्य को यथार्थ की भूमि पर प्रतिस्थापित किया और काव्यों में तुक और छन्दों का बन्धन अस्वीकार किया, उसी प्रकार उसने अतुकान्त छन्दों को भी अपनाया। यद्यपि अतुकान्त छन्दों की रचनायें आलोचकों को सर्वमान्य नहीं हैं। ऐसी रचनायें गद्यकाव्य के निकट अधिक ठहरती हैं। अतुकान्त रचनाओं के अन्तर्गत कवि विषय को अधिक महत्व देता है, शिल्प को कम।

दिनकर के काव्यों में अतुकान्त छन्दों का प्रयोग भी हुआ है। परन्तु एक विशिष्टता यह है कि उन्होंने अतुकान्त छन्दों का प्रयोग करते हुए भी काव्य की गति को नहीं टूटने दिया। यही कारण है कि उनके अतुकान्त छन्द उन्हें प्रयोगवादियों से भिन्न बनाये रहे। दिनकर की प्रारम्भिक कृतियों में भी कहीं-कहीं अतुकान्त छंदों की झलक मिल जाती है। 'रेणुका' की 'याचना' 'हुंकार' की 'कल्पना की दिशा' तथा 'रसवन्ती' की मरण कविताओं में अतुकान्त छंदों की प्रवृत्ति देखी जा सकती है। 'नीलकुसुम' में संग्रहीत 'स्वप्न और सत्य,' 'भावी पीढ़ी' में 'नर्तकी' और 'गृह रचना' तथा 'परशुराम की प्रतीक्षा', में संग्रहीत 'पाद टिप्पणी', 'शांतिवादी', 'इतिहास का न्याय,' 'एक बार फिर स्वर दो' एवं 'तब भी आता हूँ मैं' कवितायें अतुकान्त छंद के उदाहरण हैं। 'कोयला और कवित्व', में तेरह कवितायें अतुकांत छंद में लिखी गई हैं। जिनमें 'आज शाम को', 'कवि', 'बोरिसपास्टरनेक', 'समुद्र, अपनी कविताओं के बीच, 'मौक्तिकी', 'भविष्य,' 'विज्ञान,' 'शमशान', 'गाँधी, 'आँसू,' 'स्मृति', तथा 'कोयला और कवित्व' हैं।

'बापू' संग्रह में संग्रहीत 'अघटन घटना,' क्या समाधान काव्य अतुकान्त छंद में ही लिखा गया है।

प्रबन्धों में 'कुरुक्षेत्र' में तथा 'उर्वशी' में अतुकान्त छन्दों का प्रयोग हुआ है। 'कुरुक्षेत्र का प्रारंभ ही अतुकांत छन्द में किया गया है। जो प्रथम सर्ग में लगभग आधे सर्ग तक चलता है। इसी प्रकार षष्ठ-सर्ग में भी अतुकांत छंद का प्रयोग हुआ है। 'उर्वशी' के तृतीय अंक में अतुकांत छंद का प्रयोग दृष्टव्य है।

कुछ उदाहरण दृष्टव्य हैं—

(अ) "यह कौन रोता है वहाँ—
इतिहास के अध्याय पर,

जिसमे लिखा है, नौजवानो के लहू का मोल है
प्रत्यय किसी बूढे, कुटिल नीतिज्ञ के व्यवहार का;
जिसका हृदय उतना मलिन जितना कि शीर्ष वलक्ष है;
जो आप तो लड़ता नही,
कटवा किशोरो को मगर,
आश्वस्त होकर सोचता है,
शोणित बहा, लेकिन, गई बच लाज सारे देश की।"[1]

(आ) "यह तुम्हारी कल्पना है, प्यार कर लो।
रूपसी नारी प्रकृति का चित्र है सबसे मनोहर।
ओ गगन चारी ! यहाँ मधुमास छाया है।
भूमि पर उतरो,
कमल, कर्पूर, कुकुम से, कुञ्ज से,
इस अतुल सौन्दर्य का शृंगार कर लो।"[2]

प्रस्तुत उदाहरणों की विशेषता यह है कि अतुकात छद मे होते हुए भी कही भी भावो की गति-भग नही होती है। छदो-बद्ध कविता की भाँति ही कवि युधिष्ठिर की वेदना एव उर्वशी के सौन्दर्य-पक्ष को प्रस्तुत कर सका है।

उर्वशी के पश्चात् कवि मे इस प्रकार की मुक्त छंद-योजना की प्रवृत्ति का विकास दिखाई देता है। 'नील कुसुम' एव 'कोयला और कवित्व', एवं 'परशुराम की प्रतीक्षा' आदि संग्रहों मे ऐसी अतुकात पदो मे लिखित मुक्तक रचनाएँ संकलित है। उदाहरणार्थ—

(अ) "रोम-कूपों से उठी संगीत की झंकार;
नाव-सी कोई लगा लेने रुधिर मे।
तीर पर सूखा खडा यह वृक्ष अकुलाने लगा फिर
स्पर्श की सजीवनी, हरियालियों के ज्वार से।"[3]

(आ) "वह मनुष्य मर गया;
शेष जो, है, लक्ष्मी का नया जार है।
गीत उसे क्या,
जो कुबेर-पद पाने का उम्मीद वार है।"[4]

---

१. कुरुक्षेत्र, प्र० स० : पृ० १।
२. उर्वशी, तृ० अं० : पृ० ४७।
३. कोयला और कवित्व, (नारी और पेड़) : पृ० २२।
४. नीलकुसुम, (कांटों का गीत) : पृ० ७५।

(६) "यहाँ भी सुनो, यहीं आवाज है,
भारत में आज, बस, जीभ का स्वराज्य है।
और मंत्री भी न अप्रमुग है।
एक कैबिनेट के अनेक यहाँ मुख है।"[1]

प्रस्तुत उदाहरणों में प्रथम प्रेम के कारण उत्पन्न गुदगुदाहट है। द्वितीय में आज के मनुष्य का लोभी एवं स्वार्थी रूप का अंकन है तथा तृतीय में जनतंत्र में व्याप्त भ्रष्टाचार को वाणी मिली है। अतुकांत कविता होते हुए भी काव्यानंद में कहीं भी अवरोध उत्पन्न नहीं होता। यही कवि की सफलता को प्रस्तुत करते हैं।

निष्कर्षतः यह स्पष्ट होता है कि नवीन अतुकांत छंदों में भी कवि भावों को विघटित नहीं होने देता।

गीत-योजना

गीति काव्य के लक्षण :—साहित्य में प्रायः गेय काव्यों को 'गीतिकाव्य' की कोटि में माना गया है। इस प्रकार के काव्यों में भावों की कोमलता एवं रसोद्रेक की प्रबलता होती है। महादेवी वर्मा ने सुख दुःख की भावावेशमयी अवस्था विशेष के गिने चुने शब्दों में स्वर साधना के उपयुक्त, चित्रण करने को गीत कहा है।[2] भावार्थ यह है कि स्वर के साथ ताल और लय का होना अनिवार्य है। जब काव्य गीत्यात्मकता प्राप्त कर लेता है तब वह गीति-काव्य की कोटि में आ जाता है। गीतिकाव्य में कवि की रागात्मक अनुभूति का प्रमुखतः अभिव्यक्तिकरण होता है। कवि गीतिकाव्य के माध्यम से अपने व्यक्तिपरक सुख-दुख हर्ष-विषाद, प्रेम-कलह तथा क्षोभ-क्रोध को व्यक्त करता है। कवि की रागात्मकता जितनी तीव्र होगी उसका गीत उतना ही प्रभावोत्पादक होगा। गीति-काव्य के अन्तर्गत उसके गुणों के रूप में कवि की वैयक्तिकता, आवेग दीप्ति, हार्दिकता, रागात्मक अन्विति संगीतात्मकता और प्रवाह आवश्यक गुण हैं।

गीति-काव्य का विकास मूलतः लोकगीतों से माना गया है। आधुनिक गीति-काव्यों को पश्चिम से आया हुआ रूप माना जाता है। जिसे पाश्चात्य 'लीरिक' के पर्यायवाची के रूप में हमारे यहाँ स्वीकार किया गया है।

(१) गीति-काव्य की रचना के विधान में स्वच्छंदता उसका आवश्यक लक्षण माना गया है। आधुनिक गीतिकाव्यों में विशेष रूप से संक्षिप्तता, आत्मपरकता, गहन संवेदना का महत्व स्वीकृत करते हुए एक ही अनुभूति को केन्द्र बिन्दु माना गया है। इन विशेषताओं के साथ-साथ गेयता भी उसका एक लक्षण माना गया है।

१. परशुराम की प्रतीक्षा, (एनार्की) : पृ० ६६।
२. महादेवी वर्मा, यामा (अपनी बात) : पृ० ७।

गीति-काव्य के अनेक भेद किए गये हैं—जिनमें संबोध गीत, शोक गीत, राष्ट्र-गीत, शृंगार गीत आदि प्रमुख हैं। इन भेदों के और भी उपभेद किए जा सकते हैं।

यह सत्य है कि गीतों के अन्तर्गत कवि की वैयक्तिक भावनाएं प्रमुख रहती हैं, परन्तु इन भावनाओं का अभिव्यक्तिकरण कवि जिस सरसता से करता है वह श्रवण या वांचन करने से पाठक या श्रोता को जो आनन्द प्रदान करता है वह अमिट छाप छोड़ जाता है। पाठक या श्रोता कवि की रागात्मकता में ऐसा निमग्न हो जाता है कि वह काव्य में निहित राग तत्त्व को अपने जीवन से सम्बन्धित होने की कल्पना करने लगता है। जिस कवि के भाव जितने मुक्त भोगी और तीव्र होंगे, उसका गीत उतना ही सरस और प्रभावोत्पादक होगा। और उसका काव्य-साहित्य गीतों के कारण सरसता का वहन कर सकेगा। प्रायः काव्यों में विशेषकर मुक्तकों में गीति-काव्यों की सरसता विशेष होती है। जहां प्रबन्ध विषय प्रधान न होकर विषयी प्रधान होते हैं वहां वे मुक्त गीतों का आनन्द देते हैं। छायावाद की रचनाओं में इस तत्त्व की प्रधानता होने से काव्य विशेष सरस बन सके हैं।

गीतों में संगीत का बड़ा ही महत्व है। संगीतात्मकता के समावेश के कारण कविता प्रभविष्णुता प्राप्त करती है। प्राचीन साहित्य के विद्यापति सूर और मीरा के भजन इसके प्रमाण हैं। संगीत का कविता के साथ घनिष्ट सम्बन्ध माना गया है संगीत कविता को लालित्य प्रदान करता है और कविता संगीत को स्पष्टता और सुबोधता के लिए सहारा देती है। शब्द मन पर मूर्तियाँ अंकित करता है और संगीत भावनायें। वैसे तो कविता में प्रयुक्त छन्द, अलंकार, रीति उसे कर्ण प्रिय बनाते ही हैं, परन्तु संगीत से वह और भी रोचक और मधुर बन पाती है। क्योंकि संगीत में निहितनाद-सौन्दर्य के योग से कविता का प्रभाव शत गुना हो जाता है। काव्य को जब ललित कण्ठ और वाद्य यन्त्र का सहयोग तथा नृत्य की ध्वनि प्राप्त होती है तब वह पूर्ण भावनाओं से प्रगट होने लगता है। कहने का तात्पर्य यह कि शब्द, लय, और तान गीत को प्रभावशाली बना देते हैं। वास्तव में मूल आनन्द के नाते कविता व संगीत एक ही है।

पाश्चात्य समीक्षा में भी गीतिकाव्य की विशेषताओं के अन्तर्गत संगीतात्मकता को प्रथम स्थान दिया गया है। प्रारम्भ में तो गेयता ही गीति-काव्य का एक-मात्र लक्षण था।

इस विवेचना के आधार पर यह कहना योग्य ही है कि गीतिकाव्य में अन्तर्निहित संगीतात्मकता और तीव्र अनुभूति पूर्ण स्वानुभूति मूलकता ये ही दो तात्विक लक्षण है। जो उसकी आत्मा कहे जा सकते हैं।

दिनकर के काव्यों में गीत :

कवि दिनकर जी के गीतों का विभाजन मुख्य रूप से इस प्रकार किया जा सकता है—

१. ओज गीत ।
२. शृंगार गीत ।
३. प्रगतिवादी गीत ।

ओज गीत :—दिनकर का युग वह युग था जिसमे अशाति, अव्यवस्था, अस्थिरता फैली हुई थी । कवि व्यक्तिगत रूप मे इन परिस्थितियों मे गुज़रा था । उसने जीवन में अनेक अभावों का सामना किया था । देश को स्वतन्त्र करने की भावनायें उसके हृदय में हिलोरें ले रही थीं । कवि ने इन्ही वैयक्तिक आवेशपूर्ण भावनाओं को अपने ओज गीतों में वाणी दी है ।

गीति-काव्य के लक्षणों मे आत्माभिव्यक्ति की तीव्रता के विषय मे चर्चा की जा चुकी है । यह तीव्रता और प्रबलता दिनकर के ओज गीतों मे विद्यमान है । कवि का ओज स्वर व्यक्ति की सीमाओं से निकलकर समष्टि के स्वरो मे विलीन हो जाता है । यद्यपि दिनकर ने अपने ओज गीतों द्वारा उपदेश और उद्बोधन भी व्यक्त किए हैं, परन्तु, इनकी विशेषता यह है कि वे कविता के भावात्मक पक्ष की हानि नही करते । इन ओज गीतों में कल्पना और बुद्धित्व भावनाओं के सहायक रूप मे ही प्रयुक्त हुए हैं । दिनकर के ओज गीतों के आलम्बन विविध प्रकार के हैं । परन्तु दिनकर का मन क्राति और विप्लव मे ही रमता है । ओज गीत के अन्तर्गत कवि ने देश की राष्ट्रीयता को वाणी दी है, जिसमे प्रशस्तिगीत, वन्दना गीत, जागरण गीत, अभियान गीत आदि मुख्य हैं जिनका वर्णन और उदाहरण दिनकर के काव्यों में राष्ट्रीयता शीर्षक के अन्तर्गत किया जा चुका है । 'हुँकार', 'सामधेनी', 'परशुराम की प्रतीक्षा' उनके राष्ट्रीय ओजपूर्ण गीतों की परिचायक कृतियां हैं ।

शृंगार गीत :

दिनकर के दूसरे प्रकार के वे गीत हैं जिनमे प्रेम और शृंगार की भावनायें ध्वनित हैं । कवि के कथनानुसार उनका मन भी ऐसे ही गीतों मे रमता है । शृंगार-गीतों का सर्वाधिक प्रतिनिधित्व मुक्तक रचना 'रसवन्ती' मे तथा प्रबन्ध रचना 'उर्वशी' मे हुआ है । वैसे 'रेणुका' और 'नीलकुसुम' मे भी कवि की शृंगार प्रेरक रचनायें मिलती हैं । 'रसवन्ती' मे शृंगार गीतों की अभिव्यक्ति कवि ने कुछ सकोच से की है । परन्तु कुछ रचनायें ऐसी हैं कि जिनमे गीत रसाद्रता, स्निग्धता और गेयता का त्रिवेणी सगम हुआ है । 'गीत अगीत', 'बालिका से वधू', 'सगिनी जी भर गा न सका मैं', 'प्रीति', आदि उदाहरणरूप प्रस्तुत की जा सकती हैं । कवि ने गीतों मे जिस सुन्दर आलकारिक कल्पना को अपनाया है वह गीतों की विशिष्टता है । 'रसवन्ती' के गीत कविता पाठ के अनुकूल हैं और मधुरपदावली तथा लयपूर्ण सगीतात्मकता से बद्ध हैं । कवि ने छन्द भी उतनी मात्रा के प्रयुक्त किए हैं जो सगीत मे सरलता और उपयुक्तता से आबद्ध हो गए हैं ।

दिनकर के प्रबन्ध काव्यों में शृंगार गीतों की प्रधानता तो 'उर्वशी' में है। 'उर्वशी' में गीति नाट्य होने के कारण गीति तत्व सर्वत्र विद्यमान है। संगीतात्मकता की दृष्टि से इसके समूहगीत लिए जा सकते हैं जो अप्सराओं द्वारा गाए गए हैं।

'उर्वशी' मे कवि ने मात्रिक छन्दों का प्रयोग इस ढग से किया है कि उनमें गेयता आ गई है। कही लय और कही गति से छन्द में गीति का समावेश किया गया है और कही वर्तमान लय के साथ भी गीतों का प्रयोग हुआ है। 'उर्वशी' के शृंगारगीतो मे प्रकृति वर्णन का भी समावेश किया गया है। 'उर्वशी' मे निहित ऐसे गीत अत्यन्त सुन्दर हैं, जिनमे दृश्य और श्रव्य दोनो का ही आनन्द उपलब्ध होता है। परियों द्वारा गाए गए गीतों मे गीत और सगीतात्मकता दोनों का आनन्द छलकता है—

"फूलों की नाव बहाओ री, यह रात रुपहली आई।
फूटी सुधा-सलिल की धारा,
डूबा नभ का कूल-किनारा,
सजल चाँदनी की सुमन्द लहरो मे तैर नहाओ री।
यह रात रुपहली आई।"[1]

इसी प्रकार—

"हम गीतों के प्राण सघन,
छूम छनन्-छन्, छूम छनन।
वजा व्योम-वीणा के तार,
भरती हम नीली झंकार,
सिहर-सिहर उठता त्रिभुवन।
छूम छनन् छन्, छूम छनन।"[2]

तथा—"बरस रही मधुर धार गगन से, पी ले यह रस रे।
उमड़ रही जो विभा, उसे बढ़ बाहों मे कस रे।"[3]

ये तीनो समवेत गीत संगीतात्मकता और नाद सौन्दर्य से आप्लावित होने के कारण बड़े ही सुन्दर हैं जिनमें सौन्दर्य और शृंगार भरा हुआ है।

तृतीय सर्ग का प्रारम्भ बड़ा ही शृंगारिक और गीतात्मक है—

"जब से हम तुम मिले, न जाने कितने अभिसारों में,
रजनी कर शृंगार सितासित नभ में घूम चुकी है;
जाने, कितनी बार चन्द्रमा को बारी-बारी से,
प्रभा चुरा ले गई और फिर ज्योत्सना ले आई है।"[4]

१. उर्वशी, प्रथम अक : पृ० ८।
२. वही, वही : पृ० ९।
३. वही, वही : पृ० २६।
४. वही, तृतीय अक : पृ० ४०।

प्रगतिवादी गीत :

दिनकर के काव्यों में जिस प्रकार भाव, भाषा, छन्द और अलंकार में परिवर्तन काव्यों में पर्याप्त परिवर्तन दृष्टिगत होता है उसी भांति उनके गीतों में भी परिवर्तन देखा जा सकता है। 'नीम के पत्ते', 'नीलकुसुम' में सग्रहीत रचनायें उनके प्रगतिवादी गीतों की परिचायक हैं जिनमें व्यंग-गीतों को भी स्थान मिला है।

'नीलकुसुम' की 'व्यालविजय', 'सबसे बड़ी आवाज', 'ये गान बहुत रोये', 'नई आवाज', 'कोयले का गीत', 'किसको नमन करूँ', सोहे के पेड़ हरे होंगे' ऐसे ही गीतों के उदाहरण रूप प्रस्तुत किये जा सकते हैं।

कवि ने व्यंग-गीत भी लिखे हैं जिसके अन्तर्गत 'दिल्ली' काव्य का समावेश किया जा सकता है तथा 'नीम के पत्ते' में सग्रहीत 'पहली वर्षगांठ' रचना का समावेश किया जा सकता है।

निष्कर्ष रूप हम यह कह सकते हैं कि मूलतः कवि होने के कारण उनके काव्यों में गीतात्मकता तो है ही। दिनकर के ओजगीत जितने हृदयस्पर्शी हैं मेरी दृष्टि से शृंगार गीत उतने नहीं हैं। शृंगार गीतों का जो सौन्दर्य, नाद और संगीतात्मकता छायावादी कवियों में और विशेषकर पंत में परिलक्षित है—उसकी तुलना में दिनकर के शृंगार गीत किन्हीं अर्थों में पीछे रहते हैं। आधुनिक शृंगार गीतकारों में भी उनका स्थान बच्चन, नीरज के साथ रखने में किंचित संकोच तो होता ही है। परन्तु उनके ओज गीत जिस प्रभविष्णुता से फूटे हैं उनकी तुलना में अन्य राष्ट्रीय कवियों के गीत भी पीछे ही रहते हैं।

उपसंहार

सम्पूर्ण अध्ययन से यह स्पष्ट हो जाता है कि दिनकर, छायावादोत्तर कवियों की प्रथम पंक्ति में बैठने के अधिकारी हैं। कवि की रचनाओं में, भारतीय जनता में स्वतन्त्रता के लिए उद्बुद्ध नवीन चेतना एवं बलिदान भावना को वाणी मिली है। देश के लिए हँस-हँस कर शहीद होने वाले देशभक्तों के प्रति कवि की श्रद्धांजलि ही जैसे उसकी काव्य-साधना का अंग बन गई। देश के सुप्त सिंहों को जागृत करने के लिए, पराधीनता एवं शोषण से मुक्ति दिलाने के लिए, वह क्रान्ति-कुमारी को जगाता रहा। दिनकर का राष्ट्रीय काव्य इस तथ्य का प्रमाण है कि कवि अपनी व्यक्तिगत भावनाओं में अधिक राष्ट्र की समष्टिगत भावनाओं को मूर्तरूप प्रदान करता रहा। कवि की आसक्तता सदैव उसे राष्ट्रीयता की ओर अग्रसर होने के लिए निरन्तर प्रेरित करती रही। यही कारण है कि कवि सदैव यह मानता रहा कि छायावाद के युग में कविता की प्रतिष्ठा राष्ट्रीय कविताओं के कारण ही रही।

दिनकर की रचनाओं का राष्ट्रीय स्वर साहित्य में वैसा ही उग्र है जैसा कि राजनीति के क्षेत्र में क्रान्तिकारियों का था। कवि की भावना इसी कारण से, स्वतंत्रता-

संग्राम के वीर शहीद भगतसिंह जैसों के पक्ष मे रही। तत्कालीन राजनीति पर छाये हुए गांधी जैसे शांतिवादियो का वह कभी समर्थन नही कर सका। कवि क्रांति वीरों की भांति युग-चारण बन कर अपने कवि-कर्म से मातृ-भूमि के ऋण को अदा करने मे संलग्न रहा। दिनकर समय-पुत्र के रूप मे विशेष उल्लेखनीय हैं। समय की गति के अनुसार उनका काव्य अंगारों से दहकता रहा। कवि के ही शब्दों में कहें तो— "जागृत-युग के स्वप्न फूलो से नही, चिनगारियो से सजाये जाते है। केवल कारीगर इस युग के तूफ़ान को बाधने मे असमर्थ है। अभिनव सरस्वती अपने को धुएँ और धूल की रूक्षता से बचा नही सकती। वर्तमान-युग का सच्चा प्रतिनिधित्व करने के लिए हमे इसकी अधिक से अधिक गर्मी को आत्मसात करना होगा कि हम इसकी अनुभूतियों के शिखर-प्रदेश पर खड़े हो सकें। कारीगर के लिए यह आवश्यक न भी हो, लेकिन जिसने अपने समय का प्रतिनिधित्व करने के मनसूबे बाधे है, उसे तो इसके प्रवाहों का निर्भीक होकर आलिंगन करना होगा।"[१]

क्रांति और ध्वस के ऐसे स्वर जिनमे सर्वत्र हिंसात्मक भावनाओं का प्राधान्य रहा, जिनकी अभिव्यक्ति प्रारम्भिक कृतियाँ, 'रेणुका', 'हुंकार', सामधेनी' आदि में दृष्टव्य है। परन्तु द्वितीय-विश्वयुद्ध का संहार एवं निष्फलता, एवं गाधी-नीति की अपेक्षित सफलता से कवि जैसे स्वयं अपनी क्रांति-भावनाओ के प्रति आशंकित होने लगता है। युद्ध ही समस्त समस्याओं के निराकरण का उपाय है—इस दृढ मान्यता मे वह पूर्ण आस्थावान नही रह पाता। परिणामस्वरूप युद्ध के स्थान पर शांति के पक्ष पर विचार करने लगता है। 'कुरुक्षेत्र' मे प्रारम्भ से ही युद्ध का समर्थक, मगर अब शांति को स्वीकार करने वाला कवि द्वन्द्व का अनुभव करता है। अन्ततोगत्वा तो विजय शाँति की ही होती है। परन्तु इस सदर्भ में भी यही तथ्य स्पष्ट होता है कि कवि दिनकर का शांति-स्वीकार, परास्त व्यक्ति का शांति-स्वीकार नही है, अपितु शांति का वह रूप ही स्वीकृत है जहाँ समस्त समाज में समभाव एवं सहकार की भावनाएँ उत्पन्न हो। कवि शांति के समर्थन के साथ अन्याय एवं अत्याचार के निर्मूलन-हेतु युद्ध भावना से किए गए प्रतिकार-स्वरूप युद्ध का समर्थक तो बना ही रहता है। यही कारण है कि 'उर्वशी' के शृंगार का कवि चीनी आक्रमण के समय सारे शांति और अन्तर्राष्ट्रीयता के सिद्धान्तों की उपेक्षा कर, देश की रक्षा के लिए युद्ध को ही सर्वोपरि घोषित करता है। युद्ध के उपरान्त शांति-काल मे भी राष्ट्र में व्याप्त भ्रष्टाचार एव शोषण के प्रति वह सदैव जागरूक रहकर राष्ट्रीय दायित्व को समझकर अपना आक्रोश प्रकट करता रहता है।

दिनकर के काव्यो में निहित राष्ट्रीय-भावनाओ के अध्ययन से यह कहना अनुचित नही है, बल्कि सत्य है कि मैथिलीशरण गुप्त के पश्चात् दिनकर ही राष्ट्रीय-कवि के गौरवान्वित पद को सुशोभित करने की क्षमता रखते हैं। स्वतन्त्रता संग्राम-काल में जिस प्रकार मैथिलीशरण गुप्त ने अपनी प्रसिद्ध कृति 'भारत-भारती' से देश-

१. मिट्टी की ओर : पृ० ६६।

असम्मतता भी दर्शनीय है, परन्तु ऐसे दोष, नगण्य ही हैं। वस्तुतः दिनकर की भाषा भावों की कुशल वाहिका है, एवं स्पष्टता उसकी सार्थकता है।

अच्छे कवि की वाणी में अलंकार नैसर्गिक रूप में विद्यमान रहते हैं। दिनकर का काव्य इसका प्रमाण है। उनकी रचनाओं में शब्दालंकार एवं अर्थालंकार प्रयुक्त हुए हैं, किन्तु ऐसा प्रतीत नहीं होता कि कवि ने जानबूझ कर उनकी योजना की है। उपमा, रूपक, उत्प्रेक्षा आदि अभिव्यक्ति को सुन्दर बनाने के लिए उनके काव्य में सर्वत्र सुलभ है। कवि ने कहीं सप्रयास अलंकारों का प्रणयन किया हो अथवा प्रदर्शन किया हो ऐसा कहीं प्रतीत नहीं होता। नवीन प्रगतिवादी एवं प्रयोगवादी रचनाओं में कवि ने अलंकारों के नवीन प्रयोग भी किए हैं।

अधि निबंध में दिनकर की काव्य-कला का विवेचन करते समय हमने उनकी छंद योजना का भी सम्यक् अनुशीलन किया है। इस अनुशीलन के परिणाम स्वरूप हम इस निष्कर्ष पर पहुंचे हैं कि कवि ने वर्णिक छंदों के कवित्त, सवैया तथा मात्रिक छंदों के सार, ताटंक, पद्धरि, राधिका रूप माला आदि छंदों के वजन को अपनाया है।

कवि ने कहीं भी पूर्णतया इन छंदों के शास्त्रोक्त यति-गति आदि के नियमों का पालन करने की आवश्यकता नहीं समझी। उनकी अनुभूति इन अर्गलाओं की अवहेलना करके मुक्त रूप में प्रवाहित हुई है। उनकी अनेक रचनाएँ अछन्दस् भी हैं। अतः दिनकर की कविता में जो लोग परम्परागत छंद ढूँढते हैं, और उन कविताओं पर विविध छंदों के लेबिल लगाते हैं, वे आलोचक कवि के सम्बन्ध में तो भ्रांतियाँ उत्पन्न करते ही हैं आलोचक के धर्म का भी सुचारू रूप से निर्वाह नहीं करते।

दिनकर के काव्यों में गीति योजना के अन्तर्गत कवि की वैयक्तिक अनुभूतियाँ, ओजगीत एवं शृंगार-गीतों में जिस सुन्दर रूप से अभिव्यक्त हुई हैं वे सराहनीय हैं।

दिनकर ने अपने काव्यों को विविध विषयों एवं विचार-धाराओं से जिस तरह सजाया एवं सवारा है वह कवि की सफलता का चिन्ह है। प्रायः उसने समस्त युगीन प्रवाहों को अपनी वाणी में गूँथ लिया है। कवि ने ऐतिहासिक एवं पौराणिक कथानकों के माध्यम से युग की समस्याओं को प्रस्तुत किया है। यह कवि की ही विशिष्टता है कि वह प्राचीन कथानकों के माध्यम से युद्ध जैसी ज्वलत, एवं काम जैसी गंभीर युगीन समस्या को नवीन रूप में प्रस्तुत कर, उसका समाधान ढूंढने का प्रयास कर सका। विषयों के प्रस्तुतीकरण में कवि का यथार्थवादी रूप ही सर्वत्र निश्चित हुआ है। विविध विषयों के अन्तर्गत कवि की श्रद्धा भारतीय आदर्श के साथ ही रही, यह कवि की सांस्कृतिक एवं भारतीय आदर्श की आस्था का परिचायक रूप ही है।

दिनकर के काव्य में निहित सौन्दर्य के साथ-साथ कुछ दुर्बलताएँ भी स्वतः ध्यान आकर्षित करती हैं। सर्वप्रथम कवि युद्ध और काम जैसी समस्याओं का विवेचन पौराणिक विषय एवं पात्रों के माध्यम से व्यक्त करता है, परन्तु उसके पात्र समस्या के विवेचन एवं समाधान में इतने खो जाते हैं कि उनका चारित्रिक सौन्दर्य दब-सा जाता है। उदाहरणार्थ 'कुरुक्षेत्र' के युधिष्ठिर और भीष्म की चारित्रिक गरिमा युद्ध की समस्या एवं समाधान में ही अटक कर रह जाती है। इसी प्रकार 'उर्वशी' के प्रेमी युगल प्रेमी के स्थान पर प्रेम के व्याख्याता ही बनकर रह जाते हैं।

इसी प्रकार प्रबंध-रचना का मोह उसने अवश्य पूरा किया परन्तु उसके शिल्पगत सौन्दर्य एवं नियमों का पालन स्वस्थता से नही कर सका, और न ही उसके प्रबंध किसी नावीन्य के दिशासूचक बन सके। 'कुरुक्षेत्र' तो जैसे समस्या का ही केन्द्र बन गया है। 'रश्मिरथी' द्विवेदी युगीन इतिवृत्तात्मकता की शृंखला की ही एक कड़ी है। 'उर्वशी' अवश्य सफल गीति-नाट्य के रूप मे प्रस्तुत है। तीसरे कवि की कृतियों में द्वन्द्व-भाव अधिक उभरे हैं। कवि के सौन्दर्य एवं कर्त्तव्य, आस्था और अनास्था, प्रवृत्ति और निवृत्ति, जीवन और मृत्यु साथ ही काम जैसी भावनाओ के विवेचन मे भारतीय एवं पाश्चात्य दृष्टिकोण का द्वन्द्व आदि उदाहरण स्वरूप प्रस्तुत किए जा सकते हैं। 'मृत्तितिलक', के पश्चात् कवि की मौलिक, एवं 'आत्मा की आँखें' के पश्चात् अनूदित रचनाओ का भी कोई सकलन प्रकाशित नही हुआ। विविध पत्र-पत्रिकाओं में कवि की नवीन युग-बोध से युक्त रचनाएँ पढ़ने को मिली। आशा है शीघ्र ही कवि को इन फुटकल रचनाओं का संकलन प्रकाशित होगा जो कवि के नए रूप को ही प्रस्तुत करेगा जिसमे कवि के साथ युगांकन भी होगा। कवि ने स्वयं यह आस्था व्यक्त की है कि अभी तक उसके मन की रचना लिखी ही नही गई। इससे हम यही आशा कर सकते है कि कवि अपनी प्रवृत्ति के अनुसार अवश्य कोई ऐसी रचना प्रस्तुत करेगा जो काव्य-जगत् में नई क्रांति उत्पन्न करेगी एवं कला के नए क्षितिज खोलेगी; जिसका मूल्यांकन भविष्य ही कर सकेगा।

समग्र दिनकर-काव्य के अध्ययन के पश्चात् कतिपय भाव ऐसे भी लगे हैं जो किसी भी अध्येता के लिए प्रश्न चिन्ह बन सकते है। यथा—

'चक्रवाल' की भूमिका मे कवि ने लिखा है कि प्रतिष्ठा उसे 'रेणुका' और 'हुंकार' से मिली परन्तु मन सदा 'रसवन्ती' मे रमा रहा। परन्तु कृतियों के अध्ययन के पश्चात् सर्वत्र उनका राष्ट्रीय स्वर ही विशेष सशक्त लगता है। 'रसवन्ती' के पश्चात् कवि ने राष्ट्रीय भावनाओ से ओत-प्रोत रचनाएँ ही लिखी और 'उर्वशी' के पश्चात् 'नीम के पत्ते,' मृत्ति-तिलक' आदि में भी राष्ट्रीय स्वर ही प्रधान है तथा 'परशुराम की प्रतीक्षा' तो 'हुंकार' कालीन वातावरण ही प्रस्तुत करती है। फिर कवि के उपरोक्त विधान को क्या कहा जाये ?

चीन और पाकिस्तान के आक्रमण के पश्चात् 'परशुराम की प्रतीक्षा' रचना यह प्रश्न उपस्थित करती है कि कवि द्वारा 'राष्ट्र-देवता का विसर्जन' और राष्ट्रीयता को पशु-धर्म कहना क्या असामयिक नही था ?

इस प्रकार के अल्प शैथिल्य एवं प्रश्नो के बावजूद, समस्त दिनकर-काव्य साहित्य के अध्ययन से अन्ततः लगता है कि विषय और कला की दृष्टि से वैविध्य और विविधताओं का जितना सशक्त निर्वाह दिनकर की काव्य-कृतियो मे उपलब्ध है, उतना तद्युगीन कवियों की रचनाओ मे दुर्लभ है।

हिन्दी साहित्य के इतिहास मे दिनकर का नाम क्रांति, युद्ध और प्रेम के कवि के रूप मे अमर रहेगा ही। 'उर्वशी' का शिल्प-सामर्थ्य उसके कलाकार रूप को द्विगुणित बनाता रहेगा।

परिशिष्ट

परिशिष्ट—१ "दिनकर की काव्य कृतियः का सूची"

१. प्रणभंग
२. रेणुका
३. हुंकार
४. रसवन्ती
५. द्वन्द्वगीत
६. कुरुक्षेत्र
७. सामधेनी
८. बापू
९ इतिहास के आँसू
१०. रश्मिरथी
११ धूप और धुँआ
१२. दिल्ली
१३. नीम के पत्ते
१४. नीलकुसुम
१५. चक्रवाल
१६. कविश्री
१७. सीपी और शख
१८. नये सुभाषित
१९ उर्वशी
२० परशुराम की प्रतीक्षा
२१ कोयला और कवित्व
२२ मृत्ति-तिलक
२३. आत्मा की आँखें

परिशिष्ट—२ 'संदर्भ-ग्रन्थ सूची'

(अ) हिन्दी ग्रन्थ

१. अर्धनारीश्वर	रामधारी सिंह 'दिनकर'
२ आधुनिक काव्य-धारा	डा० केसरीनारायण शुक्ल
३. आधुनिक हिन्दी कविता की स्वच्छन्द-धारा	त्रिभुवन सिंह
४. आधुनिक हिन्दी कविता मे प्रेम और सौन्दर्य	रामेश्वरलाल खंडेलवाल
५. आधुनिक साहित्य	आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी
६. कवि और काव्य	शान्तिप्रिय द्विवेदी
७. काव्य की भूमिका	रामधारी सिंह 'दिनकर'
८. कांग्रेस का संक्षिप्त इतिहास	डा० पट्टाभि सीतारामैया
९. काव्य के रूप	बाबू गुलाबराय एम० ए०
१०. कुरुक्षेत्र मीमांसा	कान्तीमोहन शर्मा एम० ए०
११. कुमकुम	बालकृष्ण शर्मा 'नवीन'
१२. दिनकर	प्रो० शिवबालकराय एम० ए०
१३. दिनकर और उनकी काव्य प्रवृत्तियाँ	प्रो० कपिल एम० ए०
१४ दिनकर और उनकी काव्य कृतियाँ	पंडित शिवचन्द्र शर्मा
१५ दिनकर की काव्य साधना	मुरलीधर श्रीवास्तव एम० ए०
१६. दिनकर के काव्य	त्रिपाठी लालधर 'प्रवासी'
१७ दिनकर · सृष्टि और दृष्टि	सं० गोपालप्रसाद कौल
१८ दिनकर	सं० सावित्री सिन्हा
१९. दिनकर और उनकी उर्वशी	देशराज भाटी

२०. दिनकर : व्यक्तित्व एवं कृतित्व	श्रीमती एस० के० पद्मावती एम० ए०
२१. दिनकर एक पुनर्मूल्यांकन	प्रो० विजेन्द्रनारायण सिंह
२२. दिनकर और उनकी कृतियां	प्रो० देवेन्द्र शर्मा
२३. नया हिन्दी-काव्य	डा० शिवकुमार मिश्र
२४. पंत, प्रसाद और मैथिलीशरण	रामधारीसिंह 'दिनकर'
२५. पृथ्वीराज रासो	चन्दवरदाई
२६. बापू	सियारामशरण गुप्त
२७. बिहार की काव्य-साधना	मुरलीधर श्रीवास्तव
२८. भारत की मौलिक एकता	वासुदेवशरण अग्रवाल
२९. भारत के राष्ट्रीय आन्दोलन व संविधान का विकास	आर० एल० भाटिया-योगेन्द्र मलिक
३०. भारत-भारती	मैथिलीशरण गुप्त
३१. भारतेन्दु नाटकावली	सं० श्यामसुन्दरदास
३२. भारतेन्दु हरिश्चन्द्र	लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय
३३. भारतीय संस्कृति और उसका साहित्य	सत्यकेतु विद्यालंकार
३४. महाभारत	चक्रवर्ती राजगोपालाचारी
३५. महाकवि दिनकर उर्वशी तथा अन्य कृतियां	डा० विमलकुमार जैन
३६. मिट्टी की ओर	रामधारीसिंह 'दिनकर'
३७. मुकुल	सुभद्राकुमारी चौहान
३८. मैथिलीशरण गुप्त : व्यक्तित्व और काव्य	कमलाकान्त पाठक
३९. युगचारण दिनकर	सावित्री सिन्हा
४०. युगकवि दिनकर	मुरलीधर श्रीवास्तव
४१ राष्ट्रभाषा और राष्ट्रीय एकता	रामधारीसिंह 'दिनकर'
४२. रामधारी सिंह 'दिनकर'	मन्मथनाथ गुप्त
४३. राष्ट्रीय आन्दोलन का इतिहास	मन्मथनाथ गुप्त
४४. राष्ट्र-भारती : प्र० सं० :	रामचरित उपाध्याय
४५ राष्ट्रीय मंत्र	गयाप्रसाद शुक्ल 'सनेही'
४६. रेती के फूल	रामधारीसिंह 'दिनकर'
४७. विचार और विश्लेषण	डा० नगेन्द्र
४८. विचार और विवेचन	डा० नगेन्द्र
४९. विचार और अनुभूति	डा० नगेन्द्र
५०. विश्व इतिहास की झलक	पंडित जवाहरलाल नेहरू
५१. वीर-काव्य	उदयनारायण तिवारी
५२. शुद्ध कविता	रामधारीसिंह 'दिनकर'
५३. संस्कृति के चार अध्याय	रामधारीसिंह 'दिनकर'
५४. स्वाधीनता और राष्ट्रीय साहित्य	डा० रामविलास शर्मा
५५. स्वदेश संगीत	मैथिलीशरण गुप्त
५६ हमारी सांस्कृतिक एकता	रामधारीसिंह 'दिनकर'

५७. हमारे साहित्य निर्माता — शान्तिप्रिय द्विवेदी
५८. हल्दीघाटी — श्यामनारायण पाण्डेय
५९. हिन्दी साहित्य का इतिहास — डा० रामकुमार वर्मा
६०. हिन्दी साहित्य का संक्षिप्त इतिहास — आचार्य रामचन्द्र शुक्ल
६१. हिन्दी साहित्य का सुबोध इतिहास — गुलाबराय एम० ए०
६२. हिन्दी कविता में राष्ट्रीय भावना — विद्यानाथ गुप्त
६३. हिन्दी कवियों की काव्य साधना — सुरेशचन्द्र
६४. हिन्दी साहित्य युग और प्रवृत्तियाँ — प्रा० शिवकुमार शर्मा
६५. हिन्दी साहित्य की भूमिका — आ० हजारीप्रसाद द्विवेदी
६६. हिन्दी कविता में युगान्तर — प्रो० सुधीन्द्र
६७. हिन्दी साहित्य बीसवीं शताब्दी — आ० नन्ददुलारे वाजपेयी
६८. हिन्दी गीति काव्य — ओमप्रकाश अग्रवाल
६९. हिन्दी साहित्य के अस्सी वर्ष — शिवदान सिंह चौहान
७०. हिन्दी के अर्वाचीन रत्न — विमलकुमार जैन
७१. हिन्दुस्तान की कहानी — पंडित जवाहरलाल नेहरू
७२. हिन्दु संस्कृति में राष्ट्रवाद — राधाकुमुद मुकर्जी
७३. हिन्दू — मैथिलीशरण गुप्त
७४. हिम-किरीटिनी, हिम-तरंगिनी — माखनलाल चतुर्वेदी

(ब) पत्र-पत्रिकायें

१. आजकल
२. गांधी मार्ग
३. माधुरी
४. साहित्य
५. आलोचना
६. नागरी प्रचारिणी पत्रिका
७. कल्पना
८ ज्ञानोदय
९. विशाल भारत
१० सरस्वती
११. साहित्य संदेश
१२ नई धारा
१३. राष्ट्र भारती
१४ धर्मयुग

(क) अंग्रेजी ग्रन्थ

1. A History of Hindi Literature- —K. B. Jindal
2. Advance History of India —R. C. Majumdar
3. *Indian War of Independence* —V. D. Savarkar
4. India Wins Freedom —Abulkalam 'Azad'
5 Indian Struggle —Subhashchandra Bose
6 History of India —Ishwariprasad
7. Nationality in History —Herold Rose
8. Psychology of Sex —Havelock Ellis
9. Rise of Christian power in India —B. D. Vasu
10. Thoughts of Pakistan —Dr Ambedkar.

o